परिसंवाद [४]

जैन विद्या एवं प्राकृत



सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

१९८७

परिसंवाद [४]

जैनविद्या एवं प्राकृत

सम्पादक-मण्डल

प्रो. रामशङ्कर त्रिपाठी प्रो. लक्ष्मीनारायण तिवारी

डॉ. फूलचन्द्र जैन डॉ. पुरुषोत्तम पाठक

सम्पादक

डॉ. गोकुलचन्द्र जैन

अध्यक्ष, प्राकृत एवं जैनागम विभाग



पर्यवेक्षक : डॉ. भागीरथप्रसाद त्रिपाठी 'वागीश शास्त्री'

निदेशक, अनुसन्धान संस्थान

प्रकाशनाधिकारी : डॉ. हरिश्चन्द्रमणि त्रिपाठी

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

१९८७

अनुसन्धान प्रकाशन पर्यवेक्षक :—
निदेशक,
अनुसन्धान संस्थान
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी-२२१००२

प्रकाशक :—
डॉ० हरिश्चन्द्रमणि त्रिपाठी
प्रकाशनाधिकारी
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी-२२१००२

प्राप्तिस्थान—
विक्रयविभाग,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी—२२१००२

प्रथम संस्करण—५०० प्रतियाँ
मूल्य—५० = ०० रूपये

मुद्रकः—
तारा प्रिंटिंग वर्क्स,
कमच्छा, वाराणसी

PARISAṂVĀDA [4]

JAINAVIDYĀ EVAM PRAKRITA

BOARD OF EDITORS

Prof. Ramsankar Tripathi, Prof. Laxmi Narayan Tiwari

Dr. Phool Chandra Jain, Dr. Purusottam Pathak

EDITED BY

Dr. Gokul Chandra Jain

Head, Department of Prakrit & Jaināgama



SUPERVISOR

Dr. Bhāgīrath Prasāda Tripāthī 'Vagīśa Śāstrī'

Director, Research Institute

PUBLICATION OFFICER

Dr. Harischandra Maṇī Tripāthī

SAMPURNANAND SANSKRIT VISHVAVIDYALAYA, VARANASI

1987

Research Publication Supervisor
Director, Research Institute
Sampurnanand Sanskrit Vishvavidyalaya
Varanasi-221 002

Published by
Dr. Harishchandra Mani Tripathi
Publication Officer
Sampurnanand Sanskrit Vishvavidyalaya
Varanasi-221 002

Available at
Sales Department,
Sampurnanand Sanskrit Vishvavidyalaya
Varanasi-221 002

First Edition—500 Copies

Price—Rs. 50.00

Printed at
Tara Printing Works
Varanasi

सम्पादकीय

परिसंवाद ४ 'जैनविद्या एवं प्राकृत' मार्च १९८१ में प्राकृत एवं जैनागम विभाग द्वारा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के आर्थिक सहयोग से आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी की निष्पत्ति है। इस संगोष्ठी में स्थानीय तीनों विश्वविद्यालयों तथा उच्च शिक्षा संस्थानों के अतिरिक्त सुदूर दक्षिण से मैसूर, धारवाड़; राजस्थान से उदयपुर, जयपुर, जोधपुर, बीकानेर, लाडनूं; मध्यप्रदेश से इन्दौर, उज्जैन, जबलपुर, सागर, रीवा; बिहार से पटना, भागलपुर, वैशाली; उत्तरप्रदेश से लखनऊ, इलाहाबाद, कानपुर, आगरा, रुड़की, मेरठ; उड़ीसा से भुवनेश्वर तथा दिल्ली के विद्वान् सम्मिलित हुए। समागत विद्वानों में जैन और बौद्ध श्रमणधारा के पारम्परिक शास्त्रीय विद्वानों के साथ ही प्राचीन भारतीय इतिहास, कला, संस्कृति, पुरातत्व, धर्म, दर्शन, प्राकृत, पाली, अपभ्रंश भाषा और साहित्य, भाषाविज्ञान, समाजविज्ञान, मनोविज्ञान तथा आधुनिक विज्ञान के मनीषी विद्वान् शामिल थे। संगोष्ठी के संयोजक-निदेशक के रूप में प्रारम्भिक वक्तव्य में मैंने कहा था कि "जहाँ तक हमारी जानकारी है पिछले पचास वर्षों में काशी में प्राकृत एवं जैनविद्या पर विचार करने के लिए ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न शाखाओं के इतने विद्वानों का समागम प्रथम बार हो रहा है।"

गत संगोष्ठी और इस प्रकाशन के अन्तराल में प्राकृत एवं जैनागम विभाग द्वारा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के आर्थिक सहयोग से मार्च १९८७ में जैनविद्या और प्राकृत के अध्ययन की दिशा में राष्ट्रीय स्तर पर दो अन्य आयोजन सम्पन्न हुए— १. जैनविद्या एवं प्राकृत का अन्तरशास्त्रीय अध्ययन संगोष्ठी तथा २. 'प्राकृत अध्ययन पाठ्यक्रम अल्पावधि सत्र'। ये आयोजन पिछले लगभग तीन दशकों में भारत के विभिन्न अंचलों में जैनविद्या और प्राकृत पर आयोजित संगोष्ठियों, सम्मेलनों, शिविरों आदि में विद्वानों द्वारा अभिव्यक्त विचारों के परिप्रेक्ष्य में अग्रिम चरण हैं।

भारत की सांस्कृतिक राजधानी काशी में इस प्रकार के राष्ट्रीय आयोजनों की एक विशेष अर्थवत्ता है। परम्परागत शास्त्रीय अध्ययन के विद्याकेन्द्र सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय में ऐसे आयोजनों की निजी सार्थकता है। यह विश्वविद्यालय

अपने अधिनियम की धारा ७ के द्वारा "संस्कृत, पालि तथा प्राकृतविद्या के शिक्षण की व्यवस्था करने तथा अनुसन्धान कार्यों और ज्ञान की अभिवृद्धि एवं प्रसार की व्यवस्था करने" के लिए प्रतिश्रुत है। विश्वविद्यालय के इस गरिमामय व्यापक उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए मैंने अपने प्रारम्भिक वक्तव्य में कामना की थी कि "प्राच्यविद्या के ऐतिहासिक केन्द्र काशी के इस विश्वविद्यालय में आयोजित देश के विद्वान् मनीषियों की यह संगीति भारतीय संस्कृति के सामासिक स्वरूप का परिचय कराने की दिशा में सारे भारत की मनीषा का मार्गदर्शन करे।" परिसंवाद माला का प्रकाशन ऐसे आयोजनों की निष्पत्ति को जन-जन तक पहुँचाने का एक प्रशस्त उपक्रम है। इस भाग में १९८१ की संगोष्ठी के चुने हुए निबन्ध प्रस्तुत हैं।

विगत दशकों में जैनविद्या और प्राकृत के अध्ययन-अनुशीलन की ओर विद्वानों तथा नयी पीढ़ी का ध्यान विशेष रूपसे आकृष्ट हुआ है। यह अप्रत्याशित और अकारण नहीं है। इस आकर्षण का रोचक इतिहास है। इसके तर्कसंगत कारण हैं। यहाँ उनकी विस्तृत चर्चा का अवसर नहीं है, तथापि कतिपय बिन्दुओं की ओर हमारा ध्यान जाना आवश्यक है।

जैन श्रमणधारा का अवदान परिमाण में विशाल और इयत्ता में महनीय है। देश और काल की दृष्टि से यह व्यापक क्षेत्र तथा दीर्घकालावधि में व्याप्त है। उन्नीसवीं और बीसवीं शती में देश और विदेश के प्रबुद्ध विद्वानों के अनुसंधान कार्यों से अनेक नये पक्ष उद्घाटित हुए हैं। परिणाम स्वरूप यह अनुभव किया जाने लगा है कि जैन श्रमणधारा के इस अवदान का मूल्यांकन धर्म, दर्शन और साहित्य की परिसीमाओं में बंधकर नहीं किया जा सकता। नहीं किया जाना चाहिए। मानविकी, समाजविज्ञान तथा विज्ञान की विभिन्न शाखा-प्रशाखाओं के सन्दर्भ में इसका अध्ययन अपेक्षित है। यह भी भ्रम टूटा है कि जैनविद्या और प्राकृतों का अध्ययन किसी सम्प्रदाय विशेष तक सीमित है। इसी व्यापक अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए इधर के दशकों में भारतीय भाषाओं में 'जैनविद्या' और अंग्रेजी में जैनालॉजी शब्द का प्रयोग आरम्भ हुआ।

जैनविद्या और प्राकृत का अध्ययन भारतीय विद्या की एक महत्त्वपूर्ण शाखा के रूप में किया जाये, इसके लिए गत दो शताब्दियों से प्रयत्न किये जाते रहे हैं। इस दृष्टि से पाश्चात्य विद्वानों—विशेषकर जर्मन विद्वानों का कार्य विशेष महत्त्वपूर्ण है। डॉ० हरमन जैकोबी ने जैन श्रमण परम्परा के जो पक्ष उद्घाटित किये, उनसे

पहली बार पाश्चात्य जगत् ने इसका ऐतिहासिक महत्त्व स्वीकार किया। डॉ० रिचार्ड पिशेल ने प्राकृत भाषाओं का विशाल व्याकरण लिखकर यह स्पष्ट कर दिया कि 'प्राकृत' अनेक देश-भाषाओं के समूह का एक समुच्चय अभिधान है तथा विभिन्न प्राकृतों, अपभ्रंशों का विकास नव्य भारतीय भाषाओं के रूप में हुआ है। इस व्यापक परिप्रेक्ष्य में प्राकृत भाषाओं और साहित्य का अध्ययन किया जाना चाहिए।

भारत में 'आल इण्डिया ओरियंटल कान्फ्रेन्स' में 'प्राकृत एण्ड जैनिज्म' का एक स्वतन्त्र विभाग (सेक्शन) आरम्भ होने से जैनविद्या और प्राकृतों के अध्ययन को एक नयी दिशा और गति मिली। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में आयोजित कान्फ्रेन्स के अधिवेशन से प्रेरणा पाकर सन् १९४४ में काशी में भारतीय ज्ञानपीठ जैसी संस्था की स्थापना हुई। और सन् १९६८ में जब सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय में आल इंडिया ओरियेन्टल कान्फ्रेन्स का अधिवेशन हुआ तब अधिवेशन की पूर्व संध्या पर भारतीय ज्ञानपीठ की ओर से जैनविद्या पर एक संगोष्ठी का आयोजन किया गया। इसमें ज्ञानपीठ के संस्थापकों सहित प्रो० ए० एन० उपाध्ये जैसे अनेक वरिष्ठ विद्वान् सम्मिलित हुए। कान्फ्रेन्स के सन् १९६१ में श्रीनगर (जम्मू-कश्मीर) में सम्पन्न अधिवेशन से लेकर १९६९ में जादवपुर (पश्चिम बंगाल) में आयोजित रजत जयन्ती अधिवेशन तक जैनविद्या और प्राकृत के अध्ययन-अनुशीलन की ओर बढ़ते हुए आकर्षण को मैंने प्रत्यक्ष देखा है। गत वर्ष १९८६ में कलकत्ता अधिवेशन तक कान्फ्रेन्स के माध्यम से जैनविद्या और प्राकृत के प्रसार का जो परिदृश्य सामने आया है, उससे अब इसकी समीक्षा अपेक्षित हो गयी है।

भारतीय विश्वविद्यालयों में संस्कृत, पालि, प्राकृत के अध्ययन के सम्मिलित विभाग 'डिपार्टमेन्ट ऑव क्लासिकल लेंग्वेजेज' की स्थापना से संस्कृत के साथ पाली और प्राकृत का अध्ययन-अनुशीलन प्रारंभ हुआ। इस प्रकार संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश आदि प्राच्य भारतीय भाषाओं और साहित्य के व्यापक तथा सामासिक अध्ययन की प्रशस्त परम्परा चली।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद यह स्वाभाविक था कि भारतीय संस्कृति की इस विराट, दीर्घकालव्यापी और वैविध्यपूर्ण विरासत के अध्ययन के लिए स्वतन्त्र प्रयत्न किये जायें। इसी उद्देश्य से संस्कृत तथा पाली या बौद्ध अध्ययन के स्वतन्त्र विभाग बने। प्राकृत का स्वतन्त्र अध्ययन सर्वप्रथम महाराष्ट्र में अर्धमागधी के नाम से आरम्भ

हुआ। स्व० प्रो० पी० एल० वैद्य को इसका सर्वाधिक श्रेय है। विगत तीन दशकों में जैनविद्या और प्राकृत के अध्ययन के लिए कतिपय भारतीय विश्वविद्यालयों में स्वतन्त्र विभाग स्थापित हुए हैं। इनमें सामाजिक न्यासों द्वारा स्थापित 'इंडोवमेन्ट चेयर्स' सम्मिलित हैं। इनमें दक्षिण में मैसूर, मद्रास, धारवाड़, बिहार में वैशाली, मगध; उत्तरप्रदेश में वाराणसी, राजस्थान में उदयपुर, जयपुर तथा महाराष्ट्र में कोल्हापुर और पूना उल्लेखनीय हैं।

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी भारत में ही नहीं, पूरे विश्व में एक ऐसा विश्वविद्यालय है, जिसने श्रमण परम्परा की जैन और बौद्ध दोनों प्रमुख धाराओं के अध्ययन के लिए एक स्वतन्त्र संकाय की स्थापना की, जिसमें प्राकृत और जैनदर्शन तथा पाली और बौद्धदर्शन के अध्ययन के लिए दो-दो स्वतन्त्र विभाग बनाये गये। इसके साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि यह विश्वविद्यालय पूर्व-स्नातक से लेकर अनुसन्धानोपाधि तक के पाठ्यक्रम का संचालन और परीक्षा की व्यवस्था करता है।

जैनविद्या और प्राकृत के स्वतन्त्र विभागों के साथ विश्वविद्यालयों के प्राचीन भारतीय इतिहास, कला, संस्कृति एवं पुरातत्व, दर्शन, समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान, गणित आदि विभागों में भी जैनविद्या के विविध पक्षों पर अनुसन्धान कार्य हुआ है। संकाय पत्रिका श्रमणविद्या भाग-१ में 'हायर एजुकेशन एण्ड रिसर्च इन प्राकृतस् एण्ड जैनोलाजी' शीर्षक से मैंने इसका एक ब्योरेबार विवरण दिया है।

जैनविद्या और प्राकृत के अध्ययन-अनुशीलन का यह व्यापक प्रसार उसके अन्तरशास्त्रीय अध्ययन की सम्भावनाओं को मुखरित करता है। विगत दशकों में विभिन्न विश्वविद्यालयों में आयोजित संगोष्ठियों, सम्मेलनों, शिविरों, कार्यशालाओं आदि ने इसे और अधिक पुष्ट किया है। सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के प्राकृत एवं जैनागम विभाग द्वारा आयोजित ऊपर उल्लिखित तीन आयोजनों से अन्तरशास्त्रीय अध्ययन की सम्भावनाओं को चरम बिन्दु तक स्थापित किया है। प्रस्तुत परिसंवाद इसकी एक बानगी मात्र है।

जैनविद्या और प्राकृत के अध्ययन के उपर्युक्त प्रसार के समानान्तर कतिपय ऐसे तथ्य भी सामने आये हैं, जो इस अध्ययन के भावी संकट की ओर इंगित

करते हैं। यद्यपि सभी प्राच्यविद्याओं का अध्ययन-अनुशीलन वर्तमान देश, काल और परिस्थितियों में एक विचित्र सांस्कृतिक संकट के दौर से गुजर रहा है और यह समग्र रूप से चिन्ता का विषय है; फिर भी यहाँ जैनविद्या और प्राकृत से सम्बद्ध पक्षों का निर्देश विशेष रूप से अपेक्षित है—

विश्वविद्यालयों में जैनविद्या और प्राकृत के जितने पाठ्यक्रम चल रहे हैं, वे विषय की व्यापकता और समग्रता की दृष्टि से आमूल संशोधन की अपेक्षा रखते हैं।

जैनविद्या और प्राकृतों के लिए जिस जैन श्रमणधारा का सर्वाधिक और महनीय योगदान है, उस परम्परा के अनुयायियों में इसका अध्ययन निरन्तर क्षीण होता जा रहा है।

विश्वविद्यालयों में जो अध्यापन और अनुसन्धान कार्य हो रहे हैं, उनमें से अधिकांश शास्त्रीय परम्परा तथा प्राच्य भाषाओं के ज्ञान के अभाव में गुणवत्ता की दृष्टि से बहुत सामान्य, तथ्यों की दृष्टि से अपूर्ण और त्रुटिपूर्ण तथा समीक्षा और तुलनात्मक अध्ययन के नाम से अत्यन्त दोषपूर्ण हैं। इस कारण सांस्कृतिक अवदान का उज्ज्वल पक्ष उजागर होने के स्थान पर उसका विद्रूप प्रस्तुत हो रहा है। अपवादों की बात यहाँ नहीं है।

अन्य विषयों की तरह जैनविद्या और प्राकृत के अध्यापक तथा विद्यार्थियों में भी 'प्रोफेशनलिज्म' के बढ़ते प्रभाव से शास्त्र और सांस्कृतिक परम्परा का अन्तः-प्रविष्ट अध्ययन-अनुशीलन क्रमशः समाप्त हो रहा है। अर्थोन्मुखी समाज व्यवस्था शिक्षा जगत् को जिन बुराइयों से ग्रसित कर रही है, उनसे अब धीरे-धीरे जैनविद्या और प्राकृत क्षेत्र भी प्रभावित हो रहा है।

राष्ट्रीय स्तर पर आयोजित संगोष्ठी, सम्मेलनों आदि में एक मंच पर उपस्थित होकर विद्वान् मनीषी सामूहिक रूप से जैनविद्या और प्राकृत के अध्ययन-अनुशीलन के उज्ज्वल और कमजोर दोनों पक्षों की खुलकर समीक्षा करते हैं और त्रुटियों के निराकरण के विषय में एकजुट होकर चिन्तन करते हैं। इस प्रकार के सामूहिक चिन्तन और प्रयत्नों के फलस्वरूप हम आशान्वित हैं कि जैनविद्या और प्राकृत के अध्ययन-अनुशीलन को वह दिशा प्राप्त होगी, जिससे उसका लोकमंगलकारी अवदान सर्वसुलभ बने।

इस परिसंवाद को पाठकों के हाथों सौंपते हुए हम अपने उन सभी मार्गदर्शकों, सहयोगियों और शुभचिन्तकों का स्मरण करते हैं, जिनका सम्बल प्राकृत एवं जैनागम

विभाग को प्राप्त होता रहा है। १९८१ में आयोजित संगोष्ठी की सफलता का बहुत बड़ा श्रेय तत्कालीन कुलपति आचार्य बदरीनाथ शुक्ल को है। श्रमणविद्या संकाय द्वारा प्रस्तुत परिसंवाद माला के प्रकाशन का प्रस्ताव भी उन्हीं की अध्यक्षता में विद्या-परिषद् और कार्यपरिषद् ने स्वीकृत किया। हार्दिक कृतज्ञता के साथ हम उनका स्मरण करते हैं। श्रमणविद्या संकाय के तत्कालीन अध्यक्ष प्रोफेसर जगन्नाथ उपाध्याय परिसंवाद के इस प्रकाशन से सर्वाधिक प्रसन्न होते, किन्तु असमय में ही वे हमसे बिछुड़ गये। परिसंवाद का यह भाग उनके प्रति प्राकृत एवं जैनागम विभाग का अर्घ्यदान है। संगोष्ठी में स्थानीय संस्थाओं के साथ देशभर के जो प्रतिनिधि सम्मिलित हुए तथा संगोष्ठी को सफलतापूर्वक सम्पन्न करने में विश्वविद्यालय के जिन अध्यापकों, अधिकारियों एवं कर्मचारियों का योगदान रहा, उनका इस अवसर पर हम आदर-पूर्वक स्मरण करते हैं।

श्रमणविद्या संकाय के किसी भी विभाग के आयोजन को संकाय का सामूहिक उपक्रम मानने की प्रशस्त परम्परा रही है। तदनुरूप इस परिसंवाद के सम्पादक मण्डल में संकाय के पाँचों विभागों के विभागाध्यक्षों का सहभागित्व स्वीकार करते हुए मुझे हार्दिक प्रसन्नता है।

परिसंवाद के इस भाग के प्रकाशन का निर्णय तत्कालीन कुलपति डॉ· राम-करण शर्मा के कार्यकाल में लिया गया था। उनका हम साभार स्मरण करते हैं।

इस परिसंवाद के प्रकाशन के समय तक वर्तमान कुलपति प्रोफेसर विश्वनाथ वेङ्कटाचलम् की अध्यक्षता और निर्देशन में प्राकृत एवं जैनागम विभाग ने राष्ट्रीय स्तर के दो महत्त्वपूर्ण आयोजन सम्पन्न किये। हमें पूर्ण विश्वास है कि उनके कुशल नेतृत्व में विभाग अन्य योजनाओं को क्रियान्वित कर सकेगा। उनके प्रति हम अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करते हैं। विश्वविद्यालय की प्रकाशन समिति तथा प्रकाशनाधिकारी डॉ० हरिश्चन्द्रमणि त्रिपाठी के सतत् सहयोग से इस परिसंवाद का सुरुचिपूर्ण प्रकाशन सम्भव हो सका। हम उनके हृदय से आभारी हैं और भविष्य में पूर्ण सहयोग के प्रति आशान्वित हैं।

ज्ञान असीम है और कार्य का क्षेत्र व्यापक है। मानवीय क्षमता की सीमाएँ हैं सभी प्रकार की सावधानी रखते हुए भी त्रुटियाँ सम्भव हैं। परिसंवाद के इस भाग के सम्पादन-प्रकाशन में जो भी भूल-चूक रही हो, उसके लिए क्षमाप्रार्थी हूँ।

२५ जुलाई, १९८७ **—गोकुलचन्द्र जैन**

विषय-सूची

जैन श्रमण परम्परा : इतिहास, कला और संस्कृति

जैन चिन्तन और समाज विज्ञान

प्राकृत, भारतीय भाषाएँ और साहित्य

●

जैन श्रमण परम्परा

इतिहास, कला और संस्कृति

समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो ।
समलोट्ठुकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ॥
दंसणणाणचरित्तेसु तीसु जुगवं समुट्ठिदो जो दु ।
एयग्गगदो त्ति मदो सामण्णं तस्स पडिपुण्णं ॥

—पवयणपाहुडसुत्तं ३।४०-४१

जैन श्रमण परम्परा का दर्शन

पं. फूलचन्द्र शास्त्री

संस्कृत साहित्य में जिसे श्रमण पद से अभिहित किया गया है[1] मूल में वह 'समण' संज्ञा पद है[2]। उसके संस्कृत छाया रूप तीन होते हैं[3]—शमन, श्रमण और समण। श्रमणों—जैन साधुओं की चर्या इन तीनों विशेषताओं को लिये हुए होती है। जिन्होंने पञ्चेन्द्रियों को संवृत कर लिया है, कषायों पर विजय प्राप्त कर ली है, जो शत्रु-मित्र, दुःख-सुख, प्रशंसा-निन्दा, मिट्टी-सोना, तथा जीवन-मरण में समभाव सम्पन्न हैं और जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र की आराधना में निरन्तर तत्पर हैं, वे श्रमण हैं और उनका धर्म ही श्रमण धर्म है।[4] वर्तमान में जिसे हम जैनधर्म या आत्मधर्म के नाम से सम्बोधित करते हैं, वह यही है। यह अखण्ड भाव से श्रमण-संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है।

लोक में जितने भी धर्म प्रचलित हैं, उनका लिखित या अलिखित दर्शन अवश्य होता है। श्रमण परम्परा का भी अपना दर्शन है, जिसके द्वारा श्रमण धर्म की नींव के रूप में व्यक्तिस्वातन्त्र्य की अक्षुण्णभाव से प्रतिष्ठा की गई है। इसे समझने के लिए इसमें प्रतिपादित तत्त्वप्ररूपणा को हृदयंगम कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। जैसा कि समग्र आगम पर दृष्टिपात करने से विदित होता है, इसमें तत्त्वप्ररूपणा के दो प्रकार परिलक्षित होते हैं–एक लोक की संरचना के रूप में तत्त्वप्ररूपणा का प्रकार और दूसरा मोक्षमार्ग की दृष्टि से तत्त्वप्ररूपणा का प्रकार। ये दोनों ही एक दूसरे के इतने निकट हैं, जिससे इन्हें सर्वथा जुदा नहीं किया जा सकता, केवल प्रयोजन भेद से ही तत्त्वप्ररूपणा को दो भागों में विभक्त किया गया है।

प्रथम प्ररूपणा के अनुसार जाति की अपेक्षा द्रव्य छह हैं। वे अनादि, अनन्त और अकृत्रिम हैं। उन्हीं के समुच्चय का नाम लोक है। इसलिए जैनदर्शन में लोक

---

१. येषां च विरोधः शाश्वतिकः (२।४।९) इत्यस्यावकाशः श्रमणब्राह्मणम्।–पातञ्जलभाष्य।

२. प्रवचनसार गा० २२६।

३. पाइअसद्दमहण्णओ, देखो समण शब्द, द्वि० सं० पृ० ८६५।

४. प्रवचनसार गा० २४०-२४१।

भी स्वप्रतिष्ठ और अनादि-अनन्त माना गया है। छह द्रव्यों के नाम हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमें से काल द्रव्य सत्स्वरूप होकर भी शरीर के समान बहुप्रदेशी नहीं है, इसलिए उसे छोड़कर शेष पाँच द्रव्य अस्तिकाय माने गये हैं। पुद्गल शक्ति या योग्यता की अपेक्षा बहुप्रदेशी माना गया है।

संख्या की दृष्टि से जीवद्रव्य अनन्त हैं, पुद्गल द्रव्य उनसे अनन्त गुणे हैं, धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य एक-एक हैं और काल द्रव्य असंख्यात हैं।

ये सब द्रव्य स्वरूप सत्ता की अपेक्षा भिन्न-भिन्न हैं। फिर भी इन सबमें घटित हो ऐसा इनका एक सामान्य लक्षण है, जिस कारण ये सब द्रव्य पद द्वारा अभिहित किये जाते हैं। वह है—उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्। सद्द्रव्यलक्षणम्।[५] जो सत्स्वरूप हो वह द्रव्य है या सत्स्वरूप होना द्रव्य का लक्षण है। यहाँ सत् और द्रव्य में लक्ष्य लक्षण की अपेक्षा भेद स्वीकार करने पर भी वे सर्वथा दो नहीं हैं, एक हैं—चाहे सत् कहो या द्रव्य दोनों का अर्थ एक है। इसी कारण जैन-दर्शन में अभाव को सर्वथा अभावरूप न स्वीकार कर उसे भावान्तर एवं भाव स्वीकार किया गया है।[६]

नियम यह है कि सत् का कभी नाश नहीं होता और असत् का कभी उत्पाद नहीं होता। ऐसा होते हुए भी वह (सत्) सर्वथा कूटस्थ नहीं है—क्रियाशील है।[७] यही कारण है कि प्रकृत में सत् को उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप से त्रयात्मक स्वीकार किया गया है। अपने अन्वय स्वभाव के कारण जहाँ वह ध्रौव्य है, वहीं व्यतिरेक (पर्यायरूप) धर्म के कारण वही उत्पाद-व्यय स्वरूप है।[८] इन तीनों में कालभेद नहीं है।[९] जिसे हम नवीन पर्याय का उत्पाद कहते हैं, यद्यपि वही पूर्व पर्याय का व्यय है, पर इनमें लक्षणभेद होने से ये दो स्वीकार किये गये हैं।[१०] इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य एक ही काल में त्रयात्मक है, यह सिद्ध होता है।

इस त्रयात्मक द्रव्य में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य, उसके ये तीनों ही अंश सत् हैं। इनमें कथञ्चित् अभेद है, क्योंकि तीनों की सत्ता एक है। जो तीनों में से किसी एक की सत्ता है, वही अन्य दो की है। यह द्रव्य का सामान्य आत्मभूत लक्षण है। इससे प्रत्येक द्रव्य परिणामी नित्य है, यह सिद्ध होता है, क्योंकि समय-समय जो उत्पाद-व्यय होता है, वह उसका परिणामीपना है और ऐसा होते हुए भी वह अपने

---

५. तत्त्वार्थसूत्र ५, २९-३०।
६. भवत्यभावो हि भावधर्मः।—युक्त्यनु०।
७. प्रवचनसार गा० १०४।
८. सर्वार्थसिद्धि ५–३०।
९. प्रवचनसार गा० १०२।
१०. आप्तमीमांसा कारिका ५८।

ध्रुवरूप मूलस्वभाव को नहीं छोड़ता, उसके द्वारा वह सदा ही उत्पाद-व्ययरूप परिणाम को व्यापता रहता है। यह उसकी नित्यता है। आगम में प्रत्येक द्रव्य को जो अनेकान्त स्वरूप कहा गया है, उसका भी यही कारण है।

द्रव्य में उत्पाद-व्यय ये कार्य हैं। वे होते कैसे हैं, यह प्रश्न है—स्वयं या पर से ? किसी एक पक्ष के स्वीकार करने पर एकान्त का दोष आता है, उभयतः स्वीकार करने पर, जीव का मोक्ष स्वरूप से कथंचित् स्वाश्रित है और कथंचित् पराश्रित है, ऐसा मानना पड़ता है, जो युक्तियुक्त नहीं है। अतः वस्तुस्थिति क्या है, यह विचारणीय है।

समाधान यह है कि किसी भी द्रव्य को अन्य कोई बनाता नहीं, वह स्वयं होता है। अतः उत्पाद-व्यय रूप कार्य को प्रत्येक द्रव्य स्वयं करता है। वही स्वयं कर्ता है और वही स्वयं कर्म है। करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण भी वही स्वयं है। अविनाभाव सम्बन्धवश उसकी सिद्धि मात्र पर से होती है, इसीलिए उसे कार्य (उपचार) का साधक कहा जाता है। पर ने किया यह व्यवहार है, परमार्थ नहीं, क्योंकि पर ने किया इसे परमार्थ मानने पर दो द्रव्यों में एकत्व की आपत्ति आती है, जो युक्तियुक्त नहीं है। अतः प्रकृत में अनेकान्त इस प्रकार घटित होता है—

उत्पाद-व्यय कथंचित् स्वयं होते हैं, क्योंकि वे द्रव्य के स्वरूप हैं। कथंचित् पर से होने का व्यवहार है, क्योंकि अविनाभाव सम्बन्धवश पर उनकी सिद्धि में निमित्त है।[११]

जैन धर्म में प्रत्येक द्रव्य को स्वरूप से जो स्वाश्रित (स्वाधीन) माना गया है उसका कारण भी यही है। जीव ने परमें एकत्व बुद्धि करके अपने अपराधवश अपना भवभ्रमण रूप संसार स्वयं बनाया है।[१२] कर्मरूप पुद्गल द्रव्य का परिणाम उसके अज्ञानादिरूप संसार का कर्ता नहीं होता। पर परको करे ऐसा वस्तु स्वभाव नहीं। वह स्वयं अज्ञानादिरूप परिणाम को जन्म देता है, इसलिए स्वयं उसका कर्ता होता है। फिर भी इसके जो ज्ञानावरणादिरूप पुद्गल कर्म का बन्ध होता है उस सम्बन्ध में नियम यह है कि प्रति समय जैसे ही यह जीव स्वरूप से भिन्न पर में एकत्वबुद्धि या इष्टानिष्ट बुद्धि करता है वैसे ही ज्ञानावरणादिरूप परिणमन की योग्यता वाले पुद्गल स्कन्ध स्वयं उससे एकक्षेत्रावगाहरूप बन्ध को प्राप्त होकर फल काल के प्राप्त होने पर तदनुरूप फल देने में निमित्त होते हैं। जीव-

११. आप्तमीमांसा कारिका ७५। १२. समयसार गा० १३।

कर्म का यह बनाव अनादि काल से निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धवश स्वयं बना चला आ रहा है। इसके अनादि में निमित्त नहीं।

पहले जिन छह द्रव्यों का हम निर्देश कर आये हैं, उनमें से चार द्रव्य तो सदा ही अपने स्वभाव के अनुकूल ही कार्य को जन्म देते हैं, शेष जो जीव और पुद्गल दो द्रव्य हैं उनमें से पुद्गल का स्वभाव तो ऐसा है कि वह कदाचित् स्वभाव में रहते हुए भी बन्ध अनुकूल अवस्था होने पर दूसरे पुद्गल के साथ बन्ध को प्राप्त हो जाता है और जब तक वह इस अवस्था में रहता है तब तक वह अपनी इकाईपने से विमुख होकर स्कन्ध संज्ञा से व्यवहृत होता रहता है।

इसके अतिरिक्त जो जीव है उसका स्वभाव ऐसा नहीं है कि वह स्वयं को कर्म से आबद्ध कर दुर्गति का पात्र बने। अनादि से वह स्वयं को भूला हुआ है। उसकी इस भूल का ही परिणाम है कि वह दुर्गति का पात्र बना चला आ रहा है। उसे स्वयं में यही अनुभव करना है और उसके मूल कारण के रूप में अपने अज्ञान-भाव और राग-द्वेष को जानकर उनसे मुक्त होने का उपाय करना है। यही वह मुख्य प्रयोजन है जिसे ध्यान में रख कर जिनागम में तत्त्वप्ररूपणा का दूसरा प्रकार परिलक्षित होता है।

आत्मानुभूति, आत्मज्ञान और आत्मचर्या इन तीनों रूप परिणत आत्मा मोक्षमार्ग है। उनमें सम्यग्दर्शन मूल है। (दंसणमूलो धम्मो)। उसी प्रयोजन से जीवादि नौ पदार्थ या सात तत्त्व कहे गये हैं।[13] इनमें आत्मा मुख्य है। विश्लेषण द्वारा उसके मूल स्वरूप पर प्रकाश डालना इस कथन का मुख्य प्रयोजन है। उसी से हम जानते हैं कि मैं चिन्मात्र ज्योतिस्वरूप अखण्ड एक आत्मा हूँ। अन्य जितनी उपाधि है वह सब मैं नहीं हूँ। वह मुझसे सर्वथा भिन्न है। इतना ही नहीं, वह यह भी जानता है कि यद्यपि नर-नारकादि जीव विशेष अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्षस्वरूप इन नौ पदार्थों में मैं ही व्यापता हूँ।[14] जीवन के रंगमञ्च पर कभी मैं नारकी बन कर अवतरित होता हूँ तो कभी मनुष्य बन कर। कभी पुण्यात्मा की भूमिका निभाता हूँ तो कभी पापी की आदि। इतना सब होते हुए भी मैं चिन्मात्र ज्योतिरूप अपने एकत्व को कभी भी नहीं छोड़ता हूँ। यही वह संकल्प है जो इस जीव को आत्मस्वतन्त्रता के प्रतीक स्वरूप मोक्षमार्ग में अग्रसर कर आत्मा

---

१३. तत्त्वार्थसूत्र १-४।

१४. समयसार कलश ७।

का साक्षात्कार कराने में साधक होता है। ज्ञान-वैराग्यसम्पन्न मोक्षमार्ग के पथिक की यह प्रथम भूमिका है।

यह जीवों के आयतन जानकर पाँच उदुम्बर फलों तथा मद्य, मांस और मधु का पूर्ण त्यागी होता है। इन्हें आठ मूल गुण कहते हैं[१५] जो इसके नियम से होते हैं। साथ ही वीतराग देव, निर्ग्रन्थ गुरु और वीतराग वाणी स्वरूप जिनागम इसके आराध्य होते हैं।[१६] यह आजीविका के ऐसे ही साधनों को अपनाता है जिसमें संकल्प पूर्वक हिंसा की सम्भावना न हो।[१७]

दूसरी भूमिका का श्रमणोपासक व्रती होता है। व्रत बारह हैं—पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत।[१८] यह इनका निर्दोष विधि से पालन करता है। कदाचित् दोष का उद्भव होने पर गुरु की साक्षीपूर्वक लगे दोषों का परिमार्जन करता है और उनमें उत्तरोत्तर वृद्धि करते हुए उस भूमिका तक वृद्धि करता है जहाँ जाकर लंगोटी मात्र परिग्रह शेष रह जाता है।

तीसरी भूमिका श्रमण की है। यह महाव्रती होता है। यह वन में जाकर गुरु की साक्षीपूर्वक जिन व्रतों को अंगीकार करता है उन्हें गुण कहते हैं। वे २८ होते हैं—५ महाव्रत, ५ समिति, ५ इन्द्रियजय, ६ आवश्यक और ७ शेष गुण।[१९] शेष गुण जैसे—खड़े होकर दिन में एक बार भोजन-पानी लेना, दोनों हाथों को पात्र बनाकर लेना, केशलुंच करना, नग्न रहना आदि।

इसका जितना भी कार्य हो वह स्वावलम्बनपूर्वक ही किया जाय, मात्र इसलिए ही यह हाथों को पात्र बनाकर आहार ग्रहण करता है, हाथों से ही केशलुंच करता है। रात्रि में एक करवट से अल्प निद्रा लेता है।

यह सब इसलिए नहीं किया जाता है कि शरीर को कष्ट दिया जाय। शरीर तो जड़ है, कुछ भी करो, उसे तो कष्ट होता ही नहीं। यदि कष्ट हो भी तो करनेवाले को ही हो सकता है। किन्तु श्रमण का राग-द्वेष के परवश न होकर शरीर से भिन्न आत्मा की संभ्हाल करना मुख्य प्रयोजन होता है, इसलिए वे सब क्रियाएँ उसे, जिन्हें हम कष्टकर मानते हैं, कष्टकर भासित न होकर अवश्य करणीय भासित होती हैं।

---

१५. सागारधर्मामृत २-२। १६. रत्नकरण्डश्रावकाचार ४।

१७. सागारधर्मामृत १-१४। १८. वही अ. ५।

१९. प्रवचनसार गा० २०८-२०९।

यह जैन धर्म-दर्शन का सामान्य अवलोकन है। इसे दृष्टिपथ में लेने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इसका मुख्य प्रयोजन वेद, ईश्वरकर्तृत्व और यज्ञीय हिंसा का विरोध करना पूर्व में कभी नहीं रहा है। इसके मूल साहित्य षट्खण्डागम, कषाय-प्राभृत, आ० कुन्दकुन्द द्वारा रचित साहित्य, मूलाचार, रत्नकरण्डश्रावकाचार, भगवती आराधना आदि पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है। इसलिए जो मनीषी इसे सुधारवादी धर्म कह कर इसे अर्वाचीन सिद्ध करना चाहते हैं, जान पड़ता है वस्तुतः उन्होंने स्वयं अपने धर्मग्रन्थों का ही ठीक तरह से अवलोकन किये विना अपना यह मत बनाया है। उन्हें नहीं भूलना चाहिए कि जो वर्तमान में भारतीय संस्कृति का स्वरूप दृष्टिगोचर होता है उसे न केवल ब्राह्मण या वैदिक संस्कृति कहा जा सकता है, और न तो श्रमण संस्कृति कहना उपयुक्त होगा। यह एक ऐसा तथ्य है जिसे स्वीकार कर लेने पर श्रमण संस्कृति से अनुप्राणित होकर भारतीय संस्कृति में जो निखार आया है, उसे आसानी से समझा जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से जिन तथ्यों पर विशेष प्रकाश पड़ता है, वे ये हैं—

१. इसमें सदा से प्रत्येक द्रव्य का जो स्वरूप स्वीकार किया गया है उसके अनुसार जड़-चेतन प्रत्येक द्रव्य में अर्थक्रियाकारीपना सिद्ध होने से ही व्यतिरेकरूप में ही परकर्तृत्व का निषेध होता है।

२. व्यक्ति के जीवन में वीतरागता अर्जित करना मुख्य है। अहिंसा आदि उसके बाह्य साधन हैं। मात्र इसलिए जैन धर्म में अहिंसा आदि को मुख्यता दी गई है। यज्ञादिविहित हिंसा का निषेध करना इसका मुख्य प्रयोजन नहीं है। जीवन में अहिंसा के स्वीकार करने पर उसका निषेध स्वयं हो जाता है।

ये कतिपय तथ्य हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि सुधारवाद की दृष्टि से जैन धर्म की संरचना नहीं हुई है। किन्तु भारतीय जन-जीवन पर जैन संस्कृति की अमिट छाप अवश्य है। यह माना जा सकता है। और यह स्वाभाविक भी है। जो पड़ोसी होते हैं उनमें आदान-प्रदान न हो यह नहीं हो सकता।

श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन संस्थान,
सन्मति जैन निकेतन, नरिया वाराणसी, उत्तरप्रदेश।

जैन धर्म और संस्कृति

डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन

आदिपुराणकार आचार्य जिनसेन स्वामी (ज्ञात तिथि शाके ७५९-८३७ ई.) के अनुसार,[1] 'इति इह आसीत्'—यहाँ ऐसा घटित हुआ—इस प्रकार की घटनावलि एवं कथानकों का निरूपण करने वाला साहित्य 'इतिहास', 'इतिवृत्त' या 'ऐतिह्य' कहलाता है, परम्परागत होने से वह 'आम्नाय', प्रमाण पुरुषों द्वारा कहा गया या निबद्ध हुआ होने से 'आर्ष', तत्त्वार्थ का निरूपक होने से 'सूक्त' और धर्म (हेयोपादेय विवेक अथवा पुण्य प्रवृत्तियों) का प्रतिपादक एवं पोषक होने के कारण 'धर्मशास्त्र' कहलाता है। इस प्रकार इस परिभाषा में इतिहास का तत्त्व, प्रकृति, तथा उसके राजनैतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक सभी अंगों का समावेश हो जाता है। आज इतिहास का जो विशद व्यापक अर्थ ग्रहण किया जाता है, उक्त पुरातन जैनाचार्य को भी वह अभिप्रेत था।

इतिहास, विशेषकर प्राचीन भारतीय इतिहास का आशय भारतीय संस्कृति का यथासम्भव सर्वांग इतिहास है, जिसके अन्तर्गत विवक्षित युग में देश में प्रचलित विभिन्न धर्मों, दर्शनों, समुदायों तथा तत्तद संस्कृतियों, साहित्य-कला, आचार-विचार, लोक-जीवन आदि के विकास का इतिहास समाविष्ट होता है।

जैन संस्कृति भारतवर्ष की सुदूर अतीत से चली आई, पूर्णतया देशज एवं पर्याप्त महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक धारा है। उसके सम्यक् ज्ञान के बिना भारतीय संस्कृति के इतिहास का ज्ञान अधूरा-अपूर्ण रहता है।

'जयतीति जिनः' व्युत्पत्ति के अनुसार सर्व प्रकार के आत्मिक-मानसिक विकारों पर पूर्ण विजय प्राप्त करके इसी जीवन में परम प्राप्तव्य को प्राप्त करने वाले 'परमात्मा', 'जिन' या 'जिनेन्द्र' कहलाते हैं। वन्दनीय, पूजनीय एवं उपासनीय होने

---

१. इतिहास इतीष्टं तद् इतिहासीदिति श्रुतेः।
इतिवृत्तमथैतिह्यमाम्नायञ्चामनन्ति तत्॥ २४॥
ऋषिप्रणीतमार्षस्यात् सूक्तं सुनृतशासनात्।
धर्मानुशासनाच्चेदं धर्मशास्त्रमिति स्मृतम्॥ २५॥ —आदिपुराण, सर्ग १।

के कारण वे 'अर्हत्' या 'अरहंत', दुःखपूर्ण संसार सागर को पार करने के हेतु कल्याणप्रद धर्म-तीर्थ का प्रवर्त्तन करने के कारण 'तीर्थंकर', समस्त अन्तर एवं बाह्य परिग्रह से मुक्त होने के कारण 'निर्ग्रन्थ' और स्वपुरुषार्थ द्वारा श्रमपूर्वक समत्व की साधना एवं आत्मशोधन करने के कारण 'श्रमण' कहलाते हैं। उन्हीं ऋषभादि-महावीर पर्यन्त चौबीस निर्ग्रंथ-श्रमण-अर्हत्-केवलि-जिन तीर्थंकरों द्वारा स्वयं जानी गई, अनुभव की गई, आचरण की गई और विना किसी भेदभाव के 'सर्वसत्वानां हिताय, सर्वसत्वानां सुखाय' उपदेशित एवं प्रचारित धर्मव्यवस्था का ही नाम जैनधर्म है। उनके अनुयायी जैन या जैनी, श्रमणोपासक अथवा श्रावक भी कहलाते हैं। इन अहिंसा एवं निवृत्ति प्रधान परम्परा द्वारा पल्लवित-पोषित संस्कृति ही जैन संस्कृति है।

प्राचीनता

इस परम्परा के मूलस्रोत प्राग्ऐतिहासिक पाषाण एवं धातु-पाषाण-युगीन आदिम मानव सभ्यताओं की जीववाद (एनिमिज़्म) प्रभृति मान्यताओं में खोजे गए हैं। सिन्धु उपत्थका में जिस धातु-लौह-युगीन प्राग्ऐतिहासिक नागरिक सभ्यता के अवशेष प्राप्त हुए हैं उसके अध्ययन से एक सम्भावित निष्कर्ष यह निकाला गया है कि उस काल और क्षेत्र में वृषभ-लांछन दिगम्बर योगिराज ऋषभ की पूजा-उपासना प्रचलित थी। उक्त सिन्धु सभ्यता को प्राग्वैदिक एवं अनार्य ही नहीं अपितु प्रागार्य भी मान्य किया जाता है, और इसी कारण सुविधा के लिए उसे बहुधा द्राविड़ीय संस्कृति संज्ञा दी जाती है। वैदिक परम्परा के आद्यग्रन्थ स्वयं ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर ऋषभदेव के आदर पूर्वक प्रत्यक्ष तथा परोक्ष उल्लेख हुए हैं। स्पष्ट नामोल्लेखों के अतिरिक्त, वैदिक संहिताओं के अर्हत्, केशी, व्रात्य, वातरशना, मुनि आदि शब्द ऋषभ के लिए ही प्रयुक्त हुए प्रतीत होते हैं, ऋत्, सत्य, अहिंसा, सदाचार आदि शब्द उनकी विशिष्ट मान्यताओं या प्रस्थापनाओं के सूचक हैं, और श्रमण, मुनि, यति आदि शब्द उनके अनुसर्ताओं के। वैदिक उल्लेखों एवं संकेतों का विशदीकरण तथा स्पष्टीकरण पुराण ग्रन्थों में किया गया माना जाता है, और भागवत्, विष्णु, मार्कण्डेय, ब्रह्माण्ड आदि प्रमुख पुराणों में परमेश्वर के अष्टम अवतार के रूप में जिन नाभेय ऋषभदेव का वर्णन हुआ है वह ऋग्वेदादि में उल्लिखित ऋषभ ही हैं, इस विषय में प्रायः कोई सन्देह नहीं किया जाता। इन वर्णनों में और जैन पौराणिक अनुश्रुतियों में उपलब्ध प्रथम तीर्थंकर आदिदेव नाभिसुत ऋषभ के वर्णनों में ऐसा अद्भुत सादृश्य है जो इस तथ्य को असंदिग्ध बना देता है कि दोनों ही परम्पराओं में अभिप्रेत पुराणपुरुष

ऋषभ एक ही व्यक्ति हैं, जो अन्तर है वह इतना ही है कि प्रत्येक परम्परा ने उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व को अपने-अपने रंग में रंगने का प्रयत्न किया है।[2]

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

पाषाणकालीन प्रकृत्याश्रित असभ्य युग (भोगभूमि) का अन्त करके ज्ञान-विज्ञान संयुक्त कर्मप्रधान मानवी सभ्यता का जनक इन आदि तीर्थंकर ऋषभदेव को ही माना जाता है। उनका ज्येष्ठ पुत्र भरत ही इस देश का सर्वप्रथम चक्रवर्ती सम्राट था और इसी के नाम पर यह देश 'भारत' या 'भारतवर्ष' कहलाया, यह जैन पौराणिक अनुश्रुति वैदिक साहित्य एवं ब्राह्मणीय पुराणों से समर्थित है।[3] ऋषभ के उपरान्त समय-समय पर २३ अन्य तीर्थंकर हुए जिन्होंने उनके सदाचार-प्रधान योगधर्म का पुनः प्रचार किया और जैन संस्कृति का पोषण किया। बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ के तीर्थ में अयोध्यापति रामचन्द्र हुए जिन्होंने श्रमण-ब्राह्मण उभय संस्कृतियों के समन्वय का भागीरथ प्रयत्न किया, एतदर्थ वे दोनों परम्पराओं में परमात्मरूप में उपास्य हुए।[4] इक्कीसवें तीर्थंकर नमि विदेह के जनकों के पूर्वज मिथिला नरेश थे जो उस अध्यात्मिक परम्परा के सम्भवतया आद्य प्रस्तोता थे, जिसने जनकों के प्रश्रय में औपनिषदिक आत्मविद्या के रूप में विकास किया।[5] बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ (अरिष्टनेमि) नारायण कृष्ण के ताऊजात भाई थे। दोनों ही जैन परम्परा के शलाकापुरुष हैं। दोनों ही भारतयुद्ध के समसामयिक ऐतिहासिक नरपुंगव हैं। अरिष्टनेमि ने श्रमणधर्म पुनरुत्थान का नेतृत्व किया तो कृष्ण ने उभय परम्पराओं के समन्वय का स्तुत्य प्रस्तुत किया[6]। तेइसवें तीर्थंकर पार्श्व (७७७–८७७ ई० पू०) काशी के उरगवंशी क्षत्रिय राजकुमार थे और श्रमण धर्म पुनरुत्थान आन्दोलन के सर्वमहान् नेता थे, सम्भवतया इसी कारण अनेक आधुनिक इतिहासकारों ने तीर्थंकर पार्श्व को ही जैनधर्म का प्रवर्तक मान लिया। इसमें सन्देह नहीं कि

---

२. देखिए—डॉ. हीरालाल जैन—'भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान', पृ० ११-१९; डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन—'जैनिज्म : दी ओल्डेस्ट लिविंग रिलीजन', पृ० ४०–४६; तथा 'भारतीय इतिहास : एक दृष्टि' (द्वि० सं०), पृ० २१–२९।

३. वही, पृ० २४; स्वामी कर्मानन्द—'भारत का आदि सम्राट', तथा 'भरत और भारत'।

४. 'भारतीय इतिहास : एक दृष्टि', पृ० ३२।

५. डा० हीरालाल जैन, वही, पृ० १९–२०।

६. 'भारतीय इतिहास : एक दृष्टि'; पृ० ३३, ४२–४५।

पार्श्व अपने समय के सर्वमान्य महापुरुष थे। उनका चातुर्याम धर्म प्रसिद्ध है।[७] अन्तिम तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर, बौद्ध साहित्य में जिनका निगंठनातपुत्त (निर्ग्रंथ-ज्ञातपुत्र) के नाम से उल्लेख हुआ है; का जीवन काल ५९९–५२७ ई. पूर्व है। बुद्ध प्रभृति महामानवों के उस महायुग में उत्पन्न महामानव महावीर का व्यक्तित्व एवं कृतित्व ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। श्रमण पुनरुत्थान आन्दोलन पूर्णतया निष्पन्न हुआ, इसका अधिकांश श्रेय महावीर को है। संघ का पुनर्गठन करके जैनधर्म को जो रूप उन्होंने प्रदान किया वही गत अढ़ाई सहस्र वर्षों के जैन संस्कृति के विकास के इतिहास का मूलाधार है।[८]

महावीर के निर्वाणोपरान्त उनकी शिष्य परम्परा के साधु-साध्वियों ने उनके सन्देश को देश के कोने-कोने में पहुँचाया। उनकी आठवीं पीढ़ी में श्रुतकेवलि भद्रबाहु के समय पर्यन्त महावीर का संघ प्रायः अविच्छिन्न बना रहा, किन्तु द्वादशवर्षीय भीषण दुर्भिक्ष के कारण उक्त आचार्य संघ के एक बड़े भाग सहित दक्षिणापथ को विहार कर गए जहाँ कर्णाटक आदि विभिन्न प्रदेशों में जैनधर्म के अनेक नवीन केन्द्र विकसित हुए। भद्रबाहु के आम्नायशिष्य मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त ने भी गुरु का अनुगमन करके कर्णाटक देशस्थ कटवप्रनामक पर्वत पर अन्तिम जीवन एक जैनमुनि के रूप में व्यतीत किया।[९]

दुष्काल की अवधि में जो साधु उत्तरापथ में ही बने रहे, वे स्वभावतः शिथिलाचार से अपनी रक्षा न कर सके। मालवा, गुजरात प्रभृति पश्चिमीय प्रदेश उनके केन्द्र बने। आचार-विचार की दृष्टि से इन दक्षिणी और पश्चिमी शाखाओं के बीच मतभेद की खाई बढ़ती गई, जिसने कालान्तर में (प्रथम शती ई. के अंतिम पाद में) दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदाय भेद को जन्म दिया। एक तीसरी शाखा का केन्द्र शूरसेन देश की महानगरी मथुरा रही जो विभिन्न धर्मों, संस्कृतियों एवं जातियों का भी चिरकाल तक महत्त्वपूर्ण संगम-स्थल बनी रही। मथुरा के जैनसंघ ने उपर्युक्त दोनों शाखाओं के बीच समन्वय करने के स्तुत्य प्रयत्न किये, उन्होंने उस महान् सरस्वती आंदोलन का नेतृत्व एवं प्रचार किया जिसके फलस्वरूप गुरु-शिष्य परम्परा में मौखिक द्वार से संरक्षित एवं प्रवाहित द्वादशांगश्रुत रूप जिनागम के महत्त्वपूर्ण

---

७. देखिए—ज्यो० प्र० जैन, 'रिवाइवल आफ श्रमणधर्म इन लेटर वैदिक एज' ('जैन जर्नल', २९७१–७२); 'भारतीय इतिहास : एक दृष्टि', पृ० ४५–५०।

८. वही, पृ० ५०, ५४–५९।

९. वही, पृ० ८८–८९।

अंशों का पुस्तकीकरण तथा पुस्तक-साहित्य प्रणयन का प्रवर्त्तन हुआ।[१०] तदन्तर दिगम्बर एवं श्वेताम्बर, उभय सम्प्रदायों का स्वतन्त्र विकास प्रारम्भ हुआ, संघभेद होते रहे, नये-नये सम्प्रदाय-उपसम्प्रदाय बनते रहे, आचार-विचार में भी देश-कालानुसार परिवर्तन होते रहे। जैन संस्कृति का सर्वतोमुखी संवद्र्धन होता रहा। कभी-कभी और कहीं-कहीं पर्याप्त उत्थान अथवा पतन भी हुए। प्रमुख राज्याश्रय एवं जनसामान्य का समर्थन प्राप्त हुआ तो साम्प्रदायिक विद्वेष और अत्याचार का शिकार भी होना पड़ा। प्रथम-द्वितीय शताब्दी ईस्वी से लेकर प्रायः अठारहवीं शताब्दी पर्यन्त उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण भारत में जैनधर्म का विशेष उत्कर्ष एवं प्रभाव रहा। यों, राजस्थान के विभिन्न राज्य, मध्य-भारत, विदर्भ, गुजरात और कर्णाटक जैन संस्कृति के प्रमुख गढ़ रहे हैं। देश के प्रायः प्रत्येक नगर, राजधानी, शासन केन्द्र, व्यापार एवं व्यवसाय केन्द्र में इस धर्म के अनुयायी सदैव अल्पाधिक संख्या में पाए जाते रहे हैं। अपनी शिक्षा-दीक्षा एवं सामान्य समृद्धि के कारण वे धर्म, दर्शन, ज्ञान-विज्ञान, साहित्य, कला, आचार-विचार, प्रायः सभी क्षेत्रों में अपनी स्पृहणीय सांस्कृतिक बपौती के सफल संरक्षक रहे हैं। संपूर्ण देश की भावात्मक एकता के संपादन में, वर्तमान युग के स्वातन्त्र्य संग्राम में तथा स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद राष्ट्र के नवनिर्माण में उनका यथोचित एवं महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

प्रमुख विशेषताएँ

जैन तत्त्वज्ञान यथार्थवादी है। वह विश्व के समस्त इन्द्रियगोचर अथवा अगोचर पदार्थों की सत्ता को स्वीकार करता है और उनका विशद एवं वैज्ञानिक विश्लेषण तथा निरूपण करता है।

जैन कर्म सिद्धान्त नियतिवाद का निषेध करता है—भाग्य, दैव अथवा ईश्वर के आसरे हाथ पर हाथ रखकर बैठे रहने को मूर्खता घोषित करता है, पुरुषार्थ एवं आत्मनिर्भरता के महत्त्व को प्रदर्शित करता है तथा स्फूर्तिदायक आत्मविश्वास, इच्छाशक्ति एबं मनोबल को पुष्ट करता है।

सुविकसित जैन न्यायशास्त्र से परिपुष्ट जैन दर्शन पूर्वोक्त प्रयोजनभूत तत्त्वों का तर्कपूर्ण अकाट्य शैली में प्रतिपादन करता है। जैन न्यायदर्शन भारतीय न्याय शास्त्र का महत्त्वपूर्ण अंग है। इसने जैन सिद्धान्त को मात्र आज्ञा-प्रधान होने के स्थान पर परीक्षा-प्रधान एवं बुद्धिगम्य बना दिया है।

---

१०. डॉ. ज्यो० प्र० जैन—'दी जैना सोर्सेज आफ दी हिस्टरी आफ एन्शेन्ट इंडिया', पृष्ठ १००–११९।

जैन अध्यात्म रहस्यवादात्मक आदर्शवाद पर आधारित है। उसमें शुद्ध आत्मतत्त्व की उपादेयता एवं उसकी अनुभूति के लोकोत्तरीय परमानन्द का अत्यन्त सरस एवं आकर्षक व्याख्यान है। उस अलौकिक ब्रह्मानन्द का रसपान करने के लिए वह मुमुक्षुजनों को सहज प्रेरणा प्रदान करता है।

इन्द्रिय एवं प्राणी संयम पर आधारित अहिंसा-प्रधान जैनाचार व्यक्ति और समाज, दोनों के ही सर्वाधिक कल्याण का सर्वोत्तम मार्ग है। वह एक अत्युच्च सुविकसित मानव संस्कृति का प्रतीक है। व्यक्ति के लिए वह विवेकपूर्ण दृष्टिकोण, अहिंसात्मक आचार-विचार, आत्मविश्वास, विचार-स्वातन्त्र्य, शरीर-साधना एवं आत्मसंयम पर बल देता है और उसे धर्माचरण में निरन्तर यथाशक्ति उद्योगी बने रहने की प्रेरणा देता है। व्यक्ति का अन्तर्मुखी एवं व्यवस्थित जीवन ही समष्टि के कल्याण और सामूहिक शान्ति का अमोध उपाय है। कृत्रिम उपायों और स्वार्थ प्रसूत योजनाओं से शान्ति स्थापित नहीं होती। अहिंसा और अपरिग्रह ही विश्व शान्ति के जनक हैं।

यह धर्म वर्गविशेष का न होकर प्राणीमात्र का समानभाव से कल्याणकारी है। आत्मा सत्य है, उसी में सौन्दर्य है और वह सौन्दर्य ही विश्व का परिचायक है, अतः सत्यं-शिवं-सुन्दरं रूप आत्मतत्त्व की उपलब्धि तथा अनुभूति में ही व्यक्ति और समष्टि का कल्याण निहित है। अर्हन्त आदि जो महान् आत्माएँ इस प्रयास में सफल होकर परमेष्ठी पद को प्राप्त हो गई हैं, आदर्श बन गई हैं, उस आदर्श अवस्था को स्वयं प्राप्त करने के लिए ही उन आदर्श पुरुषों की पूजा, उपासना, गुणानुवाद, ध्यान आदि की व्यवस्था जैन क्रियाकाण्ड एवं धार्मिक अनुष्ठानों में की गयी है। आत्मशोधन के अर्थ स्वाध्याय, सामायिक, दान, व्रत, तप (उपवास आदि) का यम-नियम रूप से करने का विधान है। जैन संस्कृति का साध्य मोक्ष होने के कारण उसकी बाह्य प्रवृत्तियाँ भी निवृत्तिमूलक ही हैं। यही कारण है कि उसके साहित्य और कला में भी मुख्यतया शान्तरस ही प्रवाहित हुआ है।

जैनदर्शन की सर्वोपरि विशेषता उसका स्याद्वाद सिद्धान्त है। अनेकान्त अथवा स्याद्वाद पदार्थों पर सब ही संभव दृष्टि-विन्दुओं से विचार करता है और दूसरों के विचारों का आदर करना तथा उनके प्रति सहिष्णुता सिखाता है। कैसा भी विरोधी हो उसके विचारों के साथ में एक स्याद्वादी शान्तिपूर्वक समन्वय एवं सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करता है। सभी के मत में कुछ न कुछ सत्य निहित है, यदि उसे उपयुक्त दृष्टिकोण से देखा जाय। विवाद की जड़ तो यह कदाग्रह है कि मैं ही सर्वथा ठीक हूँ, अन्य सब गलत है। यह मनोवृत्ति ही एकान्त है, और अनेकान्त

उसका निरसन करता है। अनेकान्तिक मनोवृत्ति ही विश्व में शान्ति, मैत्री, सहयोग एवं सद्भाव स्थापित करने में समर्थ हो सकती है। इतिहास साक्षी है कि जैन धर्मानुयायियों ने जिनमें बड़े बड़े शक्तिशाली सम्राट एवं नरेश भी हुए हैं, और कहीं-कहीं बहुभाग जनसाधारण भी रहे हैं, कभी भी किसी अन्य धर्म पर अत्याचार नहीं किया, यद्यपि उसे स्वयं कतिपय विरोधियों के नृशंस अत्याचारों का कई बार शिकार होना पड़ा। वस्तुतः शान्तिप्रियता एवं सहिष्णुता जैनधर्म की महान विशेषताएँ रही हैं और उनका मुख्य कारण सप्तभंगी न्यायाश्रित अनेकान्तात्मक स्याद्वाद है। यह सिद्धान्त चार्वाक के थोथे यथार्थवाद और नैयायिकों के लचर आदर्शवाद, दोनों से ही बचकर चला है। प्रो. ध्रुव के अनुसार 'स्याद्वाद ऐसा काल्पनिक सिद्धान्त मात्र नहीं है जिसका प्रणयन किसी तत्त्विक समस्या का हल करने के लिए किया गया हो, अपितु उसका सम्बन्ध मनुष्य के वैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक जीवन से है। स्याद्वाद में तो विरोधी स्वरों का ऐसा सुन्दर समन्वय हुआ है कि उससे एक पूर्ण समन्वित स्वर-लहरी गूँज उठती है।" और डॉ. ए. एन. उपाध्ये का कथन है कि "स्याद्वाद का लक्ष्य आधुनिक दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र के सर्वथा अनुरूप है। स्याद्वाद का लक्ष्य वैयक्तिक दृष्टियों का एकीकरण, समीकरण, समन्वय तथा संश्लेषण करके उन्हें एक व्यवहारिक पूर्णता प्रदान करना है। यह दार्शनिक को एक सावभौमिक दृष्टि प्रदान करता है और उसे यह निश्चय करा देता है कि सत्य के ऊपर अपनी-अपनी परिधि में सीमित भिन्न नामधारी मत-मतान्तरों में से किसी का भी एकाधिपत्य नहीं है। धर्म मुमुक्षु को यह एक ऐसी बौद्धिक सहिष्णुता प्रदान करता है जो उस अहिंसा सिद्धान्त के सर्वथा अनुरूप है जिसकी पुष्टि जैनधर्म सहस्रों वर्षों से निरन्तर करता चला आ रहा है।

जहाँ तक भारतीय दार्शनिक चिन्तन में जैन दर्शन के स्थान का प्रश्न है, महामहोपाध्याय डॉ. गंगानाथ झा का कहना है कि 'निसंदेह कतिपय सिद्धान्तों में जैन दर्शन का बौद्ध, वेदांत, सांख्य-न्याय और वैशेषिक दर्शनों के साथ साम्य है, किन्तु इस तथ्य से जैन दर्शन का स्वतन्त्र अस्तित्व, उदय और विकास असिद्ध नहीं होते। यदि कतिपय भारतीय दर्शनों के साथ उसका कुछ सादृश्य भी है तो साथ ही उसकी अपनी भी निराली विशेषताएँ तथा उन दर्शनों से स्पष्ट मौलिक भेद भी हैं।' प्रो. जी. सत्यनारायण मूर्ति के शब्दों में 'जैन धर्म के कुछ सिद्धान्त उसके अपने विशिष्ट तथा निराले हैं और वे उसपर एक स्वतन्त्र स्वाधीन अस्तित्व की छाप छोड़ते हैं। चिन्ताहरण चक्रवर्ती का कथन है कि 'यद्यपि अपने वर्तमान ज्ञान के आधार पर हमारे लिए

जैन और ब्राह्मण धर्मों से सम्बधित अनेक बातों की आपेक्षिक प्राचीनता को निश्चित करना सम्भव नहीं है तथापि जैनधर्म की यथार्थवादिता एवं बुद्धिवादिता एक सामान्य दृष्टा का भी ध्यान आकर्षित करने से नहीं चूकती ? अन्त में डॉ. हर्मन जेकोबी के शब्दों में 'मैं विश्वास पूर्वक कह सकता हूँ कि जिन धर्म अन्य सब धर्मों से सर्वथा विलक्षण एवं स्वतन्त्र मौलिक धर्म है और इसी कारण प्राचीन भारत के दार्शनिक चिन्तन तथा धार्मिक जीवन का अध्ययन करने के लिए उसका प्रभूत महत्त्व है।'

इस प्रकार, भारत की प्राचीन श्रमण संस्कृति तथा अध्यात्म प्रधान महान् मागध धर्म के सजीव, सतेज प्रतिनिधि के रूप में जैन-धर्म जैन दर्शन और जैन संस्कृति का भारतीय धर्मों, दर्शनों और संस्कृतियों में ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण विश्व के दार्शनिक चिन्तन, धार्मिक इतिहास एवं सांस्कृतिक विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। दूसरी शती ईस्वी के आचार्य समन्तभद्र के शब्दों में 'महावीर प्रभृति श्रमण तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित एवं प्रचारित यह सर्वोदय तीर्थ, मानवमात्र का उन्नायक एवं कल्याणकर्ता है।'

ज्योति निकुंज,
चारबाग लखनऊ, उत्तर प्रदेश।

समन्वय की साधना और जैन संस्कृति

डॉ. रामजी सिंह

समन्वय भारतीय संस्कृति की सर्वोच्च साधना रही है। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ने भारत को मानव-संस्कृतियों का सागर कहा है और इस प्रणय-तीर्थ में माता के मंगलघट को भर देने के लिये सबों का आह्वान किया है। हाँ साधना जितनी ही श्रेष्ठ होती है, उसकी यंत्रणा उतनी ही दुस्सह होती है। इसलिए भारत को इस समन्वय-साधना के हेतु समय-समय पर अपार यंत्रणा सहनी पड़ी है। लगता है, समन्वयरूपी अमृत प्राप्त करने के लिए गरलपान करना ही होता है।

शायद, समन्वय हमारी संस्कृति की अनिवार्यता है। हमारा रूप-रंग, भाषा, वेश-भूषा, रस्म-रिवाज, धार्मिक आस्था और विश्वास आदि कभी भी एक जिन्सी नहीं रहा। आर्यों एवं अनार्यों के बीच संघर्ष चलने के बाद ही हमारी जीवन-पद्धति ने निर्णय किया होगा कि 'समन्वय' ही मानव-जीवन का आदर्श हो सकता है। फिर तो आर्यों एवं द्रविड़ों के संयोग से एक भव्य भारतीय संस्कृति का निर्माण हुआ। इसी तरह पौर और जानपद संस्कृतियों के साथ उत्कृष्ट आरण्यक-संस्कृति का भी हम पर प्रभाव पड़ा। अरण्य के साथ सम्बन्ध होने से वृक्ष, वनस्पति आदि के परिचय के साथ वनस्पति का विज्ञान बढ़ा। वनस्पति का गुण-धर्म मालूम होने पर आहार-शास्त्र और आरोग्य-शास्त्र में प्राकृतिक वस्तुओं का उपयोग बढ़ा। चन्द्र किरणों का वनस्पति पर होने वाले प्रभावों का सूक्ष्म अध्ययन और पशु तथा मनुष्यों के बीच मूलभूत एकता की ओर ध्यान भी गया और अनुभव हुआ कि सर्वत्र एक ही चैतन्य है। शायद, यहीं पर हमें अहिंसा का साक्षात्कार हुआ। मांसाहार का परित्याग हमारा पशु-जगत् और मानव-जगत् के बीच समन्वय की दिशा में एक प्रभावकारी कदम है। इसका अर्थ यह नहीं कि समाज में एक वर्ग के द्वारा दूसरे का शोषण बन्द हो गया या ब्राह्मणों और क्षत्रियों के बीच युद्ध हुए ही नहीं या यज्ञ के नाम पर पशुओं की बलि नहीं चली। लेकिन लोगों का सामान्य स्वभाव प्रेम, सहयोग, क्षमा और सहिष्णुता का ही रहा। साम, दाम, भेद और उपेक्षा आदि आजमाने के बाद ही दंड का प्रयोग होता था। आक्रमणकारी शक-शीथियन, गुर्जर, प्रतिहार आदि का भी हमने अपनी संस्कृति में समावेश कर लिया। हमने किसी देश के भू-भाग को

जीतने के लिए कभी आक्रमण नहीं किया। आक्रमणकारियों को भी बार-बार क्षमा किया। हमारे यहाँ जितने युद्ध हुए वे प्रायः अन्दर-अन्दर के हुए जिसमें राजाओं के ईर्ष्या-द्वेष, लोभ और महत्त्वाकांक्षा के बीच संघर्ष था। समाज का बहुत बड़ा भाग तो अछूता ही रह जाता था। कभी-कभी दो बड़ी-बड़ी सेनाओं को युद्धाग्नि में झोंकने के बदले दोनों पक्षों के दो प्रधान वीरों के बीच ही द्वन्द्व-युद्ध से विजय-पराजय का निपटारा करा लिया जाता था। भीम-जरासंध के बीच इसी प्रकार के द्वन्द्व-युद्ध से दो जातियों का विग्रह बच गया। संक्षेप में, भारतीय संस्कृति ने विग्रह टालकर समन्वय की साधना के अनेक प्रयत्न किये हैं। देव-निर्माण की प्रयोगशाला में भी बहुदेववाद के अन्तर्गत असंख्य देवों का जल-थल-नभ के अनुसार वर्गीकरण, 'त्रिमूर्त्ति' एवं 'विश्वेदेवा' की कल्पना और फिर एकदेव 'प्रजापति' एवं 'विश्वकर्मा' का सृजन और अंत में 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' कहकर अद्वैत तक पहुँचना ही समन्वय-साधना की पराकाष्ठा है। आद्य शंकराचार्य ने पंचायतन-पूजा में सभी देवी-देवताओं की पूजा का अन्तर्भाव कर तथा पीछे मध्ययुगीन संतों ने सर्व-धर्म सद्भाव की भावना को उपस्थित कर वस्तुतः 'आत्मौपम्य भाव' या 'विश्वात्मैक्य भाव' प्रकट किया है। और तो और भारतीय संस्कृति में, इसी प्रकार वेद और ईश्वर तथा आत्मा की सत्ता को स्पष्ट अस्वीकार करने वाले भगवान् बुद्ध को तथा जैनधर्म के जन्मदाता भगवान् ऋषभदेव को अवतार (श्रीमद् भागवत, ५।२-६ अष्टम अवतार) के रूप में स्वीकार करना समन्वय-साधना की दिशा में ही एक उदात्त प्रयास है।

भारतीय संस्कृति को भगवान् ऋषभदेव ने तो मानों समन्वय का समग्र-दर्शन ही प्रदान कर दिया। समस्त आत्माओं को स्वतंत्र, परिपूर्ण और अखंड मौलिक द्रव्य मानकर अपनी तरह समस्त जगत के प्राणियों को जीवित रहने का समान अधिकार स्वीकार करना ही अहिंसा के सर्वोदयी स्वरूप की शिक्षा है। विचार के क्षेत्र में अहिंसा को मानसरूप में प्रतिष्ठित करने के लिए अनेकान्त आया जो वस्तु-विचार के क्षेत्र में दृष्टि की एकांगिता और संकीर्णता से उत्पन्न होने वाले मतभेदों को हटाकर 'मानस-समन्वय' के रूप में उत्पन्न होता है जो वीतरागचित्त की उद्भावना के लिए अनुकूलता पैदा करता है। इसी तरह वचन की निर्दोष तथा अनेकान्त को अभिव्यक्त करने वाली भाषा-शैली के रूप में स्याद्वाद भी 'वाचनिक-समन्वय' की साधना की ही अभियंत्रणा है जहाँ स्ववाच्य को प्रधानता देते हुए अन्य अंशों की उपेक्षा नहीं होती। इसीलिए तो धर्मतीर्थंकरों की स्याद्वादी के रूप में स्तुति की जाती है—

धर्मतीर्थंकरेभ्योऽस्तु स्याद्वादिभ्यो नमो नमः।
ऋषभादि-महावीरान्तेभ्यः स्वात्मोपलब्धये ॥

–लघीयस्त्रय, श्लोक १

अहिंसा की साधना भारतीय-संस्कृति के लिए नयी नहीं है लेकिन जैन-संस्कृति ने अहिंसा को निःश्रेयस के साधनों में सबसे प्रमुख मानकर इसका महत्त्व बढ़ा दिया। मीमांसा आदि वैदिक दर्शनों में हिंसा प्रधान यज्ञ यागादि कर्म को साधन मानकर अहिंसा की उपेक्षा कर दी गयी थी। श्रमण-संस्कृति साध्य के साथ साधन की शुचिता पर भी जोर देती थी इसीलिए ब्राह्मण और श्रमण संस्कृतियों के परस्पर शाश्वत विरोध पर पतंजलि को अपने महाभाष्य में 'अहि-नकुल' और 'गो-व्याघ्र' की उपमायें देनी पड़ी। खैर, यह जैन-संस्कृति की अहिंसा-भावना का ही प्रभाव है कि ब्राह्मण परम्परा में यज्ञीय हिंसा का समर्थन केवल परम्परागत शास्त्र-चर्चा का विषय मात्र रह गया है लेकिन लोक-व्यवहार में यज्ञीय हिंसा प्रायः लुप्त होकर 'सर्वभूतहिते रताः' के मूल्य पर अवस्थित रही। ऋषभदेव के समान ही कपिल और पतंजलि द्वारा जिस 'आत्मौपम्यभावना' तथा तन्मूलक अहिंसा-धर्म की प्रतिष्ठा का पोषण हुआ है उसमें अद्वितीय समानता है। ब्राह्मण-संस्कृति ने तप द्वारा और श्रमण-संस्कृति ने चित्त-शुद्धि द्वारा साम्यसिद्धि मूलक अहिंसा की प्रतिष्ठा की है। इसीलिए ब्राह्मण-पुराणों में ऋषभदेव का उग्र तपस्वी के रूप में तथा जैन वाङ्मय में कपिल का अत्यधिक उल्लेख है। इस प्रकार साम्य सिद्धिमूलक अहिंसा को समन्वय-धर्म के रूप में दोनों ने स्वीकार किया है। जिस शाखा ने साम्य-सिद्धि के लिए अपरिग्रह पर अधिक जोर दिया और परिवार तक के बंधन को अहिंसा या पूर्ण साम्य की सिद्धि के लिए व्यवधान माना, वही निर्ग्रन्थ नाम से प्रसिद्ध हुई। इन्हीं के प्रवर्तक नेमिनाथ एवं पार्श्वनाथ हुए।

असल में पूर्ण प्राणभूत साम्य-दृष्टि ही अहिंसा का आधार है। जैनश्रुत रूप में द्वादशांगी या चतुर्दशपूर्व में सामाइय (सामयिक) का स्थान प्रथम है जो आचारांग-सूत्र कहलाता है। इसमें साम्य-सिद्धि के लिए 'सम' 'शम' और 'श्रम' पर बल दिया जाता है। जिस प्रकार संध्या-वंदन ब्राह्मण-परम्परा का आवश्यक अंग है उसी प्रकार जैन-परम्परा में गृहस्थ एवं त्यागी सबों के लिए छः आवश्यक कर्म हैं जिनमें मुख्य 'सामाइय' है—'करेमि भंते सामाइयं'। सातवीं सदी में सुप्रसिद्ध जैन विद्वान् जिन-भद्रगणि ने सामाइय की प्रतिष्ठा के लिए विशेषावश्यकभाष्य नामक ग्रंथ लिखकर धर्म के अंगभूत श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र तीनों को ही सामाइय बताया। ब्राह्मण-

परम्परा में भी साम्यदृष्टि के प्रतीक को 'ब्रह्म' कहकर साम्यमूलक आचार-विचार को ब्रह्मचर्य कहा है। बौद्ध परम्परा में मैत्री, मुदिता, करुणादि भावनाओं को ही ब्रह्म-विहार माना गया है। धम्मपद (ब्राह्मणवग्ग—२६) एवं महाभारत के शांतिपर्व की तरह जैन (उत्तराध्ययन २५) में समत्व करने वाले श्रमण को ही ब्राह्मण कहकर श्रमण और ब्राह्मण के बीच समन्वय करने की चेष्टा की गयी है।

यह साम्य-दृष्टि ही जैन-संस्कृति का हृदय है जो विचार, वाणी और व्यवहार में अभिव्यक्त करने की कोशिश की गयी है। व्यवहार-साम्य—जैन संस्कृति का सब आचार-व्यवहार साम्य दृष्टि-मूलक अहिंसा के पास ही निर्मित हुआ है। मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट-पतंग ही नहीं वनस्पति और पार्थिव, जलीय आदि सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्राणियों तक की हिंसा से आत्मौपम्य या प्राणभूत अहिंसा भावना को चोट पहुँचती है। इसी की व्याख्या के लिए जैन परम्परा में चार विद्यायें फलित हुई हैं, जिनके आधार पर ही ज्ञान प्राप्तकर हम आचार की अहिंसा साध सकते हैं—आत्म-मीमांसा, कर्म-मीमांसा, चारित्र-मीमांसा एवं लोक-मीमांसा।

आत्म-मीमांसा—आत्मा का विचार जैनदर्शन में उपनिषद्-वेदान्त के ब्रह्म की तरह ही सर्वग्राही है। आत्मा कृमि-पिपीलिका-भ्रमर मनुष्य सबों में समान है। जीव-समानता के इस सैद्धान्तिक तात्त्विक विवेचन को जीवन-व्यवहार में यथासंभव उतारना ही अहिंसा है। जब सृष्टि के कण-कण में आत्मा व्याप्त है तो फिर हिंसा का स्थान ही कहाँ है ? यदि समानता की अनुभूति ही नहीं हो तो फिर आत्म-साम्य का सिद्धान्त ही झूठा है। आचारांग में कहा ही गया है कि "जैसे तुम अपने दुःख का अनुभव करते हो वैसा ही पर दुःख का अनुभव करो"।

उपनिषद् और वेदान्त भी अहिंसा का समर्थन अद्वैत के आधार पर करता है क्योंकि सारे जीव ब्रह्म के रूप हैं। 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म।' 'ईशावास्यमिदं सर्वम्।' 'तत्त्वमसि' या 'ब्रह्मास्मि' तो अद्वैत की पराकाष्ठा है। लेकिन विशिष्टाद्वैत में भी जीव ईश्वर का ही अंश है। अद्वैत-परम्परा जीव-भेद को मिथ्या मानकर अहिंसा का उद्बोधन करती है। जैन परम्परा में जीवात्मा का वास्तविक भेद स्वीकार कर भी तात्त्विक रूप से सबों को एक मानकर अहिंसा-धर्म को प्रतिष्ठित किया जाता है।

कर्म-मीमांसा—प्रश्न है जब तात्त्विक रूप से सब जीव समान हैं तो फिर उनमें विषमता क्यों है ? इस प्रश्न के उत्तर के लिए ही कर्मवाद लाया गया है। जैसा कर्म होगा, वैसा फल मिलेगा। वर्त्तमान का निर्माण अतीत के आधार पर

तथा अनागत का निर्धारण वर्त्तमान के आधार पर होगा। यही कार्य-कारणवाद भी है। यही पूर्वजन्म एवं पुनर्जन्म का आधार है। अपने एवं पराये की वास्तविक प्रतीति न होना ही जैन दृष्टि से दर्शन-मोह है जिसे सांख्य-बौद्ध-अद्वैत परम्परा में अविद्या या अज्ञान कहा गया है। यद्यपि राग-द्वेष ही हिंसा के प्रेरक हैं लेकिन सबका कारण यही अज्ञान या अविद्या या दर्शन-मोह है। आत्मा जब अपने स्वरूप को समझ नहीं पाता है तो वह राग-द्वेष के कारण हिंसा करता है।

चारित्र मीमांसा—चारित्र का उद्देश्य आत्मा को कर्म से मुक्त करना है। कर्म और आत्मा का सम्बन्ध अनादि है, पर व्यक्तिरूप से यह सम्बन्ध सादि है। आत्मा के साथ कर्म के प्रथम सम्बन्ध का प्रश्न व्यर्थ है। जैन परम्परा की तरह ही इसे न्याय-वैशेषिक-सांख्य-योग-वेदान्त-बौद्ध सबों ने मान लिया है। ब्रह्म के साथ माया, आत्मा के साथ अविद्या का सम्बन्ध अनादि है। सर्वथा कर्म मुक्ति से ही आत्मा का पूर्ण शुद्ध रूप प्रकट होता है। सर्वथा कर्म छूट जाने से आत्मा का भास्वर एवं शुद्ध स्वरूप प्रकट हो जाता है एवं राग-द्वेष जड़ से मुक्त हो जाता है। इस तरह चारित्र्य का कार्य वैषम्य के कारणों को दूर करना है जो 'संवर', 'निर्जरा' आदि है। आध्यात्मिक जीवन का विकास आन्तर चारित्र के विकास-क्रम पर निर्भर है। जैन परम्परा में चौदह गुणस्थान में 'बहिरात्मा', 'अन्तरात्मा' और 'परमात्मा' तीन भूमिकायें हैं। अन्तिम भूमिका में रागद्वेष का उच्छेद हो जाता है और अहिंसा तथा वीतरागत्व प्रकट होता है।

लोक-मीमांसा—जैन परम्परा में चेतन और अचेतन के परस्पर प्रभाव का ही यह संसार है। जैन परम्परा न्याय-वैशेषिक की तरह परमाणुवादी है, किन्तु इसका परमाणु न्याय-वैशेषिक की तरह कूटस्थ नहीं, बल्कि सांख्य की तरह परिणामी है। एक ही प्रकार के परमाणु से सब तरह की चीजें बनती हैं और वह इतना सूक्ष्म है कि सांख्य की प्रकृति की तरह अव्यक्त हो जाता है। जैन परम्परा का अनन्त परमाणुवाद प्राचीन सांख्य सम्मत पुरुषबहुत्त्व रूप प्रकृति-बहुत्त्ववाद से बहुत दूर नहीं है। जैन परम्परा सांख्य-योग-मीमांसा की तरह लोकप्रवाह को अनादि अनन्त मानती है। यानी कर्त्ता, संहर्त्ता रूप से ईश्वर जैसी सत्ता को नहीं माना गया है। प्रत्येक जीव अपनी-अपनी सृष्टि का आप ही कर्त्ता और अपना ही मुक्तिदाता है। इस तरह तात्त्विक दृष्टि से प्रत्येक जीव में ईश्वरभाव है।

विचार में साम्य : अनेकान्त—जैन परम्परा विचारों का सत्यलक्षी संग्रह होने के कारण किसी भी विचार सरणी की उपेक्षा नहीं करना चाहती है। यही

कारण है कि संग्रह-नय रूप से जहाँ सांख्य का सद्द्वैत लिया गया है वहीं ब्रह्माद्वैत के विचार विकास के लिए संग्रहनय रूप से ब्रह्माद्वैत विचार ने भी स्थान प्राप्त किया है। इसी तरह ऋजुसूत्र नय रूप से बौद्ध क्षणिकवाद तथा वैभाषिक, सौत्रान्तिक, विज्ञानवाद और शून्यवाद—इन चारों प्रसिद्ध बौद्ध शाखाओं का संग्रह हुआ।

संक्षेप में अनेकान्त-दृष्टि इतनी सर्वसंग्राहक है कि इसमें समन्वय की अपूर्व क्षमता है। यही उसका हृदय है। जैन परम्परा में सत्य प्रकाशन की शैली का ही नाम अनेकान्त है। अनेकान्त के मूल में दो तत्त्व हैं—पूर्णता और यथार्थता। जो पूर्ण है और पूर्ण होकर भी यथार्थ रूप से प्रतीत होता है, वही सत्य कहलाता है। एक तो वस्तु-स्वरूप इतना संश्लिष्ट है कि उसका त्रिकालाबाधित ज्ञान सम्भव नहीं और यदि हो भी जाय तो उसका कथन करना कठिन है। हम अपनी दृष्टि से यथार्थ का वर्णन कर सकते हैं लेकिन वह अपूर्ण ही होगा। अतः सत्यदर्शियों में भी भेद तो होंगे ही क्योंकि वे सब अपूर्णदर्शी हैं। इसलिए राग-द्वेष से मुक्त होकर तेजस्वी मध्यस्थ भाव रखकर निरन्तर जिज्ञासा करते जाना एवं विरोधी पक्षों पर आदर पूर्वक विचार करना तथा अपने पक्ष की भी तीव्र समालोचक दृष्टि रखना और अन्त में अपनी प्रज्ञा से विरोधों का समन्वय करना एवं जहाँ अपनी भूल हो वहाँ मिथ्याभिमान परित्याग कर परिष्कार कर आगे बढ़ना चाहिए।

इसी अनेकान्त से दो सिद्धान्त फलित हुए—नयवाद और सप्तभंगी। विचार की विभिन्न पद्धतियों के समन्वय करने का काम नयवाद करता है और किसी वस्तु के विषय में प्रचलित विरोधी कथनों का समन्वय सप्तभंगी का काम है। लेकिन दुर्भाग्य है कि उदारता की पराकाष्ठा पर पहुँच कर सत्य को प्रकाशित करने वाले इस अनेकान्त दर्शन को भी जैनेतर विद्वानों ने साम्प्रदायिक स्वरूप में ग्रहण कर उसे खण्डन करने का प्रयास किया है। बादरायण ने तो 'नैकस्मिन् असम्भवात्' (६।२।३३) सूत्र की रचना कर डाली जिसपर शंकर, रामानुज से लेकर डॉ. राधाकृष्णन् एवं पं. बलदेव उपाध्याय तक वेदान्त के आचार्यों ने दिक्भ्रमित भाष्य कर डाले। फिर तो वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्त्ति, प्रज्ञाकरगुप्त, अर्चट, शान्तिरक्षित आदि प्रभावशाली बौद्धों ने भी अनेकान्तवाद पर निर्मम प्रहार किया है। फिर तो जैन विचारकों को आत्मरक्षा के लिए उनका सामना करना ही था। इसी तरह एक प्रचण्ड विचार-संघर्ष का जन्म हुआ और अनेकान्त-दृष्टि का तर्कबद्ध विकास हुआ। लेकिन खण्डन-मण्डन के बावजूद अनेकान्त-दृष्टि का भारतीय संस्कृति पर व्यापक प्रभाव पड़ा। जैन विरोधी प्रखर आचार्य रामानुज ने मायावाद के विरोध में भले ही उपनिषद् का

सहारा लिया लेकिन विशिष्टाद्वैत के निरूपण में अनेकान्त-दृष्टि का उपयोग किया। ब्रह्म चित् भी है, अचित् भी, ऐसा सोच वस्तुतः अनेकान्त-दृष्टि का ही परिचायक है। पुष्टिमार्ग के पुरस्कर्त्ता वल्लभ शुद्धाद्वैत में और निम्बार्क ने द्वैताद्वैत में द्वैत और अद्वैत दोनों का समन्वय किया। यह भी समन्वयकारिणी अनेकान्त-दृष्टि ही है। यों तो वेद-उपनिषद् की भी विवेचना की जाय तो उनके वचनों को समझने के लिए अनेकान्त दृष्टि का ही संस्पर्श मिलेगा। नासदीयसूक्त में जगत् के कारण को **'न सत् न असत्'** कहा गया है। शायद शब्द में इतनी शक्ति नहीं कि उस परमतत्त्व को प्रकाशित कर सके। कहीं पर असत् से सत् की सृष्टि बतायी गयी है—**'असद्वा इदमग्र आसीत्'**—तैतिरीय २।७, तो कहीं सत् से सृष्टि बनने की बात है—**'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'**—छान्दोग्य ६।२, ईशावास्य में तो उस परमतत्त्व के वर्णन में **'तदेजति तन्नैजति, तद्दूरे तदन्तिके'** आदि कहकर और भी स्पष्ट किया गया है। पिप्पलाद ऋषि के अनुसार प्रजापति से सृष्टि हुई (प्रश्नोपनिषद् १।३।१३), किसी के अनुसार जल, किसी के अनुसार वाक्, अग्नि, आकाश, प्राण को विश्व का मूल कारण माना गया है। (बृहदारण्यक ५।५।१, छान्दोग्य, ४।३, कठोप, २।५।९, छान्दोग्य १।९।१, १।११।५ आदि)। इन सूत्रों का अर्थ है कि विश्व के कारण की जिज्ञासा में अनेक मतवादों का प्रादुर्भाव हुआ जिसका स्पष्ट संकेत वेद-उपनिषद् में मिलता है। मतों के इस जंजाल में भी समन्वय करने का प्रयास किया गया है। मानों जैसे सभी नदियाँ समुद्र में विलीन हो जाती हैं—

'उद्धाविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि नाथ दृष्टयः।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः॥

—सिद्धसेन द्वात्रिंशिका ४।१५

बुद्ध के विभज्यवाद और मध्यम प्रतिपदा के सिद्धान्त पर भी हम अनेकान्त-दृष्टि का संस्पर्श पाते हैं जब अंतों के मध्य में रहने का आदेश मिलता है। शाश्वतवाद और उच्छेदवाद आदि द्वन्द्वों के बीच समन्वय किया गया है। भगवान् बुद्ध द्वारा लोक-संज्ञा, लोक-निरुक्ति, लोक-व्यवहार एवं लोक-प्रज्ञप्ति का आश्रय लेने का स्पष्ट संकेत है। बुद्ध ने कहा है—'हे माणवक! मैं यहाँ विभज्यवादी हूँ, एकांशवादी नहीं।' (मज्झिम निकाय—सुत्त ९९)। हाँ भगवान् बुद्ध का विभज्यवाद कुछ मर्यादित क्षेत्र में था, किन्तु महावीर का क्षेत्र व्यापक था। इसी कारण विभज्यवादी होते हुए भी बौद्ध दर्शन अनेकान्त की ओर काफी अग्रसर हुआ है। महावीर ने विभज्यवाद का क्षेत्र व्यापक बनाया है एवं विरोधी धर्मों के अनेक अन्तों को एक ही काल में और एक ही व्यक्ति में अपेक्षा भेद से घटाया है। इसी कारण विभज्यवाद का अर्थ अनेकान्त

वाद या स्याद्वाद हुआ। विरोधी धर्मों को स्वीकार करना विभज्यवाद का मूलाधार है, जबकि तिर्यक् और उर्ध्वता दोनों प्रकार के सामान्यों के पर्यायों में विरोधी धर्मों का स्वीकार करना अनेकान्तवाद का मूलाधार है। अतः इस दृष्टि से अनेकान्तवाद विभज्यवाद का ही विकसित रूप है। बुद्ध की समन्वय-भावना सिंह सेनापति के साथ संवाद से स्पष्ट होती है जब उन्होंने अपने को अक्रियावादी और क्रियावादी दोनों बताया। (विनयपिटक, महावग्ग—६।३१)

व्यवहार में अनेकान्त का उपयोग नहीं होने का परिणाम है, हिंसा का विस्तार। अनेकान्त और उसकी आधारभूत अहिंसा का ही परिणाम है कि जैन धर्म अन्य कई धर्मों की तरह कभी भी विस्तारवादी नहीं बना। ज्ञान, विचार, आचरण और वाणी के किसी भी एक विषय को केवल संकीर्ण दृष्टि की अपेक्षा अनेक दृष्टियों से और अधिक से अधिक मार्मिक रीति से विचारने और आचरण करने का जैन-संस्कृति ने आग्रह रखा है। वस्तुतः अनेकान्त जैन-संस्कृति की जीवन-पद्धति है जो सभी दिशाओं से खुला एक मानस-चक्षु है। उसके आगे-पीछे, भीतर-बाहर सर्वत्र ही सत्य का प्रवाह है। अतः यह कोई कल्पना नहीं, परन्तु सत्य सिद्ध तत्त्वज्ञान है। जीवित अनेकान्त पुस्तकों में नहीं जीवन में मिलेगा जब हम दूसरे विषयों को सब ओर से तटस्थ रूप से देखने, विचारने और अपनाने के लिए प्रेरित होंगे। विचारों की जितनी तटस्थता, स्पष्टता, निस्पृहता अधिक होगी, अनेकान्त का बल उतना ही अधिक होगा। हमें यह सोचना चाहिए कि समन्वय जीवन की एक अनिवार्य विवशता है। लेकिन बिना समझे-बूझे या दूसरों की देखा देखी से लाया जाने वाला अनेकान्त न तो तेजस्वी होगा, न उसमें प्राण ही होगा। अतः हमें मानस-अहिंसा के रूप में अनेकान्त को स्वीकार कर समन्वय की साधना को तेजस्वी बनाना चाहिए।

विश्व का विचार करने वाली दो परस्पर भिन्न दृष्टियाँ हैं—एक है सामान्य-गामिनी दृष्टि, दूसरी है विशेषगामिनी दृष्टि। सामान्यगामिनी दृष्टि शुरु में तो सारे विश्व में समानता देखती है और धीरे-धीरे अभेद की ओर झुकते-झुकते एकता की भूमिका पर आती है। जबकि विशेषगामिनी दृष्टि केवल विभेद ही विभेद देखती है। भेदवाद-अभेदवाद, सद्वाद-असद्वाद, निर्वचनीय-अनिर्वचनीयवाद, हेतुवाद-अहेतुवाद आदि का समन्वय अनेकान्त-दृष्टि से सम्भव है। प्रत्येक युक्तिवाद अमुक-अमुक दृष्टि से अमुक-अमुक सीमा तक अपने को सत्य मानता है। इस प्रकार से सभी युक्तिवाद वास्तविक हैं, हाँ अपनी-अपनी अपेक्षा से। यद्यपि वैदिक दर्शन के न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, वेदान्त और बौद्ध-दर्शन में किसी एक वस्तु के विविध दृष्टियों से निरूपण

की पद्धति तथा अनेक पक्षों के समन्वय की दृष्टि है, किन्तु उसके प्रत्येक पहलू पर सम्भावित समग्र दृष्टि बिन्दुओं से एकमात्र समन्वय में ही विचार की परिपूर्णता मानने का दृढ़ आग्रह जैन-परम्परा की अपनी विशेषता है। इसलिए स्याद्वाद को विश्व विजेता निष्कंटक राजा कहा गया है—' एवं विजयिनि निष्कंटके स्याद्वाद-महानरेन्द्र।' यों ऋग्वेद का वचन 'एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति' (१।१६४।४६) वस्तुतः समन्वयकारी अनेकान्त का बीज-वाक्य है। जो भी हो, हमें मानना होगा कि जैन-दर्शन ने प्रमेय का स्वरूप उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य यानी त्रिलक्षण परिणामवाद को मानकर तत्त्वमीमांसा के क्षेत्र में एक विशिष्ट समन्वयवाद उपस्थित किया है। यही नहीं आचार प्रधान जैन धर्म ने तत्त्वज्ञान का उपयोग भी आचार-शुद्धि के लिए ही किया है। इसीलिए तर्क जैसे शुष्क शास्त्र का उपयोग भी जैनाचार्यों ने समन्वय के लिए किया है। दार्शनिक-संघर्ष एवं वाद-विवाद के युग में भी समता, उदारता और समन्वय-दृष्टि की जैन तार्किक परम्परा में अद्भुत अभिव्यक्ति मिलती है। हेमचन्द्र ने कहा है—

भवबीजांकुरजनना रागाद्याः क्षयमुपागताः यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥

हरिभद्र तो और भी अधिक प्रगल्भ दीखते हैं—

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥

असत् में जब वस्तुस्थिति की अनन्तधर्मात्मकता मानवीय ज्ञान की दुःखद सीमायें, शब्द का अत्यल्प सामर्थ्य, तथा अभिप्राय की विविधता का जब विचार करते हैं तो उसका निरूपण करना कोई सामान्य कार्य नहीं। इसीलिए जैनों ने आचार में अहिंसा, विचार में अनेकान्त, वाणी में स्याद्वाद तथा समाज में अपरिग्रह, ये चार स्तम्भ माने जिन पर उनका सर्वोदयी भव्य प्रासाद खड़ा है। जैन दर्शन की भारतीय दर्शन को यही देन है कि इसने वस्तु के विराट स्वरूप को सापेक्ष दृष्टिकोणों से देखना सिखाया, सावधानी पूर्वक सापेक्ष भाव से बोलना सिखाया और हर जीव को जीने का समान अधिकार मान सब के साथ अहिंसा का व्यवहार करना सिखाया तथा समाज में समता के लिए अपरिग्रह बताया।

दर्शन विभाग,
भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर, (विहार)

जैन एवं बौद्धधर्म

डॉ. कोमलचन्द्र जैन

श्रमण संस्कृति की दो प्रमुख धाराएँ आज भी भारतीय संस्कृति में अपने प्रभावशाली अस्तित्व के साथ प्रवाहित हैं। उनमें से एक धारा जैनधर्म के रूप में तथा दूसरी धारा बौद्धधर्म के रूप में पाँच व्रतों तथा पाँच शीलों का उपदेश जन-कल्याण के लिए दे रही है।

जैनधर्म एवं बौद्धधर्म में अनेक समानताएँ है। इन्हीं समानताओं के आधार पर प्रो. लासेन आदि विद्वानों ने बुद्ध एवं महावीर को एक ही व्यक्ति बता दिया। कुछ समय बाद प्रो. वेबर ने यह खोज की कि महावीर एवं बुद्ध दो अलग-अलग व्यक्ति थे, किन्तु जैनधर्म बौद्धधर्म की एक शाखा मात्र है। इस खोज से जैनधर्म को पृथक् धर्म न मानकर कुछ दिनों तक बौद्धधर्म की शाखा मात्र माना गया। अन्त में प्रो. याकोबी ने उक्त मत का खण्डन करते हुए यह सिद्ध किया कि जैनधर्म बौद्धधर्म से पृथक् न केवल स्वतन्त्र धर्म है, अपितु वह बौद्धधर्म से प्राचीन भी है। बुद्ध के समकालीन महावीर तो जैनधर्म के अन्तिम तीर्थंकर मात्र थे। उक्त मतों से जहाँ यह सिद्ध होता है कि जैनधर्म एक स्वतन्त्र एवं बौद्धधर्म से प्राचीन धर्म है, वहीं यह भी प्रमाणित होता है कि इन दोनों धर्मों में अनेक समानताएँ हैं, अन्यथा प्रो. लासेन एवं प्रो. वेबर को एकत्व का भ्रम न होता।

अब प्रश्न यह है कि वे कौन-सी समानताएँ हैं जिनके आधार पर कुछ विद्वानों को भगवान् महावीर एवं भगवान् बुद्ध में एकत्व का भान हुआ तथा कुछ को जैनधर्म बौद्धधर्म की शाखा मात्र प्रतीत हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि यदि उन समानताओं को दृष्टि में रखकर यदि दोनों धर्मों का अध्ययन किया जाए तो श्रमण संस्कृति का एक सुन्दर रूप उपस्थित हो सकता है। दुर्भाग्यवश इन दोनों धर्मों में निहित असमानताओं को महत्त्व देते हुए उन धर्मों का अध्ययन किया जाता है। फलस्वरूप ये दोनों धर्म न केवल एक-दूसरे से असम्बद्ध प्रतीत होते हैं, अपितु विरोधी भी लगते हैं। इन दोनों धर्मों का जो व्याख्यापरक साहित्य है उसमें असमानता को ही प्रमुख आधार बनाकर एक दूसरे का खण्डन किया गया है। परिणाम स्वरूप जब जैनधर्म एवं बौद्धधर्म से अनभिज्ञ कोई जिज्ञासु पाठक दोनों धर्मों के व्याख्यापरक साहित्य को पढ़ता है तो वह यही निष्कर्ष निकालने के लिए विवश हो जाता है कि ये दोनों धर्म न केवल एक दूसरे के प्रतिकूल हैं अपितु भगवान् महावीर एवं भगवान् बुद्ध स्वयं सैद्धान्तिक मतभेद रखते थे। और जब इस प्रकार के निष्कर्ष प्रकाशित किये जाते हैं तो उससे श्रमण संस्कृति की छवि धूमिल ही होती है।

आज आवश्यकता इस बात की है कि विभिन्नता में एकता की खोज की जाए और उसी एकता के सूत्र में बंधकर श्रमण संस्कृति के आदर्शों को जन-जन तक पहुँचाया जाए। श्रमण संस्कृति के समान एवं लोकोपयोगी सिद्धान्तों के आधार पर श्रमण संस्कृति का एक ऐसा रूप प्रस्तुत किया जाए, जिसमें भेद की गन्ध न आए, अपितु एकता की सुरभि से जन साधारण का मानस शान्ति एवं सुख की अनुभूति करे। इसी भावना से प्रेरित होकर यहाँ जैनधर्म एवं बौद्धधर्म में निहित जन-कल्याण से सम्बन्धित सामान्य सिद्धान्तों पर सरसरी दृष्टि डाली जा रही है।

श्रमण के लिए प्राकृत एवं पालि में समण शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है। समण शब्द का सामान्य अर्थ साधु है। जैनधर्म एवं बौद्धधर्म दोनों में ही श्रमण या साधु या भिक्षु की तीन विशेषताओं को महत्त्व दिया गया है। पहली विशेषता है परिश्रम करना। परिश्रम का अभिप्राय तपस्या से है। अतः दोनों ही धर्मों में व्यक्ति तपस्या या साधना से संसार-चक्र से मुक्ति रूप अपने उत्कर्ष को प्राप्त करता है। दूसरी विशेषता है समभाव रखना। दोनों ही धर्मों में साधु या भिक्षु को प्राणिमात्र के प्रति समभाव रखने का बार-बार उपदेश दिया गया है। साधु या भिक्षु तभी अपनी उत्कर्ष अवस्था को प्राप्त कर सकता है जब वह राग एवं द्वेष की भावना से ऊपर विश्वप्रेम या विश्वबन्धुत्व का प्रतीक बन जाए। तीसरी विशेषता है शान्त करना। साधु या भिक्षु के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी तपस्या से मन की अकुशल वृत्तियों का शमन करे। अतः जैनधर्म एवं बौद्धधर्म में श्रम, सम एवं शम को उत्कर्ष के लिए समान महत्त्व प्रदान किया गया है।

इसी प्रकार संसार एवं संसार के कारण में भी दोनों धर्मों में समानता दृष्टि-गोचर होती है। दोनों ही धर्मों में ईश्वर की प्रभुता का सिद्धान्त मान्य नहीं है तथा कर्म सिद्धान्त को महत्त्व प्रदान किया गया है। इतना अन्तर अवश्य है कि जहाँ जैन-धर्म में आध्यात्मिक रूप को अधिक महत्त्व प्रदान किया गया है वहीं बौद्धधर्म में व्यावहारिक रूप को। इसी कारण दोनों धर्मों के अहिंसा के सिद्धान्तों में भी अन्तर है। जैनधर्म के अनुसार व्यक्ति जब किसी की हिंसा का संकल्प करता है तभी वह हिंसा जन्य पाप से कलुषित हो जाता है किन्तु बौद्धधर्म में व्यक्ति तभी हिंसा के पाप से दूषित होता है जब वह हिंसा का विचार करता है फिर हिंसा करता है और हिंसा करने के बाद पश्चात्ताप नहीं करता है। दूसरे शब्दों में बौद्धधर्म के अनुसार हिंसा वहीं मानी जाती है जहाँ आधुनिक भारतीय संविधान की धारा ३०२ लागू होती है। जैसे हिंसा का प्रयत्न करने वाले किन्तु हिंसा के प्रयत्न में असफल रहने वाले व्यक्ति को धारा ३०२ के अन्तर्गत दण्ड न देकर धारा ३०७ के अन्तर्गत दण्ड

दिया जाता है वैसे ही हत्या के प्रयत्न में लीन किन्तु हत्या में असफल व्यक्ति हिंसा के पूर्ण पाप को प्राप्त नहीं करता है।

जैनधर्म एवं बौद्धधर्म में भेद का प्रमुख आधार आत्मा सम्बन्धी मान्यता है। जैनधर्म में आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व माना गया है तथा उसकी मुक्ति का उपाय भी प्रतिपादित है। किन्तु बौद्धधर्म में आत्मा की चर्चा उपलब्ध नहीं होती है। बौद्ध, दर्शन के ग्रन्थों में तो आत्मा के अस्तित्व का विभिन्न तर्कों के आधार पर खण्डन भी उपलब्ध होता है। इससे जैनधर्म एवं बौद्धधर्म के परस्पर विरोधी होने का आभास मिलता है। किन्तु यदि आत्मा सम्बन्धी भगवान् बुद्ध के विचारों पर ध्यान दें तो एतद् विषयक विरोध सरलता से दूर हो जाता है।

भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेशों में कहीं भी आत्मा के अस्तित्व का खण्डन नहीं किया है। जब उन्होंने देखा कि आत्मा के सिद्धान्त की ओट लेकर वैदिक संस्कृति में नाना अनर्थ हो रहे हैं। भोग की प्राप्ति के लिए हिंसा तथा शोषण बढ़ता जा रहा है तथा कुछ लोग अपने भौतिक स्वार्थ के वशीभूत होकर **'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति'** का नारा बुलन्द कर रहे हैं। एक अदृश्य सत्ता के लिए आदमी इतना पागल हो गया है कि उसकी दृष्टि में दूसरे प्राणियों का कुछ भी महत्त्व नहीं रहा है। क्रियाकाण्ड का इतना अधिक बोलबाला हो गया कि हजारों निरीह मूक पशुओं की यज्ञ में आहुति दे देना एक अच्छा कार्य माना जाने लगा तब उन्होंने जनसाधारण का ध्यान आत्मा के सिद्धान्त से उत्पन्न पागलपन से हटाने के लिए व्यावहारिक सदाचरण की आवाज उठायी। जब बुद्ध से पूछा जाता था कि 'आप कहते हैं मनुष्य दुःख भोगता है, मनुष्य मुक्त होता है तो आखिर यह दुख भोगने वाला तथा दुःख से मुक्त होने वाला कौन है ? तो बुद्ध इसका उत्तर देते हुए कहते थे कि तुम्हारा यह प्रश्न ही गलत है। प्रश्न यों होना चाहिए कि क्या होने से दुःख होता है और उसका उत्तर यह है कि तृष्णा के होने से दुःख होता है। इसी प्रकार तृष्णा किसे होती है ? यह प्रश्न न होकर क्या होने से तृष्णा होती है, यह प्रश्न होना चाहिए; तथा इसका उत्तर है कि वेदना होने से तृष्णा होती है। आदि। किन्तु इसके साथ ही साथ उन्होंने अपने उपदेशों में इस बात का सदैव संकेत किया कि वे अजन्मा अनश्वर सत्ता को भी मानते हैं। इतना अवश्य था कि उन्होंने लोक-कल्याण के लिए आत्मा के अस्तित्व का विवेचन उचित न समझ उसे अव्याकृत कोटि में डाल दिया था।

भगवान् बुद्ध के आत्मा विषयक मत पर यदि सुलझी दृष्टि से विचार किया जाय तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उन्होंने आत्मा का खण्डन न कर उसके व्यावहारिक पक्ष पर जोर दिया था।

मोक्ष एक अन्य ऐसा विषय है जिससे दोनों धर्मों में मतभेद प्रतीत होता है। जैनधर्म में मोक्ष का विशद वर्णन है, किन्तु बौद्धधर्म के अनुसार विज्ञान की सन्तति का निरुद्ध हो जाना निर्वाण है। इसी को परवर्त्ती बौद्ध साहित्य में प्रदीप के बुझ जाने की उपमा दी गयी है। किन्तु दोनों ही धर्मों में मुक्तावस्था या निर्वाणावस्था की प्राप्ति अभीष्ट है। गम्भीरतापूर्वक विचारने पर मोक्ष तथा निर्वाण में भी कोई विरोध नज़र नहीं आता है। बौद्धधर्म की विज्ञान-सन्तति अविद्या एवं संस्कार जन्य होने से संसार में विद्यमान रहती है तथा निर्वाण में इस विज्ञान-सन्तति का पूर्णरूपेण विनाश हो जाता है। जैनधर्म में भी निर्वाणावस्था में आत्मा के कर्मजन्य कलुषित रूप की समाप्ति अभीष्ट है। अतः कर्मबन्ध को तथा विज्ञान-सन्तति को पर्याय मानने से दोनों ही धर्मों में निर्वाण एक जैसा ही है। जहाँ तक आत्मा के शुद्ध रूप की बात है भगवान् बुद्ध उसे तो अव्याकृत कोटि में डाल ही चुके थे।

जैनधर्म में मोक्ष का मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र—इन तीनों का एक साथ होना माना गया है। बौद्धधर्म में भी श्रेष्ठ अष्टांगिक मार्ग को मोक्ष का मार्ग कहा गया है। इस अष्टांगिक मार्ग को शील (सम्यग्वाचा, सम्यक्कर्मान्त एवं सम्यग्-आजीविका), समाधि (सम्यग्व्यायाम, सम्यक्स्मृति एवं सम्यक्समाधि), तथा प्रज्ञा में (सम्यग्दृष्टि एवं सम्यक्संकल्प) में विभक्त किया गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनधर्म के सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र बौद्धधर्म के प्रज्ञा, समाधि एवं शील के अनुरूप हैं। इतना अन्तर अवश्य है कि जहाँ जैनधर्म में मोक्षमार्ग का मूल आधार सम्यग्दर्शन को माना गया है वहीं बौद्धधर्म में शील को प्रथम स्थान दिया गया है तथा शील को ही मोक्ष मार्ग का आधार माना गया है। इसका मुख्य कारण जनसाधारण का ध्यान आत्मा के ऊहापोह से हटाकर सदाचार की ओर आकर्षित करना था।

सारांश यह कि जैनधर्म एवं बौद्धधर्म न केवल श्रमण संस्कृति की दो धाराएँ हैं, अपितु आपस में एक-दूसरे की पूरक भी हैं। जो व्यक्ति आत्मा के नाम पर होने वाले अनाचार से खिन्न होकर आत्मा के अस्तित्व की उपेक्षा कर संसार के दुःखों से शान्ति चाहता है उसे बौद्धधर्म का सहारा लेना चाहिए, किन्तु जो व्यक्ति आत्मा के अस्तित्व पर श्रद्धा रखकर संसार के दुःखों से मुक्ति चाहता है, उसे जैनधर्म में बताया गया मोक्षमार्ग अनुकूल होगा।

पालि एवं बौद्ध अध्ययन विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, उत्तर प्रदेश।

भारतीय संस्कृति में जैनधर्म

प्रो. कृष्णदत्त वाजपेयी

भारत का प्राचीन इतिहास समन्वयात्मक भावना से ओतप्रोत था। इस देश में अनेक भौगोलिक, जनपदीय विभिन्नताओं के होने पर भी सांस्कृतिक दृष्टि से यह देश एक था। इस संश्लिष्ट संस्कृति के निर्माण में भारतीय धार्मिक-सामाजिक प्रणेताओं तथा आचार्यों का प्रभूत योगदान रहा है।

हमारे मनीषी संस्कृति-निर्माताओं ने देश के विभिन्न भागों में विचरण कर सच्चे जीवन-दर्शन का संदेश फैलाया। धीरे-धीरे भारत और उसके बाहर अनेक संस्कृति-केन्द्रों की स्थापना हुई। इन केन्द्रों पर समय-समय पर विभिन्न मतावलम्बी लोग मिलकर विचार-विमर्श करते थे। सांस्कृतिक विकास में इन केन्द्रों का बड़ा योगदान था। भारत में तक्षशिला, मथुरा, वाराणसी, नालन्दा, विदिशा, विक्रम-शिला, देवगढ़, वलभी, प्रतिष्ठान, कांची, श्रवणवेलगोल आदि अनेक सांस्कृतिक केन्द्र स्थापित हुए।

ईसा से कई शताब्दी पूर्व मथुरा में एक बड़े जैन स्तूप का निर्माण हुआ। जिस भूमि पर वह स्तूप बनाया गया वह अब 'कंकाली टीला' कहलाता है। इस टीले के एक बड़े भाग की खुदाई पिछली शताब्दी के अन्तिम भाग में हुई थी, जिसके फलस्वरूप एक हजार से ऊपर विविध पाषाण मूर्तियाँ मिलीं। हिन्दू और बौद्ध धर्म-सम्बन्धी कुछ इनी-गिनी मूर्तियों को छोड़कर इस खुदाई में प्राप्त शेष सभी मूर्तियाँ जैन धर्म से सम्बन्धित हैं। उनके निर्माण का समय ई. पू. प्रथम शती से लेकर ११०० ई. तक है। कंकाली टीला तथा ब्रज क्षेत्र के अन्य स्थानों से प्राप्त बहुसंख्यक जैन मन्दिरों एवं मूर्तियों के अवशेष इस बात के सूचक हैं कि वहाँ एक लम्बे समय तक जैन धर्म का विकास होता रहा।

बौद्धों ने भी मथुरा में अपने कई केन्द्र बनाये, जिनमें चार मुख्य थे—सबसे बड़ा केन्द्र उस स्थान के आस-पास था, जहाँ आजकल कलक्टरी कचहरी है। दूसरा शहर के उत्तर में यमुना किनारे गौकर्णेश्वर और उसके उत्तर की भूमि पर था। तीसरा यमुना तट पर, ध्रुवघाट के आस-पास था। चौथा केन्द्र श्रीकृष्ण जन्मस्थान के पास गोविन्दनगर क्षेत्र में था। हाल में वहाँ से बहुसंख्यक कलाकृतियों तथा अभिलेखों की

प्राप्ति हुई है, जो राज्य संग्रहालय मथुरा में सुरक्षित हैं। अनेक हिन्दू देवताओं की प्रतिमाओं की तरह भगवान् बुद्ध की मूर्ति का निर्माण सबसे पहले मथुरा में हुआ। भारत के प्रमुख चार धर्म—भागवत्, शैव, जैन तथा बौद्ध—ब्रज की पावन भूमि पर शताब्दियों तक साथ-साथ पल्लवित-पुष्पित होते रहे। उनके बीच ऐक्य के अनेक सूत्रों का प्रादुर्भाव ललित कलाओं के माध्यम से हुआ, जिससे समन्वय तथा सहिष्णुता की भावनाओं में वृद्धि हुई। इन चारों धर्मों के केन्द्र प्रायः एक-दूसरे के समीप थे। बिना पारस्परिक द्वेषभाव के वे कार्य करते रहे।

भारत का एक प्रमुख धार्मिक कला का केन्द्र होने के नाते मथुरा को प्राचीन सभ्य संसार में बड़ी ख्याति प्राप्त हुई। ईरान, यूनान और मध्य एशिया के साथ मथुरा का सांस्कृतिक सम्पर्क बहुत समय तक रहा। उत्तर-पश्चिम में गंधार प्रदेश की राजधानी तक्षशिला की तरह मथुरा नगर विभिन्न संस्कृतियों के पारस्परिक मिलन का एक बड़ा केन्द्र बना। इसके फलस्वरूप विदेशी कला की अनेक विशेषताओं को यहाँ के कलाकारों ने ग्रहण किया और उन्हें देशी तत्त्वों के साथ समन्वित करने में कुशलता का परिचय दिया। तत्कालीन एशिया तथा यूरोप की संस्कृति के अनेक उपादानों को आत्मसात् कर उन्हें भारतीय तत्त्वों के साथ एकरस कर दिया गया। शकों तथा कुषाणों के शासनकाल में मथुरा में जिस मूर्तिकला का बहुमुखी विकास हुआ उसमें समन्वय की यह भावना स्पष्ट रूप से देखने को मिलती है।

वैदिक पौराणिक धर्म के विकास को जानने तथा विशेष रूप से स्मार्त-पौराणिक देवी-देवताओं के मूर्तिविज्ञान को समझने के लिए ब्रज की कला में बड़ी सामग्री उपलब्ध है। ब्रह्मा, शिव, वासुदेव, विष्णु, देवी आदि की अनेक मूर्तियाँ ब्रज में मिली हैं, जिनका समय ईस्वी प्रथम शती से लेकर बारहवीं शती तक है। विष्णु की कई गुप्तकालीन प्रतिमाएँ अत्यन्त कलापूर्ण हैं। कृष्ण, बलराम की भी कई प्राचीन मूर्तियाँ मिली हैं। बलराम की सबसे पुरानी मूर्ति ई. पूर्व दूसरी शती की है, जिसमें वे हल और मूसल धारण किये दिखाये गये हैं। अन्य हिन्दू देवता जिनकी मूर्तियाँ मथुरा कला में मिली हैं, कार्तिकेय, गणेश, इन्द्र, अग्नि, सूर्य, कामदेव, हनुमान आदि हैं। देवियों में लक्ष्मी, सरस्वती, पार्वती, महिषमर्दिनी, सिंहवाहिनी, दुर्गा, सप्तमातृका, वसुधारा, गंगा-यमुना आदि के मूर्तरूप मिले हैं। शिव तथा पार्वती के समन्वित रूप अर्धनारीश्वर की भी कई प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं।

ब्रज में प्राप्त जैन अवशेषों को तीन मुख्य भागों में बाँटा जा सकता है—तीर्थंकर प्रतिमाएँ, देवियों की मूर्तियाँ और आयागपट्ट। चौबीस तीर्थंकरों में से अधिकांश

की मूर्तियाँ ब्रज की कला में उपलब्ध हैं। नेमिनाथ की यक्षिणी अम्बिका तथा ऋषभनाथ की यक्षिणी चक्रेश्वरी की मूर्तियाँ उल्लेखनीय हैं। आयागपट्ट प्रायः वर्गाकार शिलापट्ट होते थे, जो पूजा में प्रयुक्त होते थे। उन पर तीर्थंकर, स्तूप, स्वस्तिक, नंद्यावर्त आदि पूजनीय चिह्न उत्कीर्ण किये जाते थे। मथुरा संग्रहालय में एक सुन्दर आयागपट्ट है जिसे उस पर लिखे हुए लेख के अनुसार लवणसोमिका नामक एक गणिका की पुत्री वसु ने बनवाया था। इस आयागपट्ट पर एक विशाल स्तूप का अंकन है तथा वेदिकाओं सहित तोरणद्वार बना है। मथुरा कला के कई उत्कृष्ट आयागपट्ट लखनऊ संग्रहालय में है। रंगवल्ली का प्रारम्भिक सज्जा-अलंकरण इन आयागपट्टों में दर्शनीय है।

मथुरा के समान भारत का एक बड़ा सांस्कृतिक केन्द्र विदिशा-साँची क्षेत्र था। वहाँ वैदिक-पौराणिक, जैन तथा बौद्ध धर्म साथ-साथ शताब्दियों तक विकसित होते रहे। विदिशा के समीप दुर्जनपुर नामक स्थान से कुछ समय पूर्व में तीन अभिलिखित तीर्थंकर प्रतिमाएँ मिली हैं। उन पर लिखे हुए ब्राह्मी लेखों से ज्ञात हुआ है कि ई. चौथी शती के अन्त में इस स्थल पर वैष्णव धर्मानुयायी गुप्त वंश के शासक रामगुप्त ने कलापूर्ण तीर्थंकर प्रतिमाओं की प्रतिष्ठापना करायी। सम्भवतः कुल प्रतिमाओं की संख्या चौबीस थी। विदिशा नगर के निकट एक ओर उदयगिरि की पहाड़ी में वैष्णव धर्म का केन्द्र था, दूसरी ओर पास ही साँची में बौद्ध केन्द्र था। जैन-धर्म के समता-भाव का इस समस्त क्षेत्र में प्रभाव पड़ा। बिना किसी द्वेष के सभी धर्म यहाँ संवर्द्धित होते रहे।

इस प्रकार के उदाहरण कौशाम्बी, देवगढ़, (जिला ललितपुर, उ. प्र.) खजुराहो, मल्हार (जिला विलासपुर म. प्र.), एलोरा आदि में मिले हैं। दक्षिण भारत में वनवासी, काँची, मूडबिद्री, धर्मस्थल, कारकल आदि ऐसे बहुसंख्यक स्थानों में विभिन्न धर्मों के जो स्मारक विद्यमान हैं उनसे इस बात का पता चलता है कि समवाय तथा सहिष्णुता को हमारी विकासशील संस्कृति में प्रमुखता दी गयी थी।

विभिन्न धर्मों के आचार्यों ने समवाय भावना को विकसित तथा प्रचारित करने में उल्लेखनीय कार्य किए। जैन-धर्म में आचार्य कालक, कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, हेमचन्द्र, देवकीर्ति आदि ने इस दिशा में बड़े सफल प्रयत्न किए। जनसाधारण में ही नहीं, समुद्र-व्यवसायी वर्ग तथा राजवर्ग में इन तथा अन्य आचार्यों का प्रभूत प्रभाव था। पारस्परिक विवादों को दूर करने तथा राष्ट्रीय भावना के विकास में

उनके कार्य सदा स्मरणीय रहेंगे। जैन धर्माचार्यों ने दक्षिण भारत के दो प्रसिद्ध राजवंशों—राष्ट्रकूट तथा गंग वंश—के तीव्र विवादों को दूर कर उनमें मेल कराया। अनेक आचार्य मार्ग की कठिनाइयों की परवाह न कर दूर देशों में जाते थे। कालकाचार्य, कुमारजीव, दीपंकर, अतिशा आदि के उदाहरण हमारे सामने हैं। पश्चिमी एशिया, मध्य एशिया, चीन, तिब्बत तथा दक्षिण-पूर्व एशिया के अनेक देशों में इन विद्वानों ने भारतीय संस्कृति का संदेश फैलाने में बड़ा कार्य किया। उनका सन्देश समस्त जीवों के कल्याण हेतु था। दीपंकर के बारे में प्रसिद्ध है कि जब उन्हें ज्ञात हुआ कि भारत पर विदेशी आक्रमणों की घटा उमड़नेवाली है तब वे तिब्बत को (जहाँ वे उस समय थे) छोड़कर भारत आये। यहाँ वे बंगाल के पाल शासक नयपाल से मिले और फिर कलुचरि-शासक लक्ष्मीकर्ण के पास गए। इन दोनों प्रमुख भारतीय शासकों को उन्होंने समझाया कि आपसी झगड़े भूलकर दोनों शासक शत्रु का पूरी तरह मुकाबला करें, जिससे देश पर विदेशी अधिकार न होने पाये। इस यात्रा में आचार्य दीपंकर को लम्बे मार्ग की अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। परन्तु राष्ट्र-हित के सामने ये सब कष्ट उनके लिए नगण्य थे।

श्रवणबेलगोल के लेखों से ज्ञात हुआ है कि वहाँ विभिन्न कालों में अनेक प्रसिद्ध विद्वान् थे। ये विद्वान् जैन-शास्त्रों के अतिरिक्त अन्य धर्मों के शास्त्रों में भी प्रवीण थे। अन्य धर्माचार्यों के साथ उनके शास्त्रार्थ होते थे, परन्तु वे कटुता और द्वेष की भावना से न होकर बौद्धिक स्तर के होते थे।

गुप्त-युग के पश्चात् भारत में बौद्ध धर्म का प्रभाव अत्यन्त सीमित क्षेत्र पर रह गया। इसमें पूर्वी भारत तथा दक्षिण कौशल एवं उड़ीसा के ही कुछ भाग थे। दूसरी ओर जैन-धर्म का व्यापक प्रसार प्रायः सम्पूर्ण देश में व्याप्त हो गया। इधर वैष्णवों, शैवों ने अपने धर्मों में अन्य विचारधाराओं के कल्याणकारी तत्त्वों को अन्तर्भुक्त कर उदा ता का परिचय दिया। मध्यकाल में उत्तर तथा दक्षिण भारत में वैष्णव तथा शैव धर्मों का प्रचार बहुत बढ़ा। जैन-धर्मावलम्बियों ने उनके उदार दृष्टिकोण के संवर्धन में योग दिया। जैनाचार्यों ने अपने धर्म के अनेक कल्याणप्रद तत्त्वों को उन धर्मों में समन्वित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न किया।

यहाँ यह बात विचारणीय है कि भारतीय इतिहास के मध्यकाल में अनेक राजनीतिक तथा सामाजिक परिवर्तन हुए। अब वैदिक-पौराणिक धर्म ने एक नया रूप ग्रहण किया। पशु बलि वाले यज्ञ तथा तत्संबंधी जटिल क्रिया-कलाप प्रायः समाप्त

कर दिये गये। नये स्मार्त धर्म ने देश-काल के अनुरूप धर्म-दर्शन के नये आयाम स्थापित किये। जैनधर्म के अहिंसा तथा समता भाव ने इन आयामों के निर्माण को प्रोत्साहन दिया। वर्णाश्रम, संस्कार, प्रशासन, अर्थनीति आदि की तत्कालीन व्यवस्था का जैन धर्म ने विरोध नहीं किया, अन्यथा अनेक सामाजिक जटिलताएँ उपस्थित होतीं। जैन शासकों, व्यापारियों तथा अन्य जैन धर्मावलंबियों ने उन सभी कल्याणकारी परिवर्तनों को प्रेरणा दी तथा उनका निर्माण पूरा कराया जो राष्ट्रीय भावना के विकास में सहायक थे। भारत की व्यापक सार्वजनीन संस्कृति के निर्माण में जैन धर्म का निस्संदेह असाधारण योगदान है।

पद्माकर नगर,
सागर, मध्यप्रदेश।

भारतीय विचारधारा और जैन दृष्टि

श्री राधेश्यामधर द्विवेदी

विचार जीवन के घात-प्रतिघातों में बनाये जाते हैं और वे सही तभी माने जाते हैं जब उन विचारों से किसी विरोध की सम्भावना नहीं होती है। यद्यपि कालान्तर में वह सम्प्रदाय का स्वरूप लेकर एक पक्ष बन जाता है तब वह भी सम्यक् विचार है, इसमें सन्देह पैदा होता है। पर इस सबके बावजूद विचार की स्वतन्त्रता मनुष्य-मात्र का धर्म है और निष्पक्ष दृष्टि से यदि वह विचारता है तो किसी सर्व-सम्मत अवधारणा पर पहुँच सकता है और वह अवधारणा जैन-विचारों के करीब आती है। इस आधार पर ही जैन-विचारों का मूल्यांकन करना मेरा उद्देश्य है।

आज भगवान् बुद्ध या महावीर की भाँति घर से संन्यास लेकर सत्यान्वेषण के लिए हम जंगल में नहीं जाना चाहते हैं और यदि जाते भी हैं तो उस एकान्त अनुभव को सत्य मानने के लिए बाध्य नहीं हैं। आज अनुभवों तथा आचारों का विश्लेषण समाज के मध्य में रहकर करना होगा और उसी परख पर यदि पूर्व के चिन्तन सहायता करते हैं तो उनको माना जा सकता है वरना विवेचन मात्र वाचिक अन्ध-विश्वास कहलाएगा। इसी आधार पर लगता है कि प्राचीन भारतीय विचारों का संघर्ष जो छठीं शती ई. पू. में प्रारम्भ हुआ, उसमें जैन दर्शन ने परस्पर के अति संघर्षपूर्ण विचारों को शान्तपथ पर लाने का प्रशंसनीय प्रयास किया है। और इसी शान्तिमार्ग का पथिक होने के कारण वह अपने को समाज में बनाए तो रख सका, पर सम्पूर्ण समाज पर छा नहीं सका। प्रभाव के विस्तार से यदि व्यक्ति का या विचार का मूल्यांकन किया जाता है तब तो यह उतना प्रभावोत्पादक नहीं कहा जा सकता है, पर यदि सम्यक् दृष्टि के द्वारा आनुभविक सत्य के विश्लेषण का प्रश्न खड़ा किया जाता है तब तो यह निश्चय ही प्रभावोत्पादक कहा जा सकता है। यह दूसरी बात है कि मनुष्य सत्य समझ कर भी उसको करने में संकोच करता है क्योंकि समाज-व्यवस्था उसको स्वीकार नहीं करती और बेचारा मनुष्य सबको बदलने में पूर्ण समर्थ नहीं है इस सन्दर्भ में व्यक्ति के विचारों की भी सीमा खड़ी हुई है। वह समाज को सर्वथा लाँघकर कुछ भी नहीं कर सकता। अतएव व्यक्ति का दर्शन जब नये दर्शन के रूप में खड़ा होता है तो उसका व्यवहार, तत्त्व एवं ज्ञान का विवेचन

सामने रहता है। यदि उपर्युक्त तीन किसी नये सुव्यवस्थित जीवन-दर्शन को दे पाते हैं तब तो वे ठीक माने जाएँगे। यदि नहीं, तो मात्र खयाली पुलाव होंगे। जैन दर्शन की यह विशेषता है कि वह तत्त्व की दृष्टि से भूत की यथार्थ सत्ता, ज्ञान की दृष्टि से अनेकान्तता एवं आचार की दृष्टि से अहिंसक पद्धति पर विश्वास करता है। यह विवेचन जैसे कहने में सरल लगता है वैसे परिपालन में भी सरल है पर समाज की हठवादिता के कारण सर्वजन-मान्य होने में कठिन है। क्योंकि कोई भी समाज किसी दूसरे विचार को तब तक नहीं मानता जब तक उसके समाज की सारी व्यवस्थाओं का, दूसरा विचार सुधार के साथ स्थापन न करे। इसीलिए व्यक्ति जो जहाँ प्रतिष्ठित है अपने को सुव्यवस्थित देखकर ही अन्य स्थान पर बदलाव करता है वरना अस्तित्व के समाप्त होने के भय में अपने बिगड़े विचारों को ही सही मान कर चलता रहता है। इसीलिए विचारों, व्यवस्थाओं, स्थानों का संघर्ष पैदा होता है। पर इन संघर्षों को कम से कम संघर्ष का स्वरूप प्रदान करने में जैन-दर्शन का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

छठीं शती ई. पू. में जब आत्मा और अनात्मा का, नित्य और क्षणिकता का, वेद-विहित व्यवस्था तथा मनुष्य-निर्मित व्यवस्था का संघर्ष खड़ा हुआ था तब भगवान् महावीर के विचार कुछ अधिक कारगर बन पाये। यद्यपि ये विचार-परम्परा से महावीर को प्राप्त हुए थे पर उस समय के समाज में स्थित कलह को मिटाने में ये काफी सहायक बन सके, अतएव इनका मूल्य बढ़ गया।

तत्त्व-ज्ञान में अनेकान्त का तात्पर्य किसी वस्तु विषय के बारे में एक प्रकार के परामर्श के विषय में एक दृष्टि से सत्य होने तथा दूसरी दृष्टि से न होने की सम्भावना से है। यह प्रतिदिन के संघर्षों में बचाव की दृष्टि है। जो सत्य है, पर लोग अपनी विशेष दृष्टि के कारण इसका उपहास किया करते हैं जो यथार्थ चिन्तन में बाधक हो सकती है।

इसी प्रकार वस्तु के स्वरूप में कुछ बदलाव कुछ एकता दिखलाई देती है जो जैन दृष्टि से उत्पाद-व्यय-ध्रुवता की परिभाषा में बिलकुल सटीक बैठेगी, पर कोई विशेष दृष्टि के कारण यदि प्रत्येक वस्तु को क्षणमात्र स्थायी या कोई नित्य माने तो यह मात्र संघर्ष के और क्या पैदा कर सकती है।

विचार तथा तत्त्व-ज्ञान की परख व्यवहार से की जाती है। व्यवहार को अहिंसात्मक रुख तभी दिया जाता है जब व्यक्ति दूसरे के विचारों एवं तत्त्व-चिन्तन का समादर करता है। भगवान् महावीर का आधार अहिंसक स्वरूप का परिचायक

है क्योंकि वह दूसरे के प्रति वैचारिक हिंसा भी नहीं वर्दास्त कर सकते थे, इसीलिए उनका अहिंसक जीवन कठोर बन गया। चाहे इसे हम भले अव्यावहारिक कह लें, पर भगवान् महावीर के विचार की गम्भीरता को स्वीकार करने में कोई सन्देह नहीं माना जा सकता।

जब व्यक्ति विचारों को व्यवहार में उतारता है तब वह सही अर्थ में परीक्षित होता है। इसीलिए बाह्य को अध्यात्म का सहवर्ती माना गया है—

जे अज्झत्थं जाणइ ते बहिया जाणइ।
जे बहिया जाणइ से अज्झत्थं जाणइ॥

—समणसुत्तं, सम्यग्ज्ञानसूक्त १९, गाथा २५७।

अर्थात् जो अध्यात्म को जानता है वह बाह्य (भौतिक) को जानता है। जो बाह्य को जानता है वह अध्यात्म को जानता है। इस प्रकार बाह्य एवं अध्यात्म सहवर्ती हैं।

जैन साधु पाँच समितियों तथा तीन गुप्तियों का पालन करके अपने चरित्र को बनाते हैं तथा अशुभ प्रवृत्तियों को हटाते हैं। क्योंकि सम्यक् चरित्र के द्वारा जीव कर्मों से मुक्त होता है और कर्मों के कारण बन्धन में पड़ता है। कर्मों को नष्ट करने के लिए पञ्च महाव्रतों का पालन, सतर्कता का अवलम्बन तथा संयम का अभ्यास आवश्यक है। इसी क्रम में जीव तथा यथार्थ तत्त्व का अवबोध भी आवश्यक है। इन सबका प्रारम्भ जैन तत्त्व-दर्शन में अहिंसा के द्वारा होता है। अहिंसा का मन, वचन एवं कर्म तीनों के द्वारा पालन होना चाहिए। इसी प्रकार सत्य को आदर्श के साथ प्रियरूप भी माना गया है। सभी कामनाओं का परित्याग एवं विषयों के प्रति अनासक्त होना जैन धर्म-दर्शन की विशेषता है। इस प्रकार लगता है कि जैन दर्शन व्यवहार समन्वित होकर श्रेष्ठ जीवन के लिए अपने ऊपर भरोसा रखता है इसीलिए वह ईश्वर पर भी विश्वास नहीं करता और न अन्य मतावलम्बियों से घृणा करता है। कहा भी है—

कर्तास्ति कश्चिज्जगतः स चैकः स सर्वगः स स्ववशः स नित्यः।
इमा कुहेवाकविडम्बना स्युस्तेषां न येषामनुशासकस्त्वम्॥

—स्याद्वादमंजरी, श्लोक ६।

जगत् का कोई कर्ता है, वह एक है, सर्वव्यापी है, स्वतन्त्र है, नित्य है आदि दुराग्रहपूर्ण सिद्धान्तों को स्वीकार करनेवालों के आप अनुशास्ता नहीं हो सकते।

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।

युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥

—लोकतत्त्वनिर्णय १।३८।

मेरा भगवान् महावीर के वचनों के प्रति पक्षपात नहीं और न कपिल से द्वेष है, जो युक्तियुक्त वचन हैं उनका पालन होना चाहिए।

इस प्रकार जैन विचारक आत्मतत्त्व की प्रतिष्ठा करके परपदार्थ के प्रति राग दृष्टि का प्रहाण करता है। तब वह विशुद्ध आत्मतत्त्व की ओर उन्मुख हो सहज एवं निर्विकार आत्मस्वरूप को प्राप्त करता है। यह ही सम्यक् दृष्टि है। महावीर ने स्वरूप की मर्यादा का बोध न होने से आत्म-तृष्णा की उत्पत्ति मानी है। पर यह बोध होते ही व्यक्ति समझने लगता है कि जो मैं अन्य वस्तुओं के प्रति अभितृष्ण था वह मेरे अज्ञान का फल था। मैं तो चिन्मात्र हूँ, यह जानते ही वह सकल आस्रवों से मुक्त हो जाता है। यह आत्मा तीन प्रकार का है बहिरात्मा, अन्तरात्मा तथा परमात्मा। इस प्रकार बाह्याभिमुखी आसक्ति का त्याग कर, स्वपर विवेक को समझ, व्यक्ति समस्त कर्मफल कलंकों से रहित होकर परमात्मा के स्वरूप का अधिगम करता है। तब ही वह मुक्त हो पाता है। इस मुक्ति में बौद्धों की भाँति दीप का बुझ जाना या वैशेषिकों की भाँति विशेष गुणों का उच्छेद नहीं रहता, इसमें तो आत्मा चैतन्य स्वरूप होकर ज्ञानवान् रहता है क्योंकि ज्ञान आत्मा का निजत्व है—

आत्मलाभं विदुर्मोक्षं जीवनस्यान्तर्मलक्षयात्।

नाभावो नाप्यचैतन्यं न चैतन्यमनर्थकम्॥

—सिद्धिविनिश्चय १–३८४।

अतः वह सब अन्य कर्मबन्धनों से मुक्त होकर भी निज चैतन्यस्वरूप से उच्छिन्न नहीं होता, अतः आत्मा चैतन्य तथा ज्ञानवान् है, यह दृष्टि ही जैनों की सम्यक् दृष्टि है।

इस सम्यक् ज्ञान की उत्पत्ति से व्यक्ति को जो स्वरूप बोध एवं स्वाधिकार का बोध होता है। उसके कारण उसका एक विशेष चरित्र विकसित होता है। वह दूसरे के अधिकारों को हड़पने के लिए व्याकुल नहीं होता, अतः व्यक्ति स्वातन्त्र्य के आधार पर स्वावलम्बी चर्या ही सम्यक् चारित्र है। अतः जैन विचारकों की जीवन-साधना अहिंसा के मौलिक समत्व पर प्रतिष्ठित होकर प्राणिमात्र के प्रति अभय एवं जीवित रहने की सतत् विचार साधना है।

जैन धर्म के इस विचार का प्रभाव सम्पूर्ण भारतीय जन-जीवन पर प्रभूत मात्रा में पाया जाता है। इसीलिए भारतीय शान्त प्रकृति के माने जाते हैं। इनमें भी जैन तो और भी शान्त कहलाते हैं। जैन प्रधान प्रदेश भी अन्य प्रदेशों की अपेक्षा शान्त दीखते हैं। इसका विश्लेषण करने पर लगता है कि इस शान्तिपन एवं दूसरे के विचारों के कद्र का कारण सम्भवतः जैन विचार ही हैं जिसके कारण दूसरे के विचारों को एक दृष्टि से सम्भव मानकर उपशान्त जीवन का मार्ग अपनाया जा सकता है और यह भारत में स्वभावतः विद्यमान है। इस स्वभाव के बनने में जैन विचारकों के विचार प्रमुख रूप से कारण माने जाते हैं। गांधी जी ने इन्हीं विचारों से प्रभावित होकर देश की स्वाधीनता की अनूठी लड़ाई लड़ी। आज देश में जो धर्मनिरपेक्षता, स्वतन्त्रता एवं समानता का विचार पनप रहा है वह सम्भवतः प्राचीन दार्शनिक विचारों तथा आधुनिक परिस्थितियों के बीच जैन दर्शन के अनेकान्तवाद से निसृत सरणी के कारण ही है।

तुलनात्मक धर्म-दर्शन विभाग,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी, उत्तर प्रदेश।

जैन कला का अवदान

डॉ. मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी

भारतीय कला तत्त्वतः धार्मिक है। कला के विभिन्न माध्यमों में मुख्यतः धार्मिक भावनाओं एवं आराध्य देवों को ही स्थूल अभिव्यक्ति प्रदान की गयी है। अतः काल एवं क्षेत्र के सन्दर्भ में सम्बन्धित धर्म या सम्प्रदाय में होने वाले परिवर्तनों एवं विकास से शिल्प की विषयवस्तु में भी तदनुरूप परिवर्तन हुए हैं। विभिन्न धर्मों से सम्बन्धित कला ही अपने समष्टिरूप में भारतीय कला है। आशय यह कि विभिन्न धर्मों से सम्बन्धित कलाएँ भारतीय कलारूपी वृक्ष की अलग-अलग शाखाएँ हैं। शैली की दृष्टि से धार्मिक कलाओं से भिन्नता दृष्टिगत नहीं होती; उनका साम्प्रदायिक स्वरूप केवल विषयवस्तु एवं मूर्तियों के विवरणों में ही देखा जा सकता है।

जैन धर्म भारत के प्रमुख प्राचीन धर्मों में एक है। जैन धर्म पर पर्याप्त कार्य हुआ है, पर जैन कला पर अभी तक समुचित विस्तार से कार्य नहीं हुआ है। यहाँ हम संक्षेप में जैन मूर्तिकला के योगदान की चर्चा करेंगे। हमारा अध्ययन मुख्यतः उत्तर भारत से संदर्भित है, और इसकी समय सीमा १२ वीं शती ई० तक है।

प्रारम्भ में हम जैन कला को प्राप्त होने वाले राजनीतिक एवं आर्थिक समर्थन और संरक्षण की चर्चा करेंगे।

जैन परम्परा में उत्तर भारत के केवल कुछ ही शासकों के जैन धर्म स्वीकार करने के उल्लेख हैं। इनमें चन्द्रगुप्त मौर्य, सम्प्रति, खारवेल, नागभट द्वितीय एवं कुमारपाल चौलुक्य मुख्य हैं। तथापि पाल शासकों के अतिरिक्त बारहवीं शती ई. तक के अधिकांश राजवंशों के शासकों का जैन धर्म के प्रति दृष्टिकोण उदार था। इसके तीन मुख्य कारण थे, प्रथम भारतीय शासकों की धर्म सहिष्णु नीति, दूसरा, जैन धर्म का अन्य धर्मों के प्रति आदर का भाव एवं उसकी ग्रहणशीलता और तीसरा जैन धर्म की व्यापारियों, व्यवसायियों एवं सामान्य जनों के मध्य विशेष लोकप्रियता। जैन धर्म एवं कला को शासकों से अधिक व्यापारियों, व्यवसायियों एवं सामान्य जनों का समर्थन और सहयोग मिला।

मथुरा के कुषाण कालीन मूर्तिलेखों में श्रेष्ठिन्, सार्थवाह, गन्धिक, सुवर्णकार, वर्धकिन (बढ़ई), लौहकर्मक, प्रातरिक (नाविक), वैश्याओं, नर्तकों आदि के उल्लेख

हैं।[1] साथ ही ओसिया, खजुराहो, जालोर एवं मध्ययुगीन अन्य अनेक स्थलों के मूर्तिलेखों से भी इसी बात को पुष्टि होती है।[2] ल. आठवीं से बारहवीं शती ई. के मध्य उत्तर भारत में जैन कला के प्रभूत विकास के मूल में भी इस क्षेत्र की सुदृढ़ आर्थिक पृष्ठभूमि का ही महत्त्व था। गुजरात के भड़ौंच, कैंबे और सोमनाथ जैसे व्यापारिक महत्त्व के बन्दरगाहों, राजस्थान के पोरवाड़, श्रीमाल, मोठेरक जैसी व्यापारिक जैन जातियों[3] एवं मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश में विदिशा, उज्जैन, मथुरा, कौशाम्बी, वाराणसी जैसे महत्त्वपूर्ण व्यापारिक स्थलों के कारण ही इन क्षेत्रों में अनेक जैन मन्दिर एवं विपुल संख्या में मूर्तियाँ बनीं। जैन कला स्थापत्य एवं प्रतिमाविज्ञान की दृष्टि से कुषाण, गुप्त, प्रतिहार, चन्देल और चौलुक्य राजवंशों का शासन काल विशेष महत्त्वपूर्ण था। इन राजवंशों के काल में उत्तर भारत के विभिन्न क्षेत्रों में मथुरा, देवगढ़, अकोटा, खजुराहो, ओसिया, ग्यारसपुर, कुंमारिया, आबू, जालोर, तारंगा, नवमुनि-बारभुजी गुफाएँ एवं अन्य महत्त्वपूर्ण जैन कलाकेन्द्र पल्लवित और पुष्पित हुए।

जैन कला की दृष्टि से उत्तर भारत का विविधतापूर्ण अग्रगामी योगदान रहा है। जैन परम्परा के अनुसार वर्तमान अवसर्पिणी युग के सभी २४ जिनों ने इसी क्षेत्र में जन्म लिया, यही उनकी कार्यस्थली थी, तथा यहीं उन्होंने निर्वाण भी प्राप्त किया। सम्भवतः इसी कारण प्रारम्भिक जैन ग्रन्थों की रचना एवं कलात्मक अभिव्यक्ति का मुख्य क्षेत्र भी उत्तर भारत ही रहा।

जैन आगमों का प्रारम्भिक संकलन एवं लेखन यहीं हुआ तथा प्रतिमाविज्ञान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण प्रारम्भिक ग्रन्थ, जैसे **कल्पसूत्र, पउमचरियं, अंगविज्जा, वसुदेवहिण्डी** आदि इसी क्षेत्र में लिखे गये। जैन प्रतिमाविज्ञान के पारम्परिक विकास का प्रत्येक चरण सर्वप्रथम इसी क्षेत्र में परिलक्षित होता है। जैन कला का उदय भी इसी क्षेत्र में हुआ। प्रारम्भिकतम जिन मूर्तियाँ भी इसी क्षेत्र में बनीं। ये मूर्तियाँ लोहानीपुर (पटना) एवं चौसा (भोजपुर) से मिली हैं। ऋषभनाथ की लटकती जटाओं, पार्श्वनाथ के सात सर्पफण, जिनों के वक्षस्थल में श्रीवत्स चिह्न और शीर्ष-भाग में उष्णीस तथा जिन मूर्तियों में अष्टप्रतिहार्यों और दोनों पारस्परिक मुद्राओं (कायोत्सर्ग एवं ध्यानमुद्रा) का प्रदर्शन सर्वप्रथम इसी क्षेत्र में हुआ। दक्षिण भारत की जिन मूर्तियों में उष्णीष नहीं प्रदर्शित है। श्रीवत्स चिह्न भी वक्षस्थल के मध्य में न होकर सामान्यतः दाहिनी ओर उत्कीर्ण है।[4] जिन मूर्तियों में लाछनों एवं यक्ष-यक्षी युगलों का निरूपण भी सर्व प्रथम उत्तर भारत में ही हुआ। दक्षिण भारत के

मूर्ति अवशेषों में महाविद्याओं, २४ यक्षियों, आयागपट, जीवंतस्वामी महावीर, जैन युगल आदि की मूर्तियाँ नहीं प्राप्त होती हैं। ज्ञातव्य है कि उत्तर भारत में इनकी अनेक मूर्तियाँ हैं।

उत्तर भारत में ऋषभनाथ की सर्वाधिक मूर्तियाँ हैं। इसके बाद पार्श्वनाथ, महावीर और नेमिनाथ की मूर्तियाँ हैं। पर दक्षिण भारत में महावीर और पार्श्वनाथ की सर्वाधिक मूर्तियाँ बनीं। ऋषभनाथ की मूर्तियाँ तुलनात्मक दृष्टि से नगण्य हैं। उत्तर भारत में चक्रेश्वरी, अम्बिका एवं पद्मावती यक्षियों की सर्वाधिक मूर्तियाँ हैं। पर दक्षिण भारत में चक्रेश्वरी के स्थान पर चंद्रप्रभ की यक्षी ज्वालामालिनी की सर्वाधिक मूर्तियाँ बनीं। ज्वालामालिनी के बाद अम्बिका एवं पद्मावती की सर्वाधिक मूर्तियाँ हैं। यक्षों में दक्षिण भारत में गोमुख, कुबेर, धरणेन्द्र एवं मातग की मूर्तियाँ मिली हैं। उत्तर भारत में दिगम्बर और श्वेतांबर दोनों ही परम्परा की मूर्तियाँ बनीं, जबकि दक्षिण भारत में केवल दिगम्बर परम्परा की ही मूर्तियाँ हैं।

जैन कला की चर्चा के प्रारम्भ में जैन धर्म में मूर्ति पूजन की प्राचीनता पर विचार करना भी प्रासंगिक होगा। भारत की प्राचीनतम सभ्यता सैन्धव सभ्यता है, जिसका काल ल. २५०० ई. पू. है। सैन्धव सभ्यता के अवशेष हमें मुख्यतः हड़प्पा और मोहनजोदड़ो से प्राप्त होते हैं। मोहनजोदड़ो से हमें ५ ऐसी मुहरें मिली हैं जिन पर कायोत्सर्ग मुद्रा के समान ही दोनों हाथ नीचे लटकाकर खड़ी पुरुष आकृतियाँ बनीं हैं। हड़प्पा से भी एक पुरुष आकृति (कबन्ध) मिली है।[५] उपर्युक्त उदाहरण सिन्धु सभ्यता के ऐसे अवशेष हैं जो अपनी नग्नता और मुद्रा (कायोत्सर्ग के समान) के सन्दर्भ में परवर्ती जिन मूर्तियों का स्मरण कराते हैं।[६] किन्तु सिन्धु लिपि के पूरी तरह पढ़ जाने तक सम्भवतः इस सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ भी कहना उचित नहीं होगा।

जैन धर्म में मूर्तिपूजन की प्राचीनता पर विचार करते समय हमें जैन ग्रंथों में वर्णित जीवंतस्वामी मूर्ति की परंपरा पर भी विचार करना होगा, जिसके अनुसार महावीर के जीवनकाल (छठीं शती ई. पू. ५९९–५२७ ई. पू.) में ही उनकी एक प्रतिमा का निर्माण किया गया था। यहाँ ज्ञातव्य है कि महावीर से पूर्व तीर्थंकर मूर्तियों के अस्तित्व का कोई भी साहित्यिक या पुरातात्विक साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। जैन ग्रंथों में महावीर की यात्रा के संदर्भ में उनके किसी जिन-मंदिर जाने, या जिन मूर्ति के पूजन का अनुल्लेख है। इसके विपरीत महावीर के यक्ष-आयतनों एवं यक्ष-चैत्यों (पूर्णभद्र और मणिभद्र) में विश्राम करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं।[७]

साहित्यिक परंपरा से ज्ञात होता है कि महावीर के जीवन-काल में ही उनकी चन्दन की एक प्रतिमा का निर्माण किया गया था। इस मूर्ति में महावीर को दीक्षा लेने के लगभग एक वर्ष पूर्व राजकुमार के रूप में अपने महल में ही तपस्या करते हुए अंकित किया गया है। चूंकि यह प्रतिमा महावीर के जीवनकाल में ही निर्मित हुई, अतः उसे जीवंतस्वामी या जीवितस्वामी संज्ञा दी गयी। महावीर के समय के बाद की भी ऐसी मूर्तियों के लिए जीवंतस्वामी शब्द का ही प्रयोग होता रहा। साहित्य और शिल्प दोनों में ही जीवंतस्वामी को मुकुट, मेखला आदि अलंकरणों से युक्त एक राजकुमार के रूप में निरूपित किया गया है।

जीवंतस्वामी मूर्तियों को सर्वप्रथम प्रकाश में लाने का श्रेय यू. पी. शाह को है।[8] साहित्यिक परंपरा को विश्वसनीय मानते हुए शाह ने महावीर के जीवनकाल से ही जीवंतस्वामी मूर्ति की परंपरा को स्वीकार किया है।[9] उन्होंने साहित्यिक परंपरा की पुष्टि में अकोटा (गुजरात) से प्राप्त जीवंतस्वामी की दो गुप्तयुगीन कांस्य प्रतिमाओं का भी उल्लेख किया है।[10] इन प्रतिमाओं में जीवंतस्वामी को कायोत्सर्ग मुद्रा में और वस्त्राभूषणों से सज्जित दर्शाया गया है। पहली मूर्ति लगभग पांचवीं शती ई. की है और दूसरी लेख युक्त मूर्ति ल. छठीं शती ई. की है। दूसरी मूर्ति के लेख में **'जीवंतसामी'** खुदा है।[11]

जैनधर्म में मूर्तिनिर्माण एवं पूजन की प्राचीनता के निर्धारण के लिए जीवंत-स्वामी मूर्ति की परंपरा की प्राचीनता का निर्धारण आवश्यक है। आगम साहित्य एवं **'कल्पसूत्र'** जैसे प्रारंभिक ग्रंथों में जीवंतस्वामी मूर्ति का उल्लेख नहीं प्राप्त होता है। जीवंतस्वामी मूर्ति के प्राचीनतम उल्लेख आगम ग्रंथों से संबंधित छठीं शती ई. के बाद की उत्तरकालीन रचनाओं, यथा—निर्युक्तियों, टीकाओं, भाष्यों, चूर्णियों आदि में ही प्राप्त होते हैं।[12] इन ग्रंथों में कौशल, उज्जैन, दशपुर (मंदसोर) विदिशा, पुरी एवं वीतभयपट्टन में जीवंतस्वामी मूर्तियों की विद्यमानता की सूचना प्राप्त होती है।[13]

जीवंतस्वामी मूर्ति का प्रारंभिकतम उल्लेख वाचक संघदास गणिकृत **वसुदेव-हिण्डी** (६१० ई. या ल. एक या दो शताब्दी पूर्व की कृति)[14] में प्राप्त होता है। ग्रंथ में आर्या सुव्रता नाम की एक गणिनी के जीवंतस्वामी मूर्ति के पूजनार्थ उज्जैन जाने का उल्लेख है।[15] जिनदास कृत **आवश्यकचूर्णि** (६७६ ई०) में जीवंतस्वामी की प्रथम मूर्ति की कथा प्राप्त होती है। जीवंतस्वामी मूर्ति से संबंधित विस्तृत कथा हेमचंद्र (११६९–७२ ई०) कृत **त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र** (पर्व १०, सर्ग ११) में वर्णित है।

जीवंतस्वामी मूर्ति के लक्षणों का भी उल्लेख सर्वप्रथम हेमचंद्र ने ही किया है। अन्य किसी जैन आचार्य ने जीवंतस्वामी मूर्ति के लक्षणों का उल्लेख नहीं किया है। हेमचंद्र ने यह भी उल्लेख किया है कि चौलुक्य शासक कुमारपाल ने वीतभयपट्टन में उत्खनन करवाकर जीवंतस्वामी की प्रतिमा प्राप्त की थी। हेमचंद्र ने स्वयं महावीर के मुख से जीवंतस्वामी मूर्ति के निर्माण का उल्लेख कराते हुए लिखा है कि क्षत्रियकुण्ड ग्राम में दीक्षा लेने के पूर्व छद्मस्थ काल में महावीर का दर्शन विद्युन्माली ने किया था। उस समय उनके आभूषणों से सुसज्जित होने के कारण ही विद्युन्माली ने महावीर की अलंकरण युक्त प्रतिमा का निर्माण किया।[१६] अन्य स्रोतों से भी ज्ञात होता है कि दीक्षा लेने का विचार होते हुए भी अपने ज्येष्ठ भ्राता के आग्रह के कारण महावीर को कुछ समय तक महल में ही धर्म-ध्यान में समय व्यतीत करना पड़ा था। हेमचंद्र के अनुसार विद्युन्माली द्वारा निर्मित मूल प्रतिमा विदिशा में थी।

उल्लेखनीय है कि किसी दिगंबर ग्रंथ में जीवंतस्वामी मूर्ति की परंपरा का उल्लेख नहीं प्राप्त होता है। तदनुरूप दिगंबर स्थलों से जीवंतस्वामी मूर्ति का कोई उदाहरण भी नहीं मिला है। दिगंबर परंपरा में जीवंतस्वामी मूर्ति के अनुल्लेख का एक संभावित कारण प्रतिमा का वस्त्राभूषणों से युक्त होना हो सकता है।

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि पांचवीं-छठीं शती ई. के पूर्व जीवंतस्वामी के संबंध में हमें किसी प्रकार की ऐतिहासिक सूचना नहीं प्राप्त होती है। इस संदर्भ में महावीर के गणधरों द्वारा रचित आगम साहित्य में जीवंतस्वामी मूर्ति के उल्लेख का पूर्ण अभाव जीवंतस्वामी मूर्ति की परवर्ती ग्रंथों द्वारा प्रतिपादित महावीर की समकालिकता की धारणा पर एक स्वाभाविक संदेह उत्पन्न करता है। **कल्पसूत्र** एवं ई. पूर्व के अन्य ग्रंथों में भी जीवंतस्वामी मूर्ति का अनुल्लेख इसी सन्देह की पुष्टि करता है। वर्तमान स्थिति में जीवंतस्वामी मूर्ति की धारणा को महावीर के समय तक ले जाने का हमारे पास कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है।

वर्तमान में प्राचीनतम ज्ञात जैन मूर्ति मौर्यकाल की है। यह मूर्ति पटना के समीप लोहानीपुर से मिली है और संप्रति पटना संग्रहालय में सुरक्षित है।[१७] मूर्ति की नग्नता और कायोत्सर्ग मुद्रा इसके जिन मूर्ति होने की सूचना देते हैं। ज्ञातव्य है कि कायोत्सर्ग मुद्रा केवल जिनों के निरूपण में ही प्रयुक्त हुई है। इस मूर्ति के सिर, भुजा और जानु के नीचे का भाग खण्डित है। मूर्ति पर मौर्ययुगीन चमकदार आलेप है। इस मूर्ति के निरूपण में यक्ष मूर्तियों का प्रभाव दृष्टिगत होता है। लोहानीपुर से शुंगकाल या कुछ बाद की एक अन्य जिन मूर्ति भी मिली है,

जिसमें नीचे लटकती दोनों भुजाएँ भी सुरक्षित हैं।[१८] जैन परंपरा के अनुसार जैन धर्म को लगभग सभी समर्थ मौर्य शासकों का समर्थन प्राप्त था। चन्द्रगुप्त मौर्य का जैन धर्मानुयायी होना तथा जीवन के अंतिम वर्षों में भद्रबाहु के साथ दक्षिण भारत जाना सुविदित है।[१९] अर्थशास्त्र में जयन्त, वैजयन्त, अपराजित एवं अन्य जैन देवों की मूर्तियों का उल्लेख है।[२०] अशोक ने भी निर्ग्रन्थों एवं आजीविकों को दान दिये थे।[२१] संप्रति को भी जैन धर्म का अनुयायी कहा गया है।[२२]

उदयगिरि (पुरी, उड़ीसा) स्थित हाथी गुम्फा के एवं पहली शती ई. पूर्व के खारवेल के लेख में भी जिन प्रतिमा का उल्लेख आया है। लेख में उल्लेख है कि कलिंग की जिस जिन प्रतिमा को नन्दराज 'तिवससत' वर्ष पूर्व कलिंग से मगध ले गया था, उसे खारवेल पुनः वापस ले आया। 'तिवससत' शब्द का अर्थ अधिकांश विद्वान ३०० वर्ष मानते हैं।[२३] अतः खारवेल के लेख के आधार पर भी जिन मूर्ति की प्राचीनता चौथी शती ई. पूर्व तक जाती है। इस प्रकार उपर्युक्त प्रमाण मौर्यकाल में निश्चित रूप से जैन धर्म में मूर्तिपूजन की विद्यमानता की सूचना देते हैं। लोहानीपुर की मौर्यकालीन जिन मूर्ति इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। यह भी उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त जिन मूर्ति सभी धर्मों में आराध्य देवों की प्राचीनतम ज्ञात मूर्ति भी है।

जैन धर्म में मौर्यकाल में मूर्ति निर्माण की जो परंपरा प्रारंभ हुई, उसका आगे की शताब्दियों में पल्लवन और पुष्पन हुआ। दूसरी-पहली शती ई. पू. की कायोत्सर्ग मुद्रा में निर्वस्त्र पार्श्वनाथ की दो कांस्य मूर्तियां मिली हैं, प्रथम प्रिंस ऑव वेल्स संग्रहालय, बंबई में और दूसरी बक्सर के चौसा ग्राम (भोजपुर, बिहार) से प्राप्त पटना संग्रहालय में सुरक्षित है।[२४] इन मूर्तियों में पार्श्वनाथ के सिर पर पांच और सात सर्पफणों के छत्र हैं। मथुरा से लगभग पहली शती ई. पू. के जैन आयागपटों के उदाहरण मिले हैं। आयागपट उस संक्रमण कालकी शिल्प सामग्री है, जब उपास्य देवों का पूजन प्रतीक और मानवरूप में साथ-साथ हो रहा था।[२५] इन आयागपटों पर जैन प्रतीकों[२६] के साथ ही जिन मूर्ति भी उत्कीर्ण हुई। लगभग पहली ई. पू. के एक आयागपट (राज्य संग्रहालय, लखनऊ, क्रमांक जे. २५३) पर सात सर्पफणों के छत्र युक्त पार्श्वनाथ की ध्यानस्थ मूर्ति बनी है।

चौसा (बिहार) और मथुरा (उ. प्र.) से शुंग-कुषाण काल की पर्याप्त जैन मूर्तियाँ मिली हैं। मथुरा से ल. १५० ई. पू. से ग्यारहवीं शती ई. के मध्य की प्रभूत जैन मूर्तियाँ मिली हैं। ये मूर्तियाँ आरम्भ से मध्य युग तक के प्रतिमा विज्ञान की

विकास-शृंखला को प्रदर्शित करती हैं। शुंग-कुषाण काल में मथुरा में सर्वप्रथम जिनों के वक्षस्थल पर श्रीवत्स चिह्न का उत्कीर्णन और जिनों का ध्यान मुद्रा में निरूपण प्रारम्भ हुआ। तीसरी से पहली शती ई. पू. की ऊपर वर्णित जिन मूर्तियाँ कायोत्सर्ग मुद्रा में निरूपित हैं। ज्ञातव्य है कि जिनों के निरूपण में सर्वदा यही दो मुद्राएँ प्रयुक्त हुई हैं।

मथुरा में कुषाण काल में ऋषभनाथ, सम्भवनाथ, मुनिसुव्रत, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ एवं महावीर की मूर्तियाँ, ऋषभनाथ एवं महावीर के जीवन दृश्य, आयाग-पट, जिन-चौमुखी तथा सरस्वती एवं नैगमेषी की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हुईं।

राज्य संग्रहालय, लखनऊ (क्रमांक जे. ६१६) में सुरक्षित एक पट्ट पर महावीर के गर्भापहरण का दृश्य है।[२७] राज्य संग्रहालय, लखनऊ (क्रमांक जे. ३५४) के ही एक अन्य पट्ट पर इन्द्र सभा की नर्तकी नीलांजना को ऋषभनाथ की सभा में नृत्य करते हुए दिखाया गया है। ज्ञातव्य है कि नीलांजना के कारण ही ऋषभनाथ को वैराग्य प्राप्त हुआ था।[२८]

गुप्तकाल में मथुरा एवं चौसा के अतिरिक्त राजगिर, विदिशा, वाराणसी एवं अकोटा (गुजरात) से भी जैन मूर्तियाँ मिली हैं। इस काल में केवल जिनों की स्वतन्त्र एवं जिन-चौमुखी मूर्तियाँ ही बनीं। इनमें ऋषभनाथ, चन्द्रप्रभ, पुष्पदंत,[२९] नेमिनाथ, पार्श्वनाथ एवं महावीर का निरूपण हुआ है। श्वेतांबर जिन मूर्तियाँ (अकोटा) सर्व-प्रथम इसी काल में उत्कीर्ण हुईं।

दसवीं से बारहवीं शती ई. के मध्य की जैन प्रतिमाविज्ञान की प्रचुर ग्रंथ एवं शिल्प सामग्री प्राप्त होती है। सर्वाधिक जैन मंदिर और फलतः मूर्तियाँ भी इसी काल में बनीं। गुजरात और राजस्थान में श्वेतांबर एवं अन्य क्षेत्रों में दिगम्बर सम्प्रदाय की मूर्तियों की प्रधानता है। गुजरात और राजस्थान के श्वेतांबर जैन मन्दिरों में २४ देवकुलिकाओं को संयुक्त कर उनमें २४ जिनों की मूर्तियाँ स्थापित करने की परंपरा लोकप्रिय हुई। श्वेतांबर स्थलों की तुलना में दिगम्बर स्थलों पर जिनों की अधिक मूर्तियाँ उत्कीर्ण हुईं, जिनमें स्वतन्त्र तथा द्वितीर्थी, त्रितीर्थी एवं चौमुखी मूर्तियाँ हैं।

तुलनात्मक दृष्टि से जिनों के निरूपण में श्वेतांबर स्थलों पर एकरसता और दिगम्बर स्थलों पर विविधता दृष्टिगत होती है।

दिगम्बर स्थलों की जिन मूर्तियों में नवग्रहों, बाहुबली एवं पारम्परिक यक्ष-यक्षी युगलों के अतिरिक्त चक्रेश्वरी, अंबिका एवं लक्ष्मी जैसी कुछ अन्य देवियों का भी निरूपण हुआ है।

श्वेतांबर स्थलों पर जिन मूर्तियों के पीठिका लेखों में जिनों के नामोल्लेख तथा दिगम्बर स्थलों पर उनके लांछनों के अंकन की परम्परा दृष्टिगत होती है।

जिनों के जीवन दृश्यों एवं समवसरणों के अंकन के उदाहरण केवल श्वेतांबर स्थलों पर ही सुलभ हैं। ये उदाहरण ग्यारहवी से तेरहवीं शती ई. के मध्य के हैं, और ओसिया, कुंभारिया, आबू (विमलवसही, लूणवसही) एवं जालोर से मिले हैं।

श्वेतांबर स्थलों पर जिनों के बाद १६ महाविद्याओं और दिगम्बर स्थलों पर यक्ष-यक्षियों के चित्रण सर्वाधिक लोकप्रिय थे। १६ महाविद्याओं में रोहिणी, वज्रांकुशी, वज्रश्रृंखला, अप्रतिचक्रा, अच्छुप्ता एवं वैरोत्या की ही सर्वाधिक मूर्तियाँ मिली हैं। शांतिदेवी, ब्रह्मशांति यक्ष, जीवन्तस्वामी महावीर, गणेश एवं २४ जिनों के माता-पिता के सामूहिक अंकन (१०वीं–१२वीं शती ई.) भी श्वेतांबर स्थलों पर ही लोकप्रिय थे। सरस्वती, बलराम, कृष्ण, अष्ट दिक्पाल, नवग्रह एवं क्षेत्रपाल आदि की मूर्तियाँ श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही स्थलों पर उत्कीर्ण हुईं।

पूर्व मध्य युग में श्वेतांबर स्थलों पर अनेक ऐसी देवियों की भी मूर्तियाँ दृष्टिगत होती हैं, जिनका जैन परम्परा में अनुल्लेख है। इनमें हिन्दू शिवा और जैन सर्वानुभूति (या कुबेर) के लक्षणों के प्रभाव वाली देवियों की मूर्तियाँ सबसे अधिक हैं।

जैन युगलों और राम-सीता तथा रोहिणी, मनोवेगा, गौरी, गांधारी यक्षियों और गरुड़ यक्ष की मूर्तियाँ केवल दिगम्बर स्थलों से ही मिली हैं। दिगम्बर स्थलों से परम्परा विरुद्ध और परम्परा में अवर्णित दोनों प्रकार की कुछ मूर्तियाँ मिली हैं। द्वितीर्थी और त्रितीर्थी जिन मूर्तियों का अंकन और दो उदाहरणों में त्रितीर्थी मूर्तियों में सरस्वती और बाहुबली का अंकन, बाहुबली एवं अंबिका की दो मूर्तियों में यक्ष-यक्षी का निरूपण तथा ऋषभनाथ की कुछ मूर्तियों में पारम्परिक यक्ष-यक्षी, गोमुख-चक्रेश्वरी, के साथ ही अम्बिका, लक्ष्मी, सरस्वती आदि का अंकन इस कोटि के कुछ प्रमुख उदाहरण हैं। इस वर्ग की मूर्तियाँ मुख्यतः देवगढ़ एवं खजुराहो से मिली हैं।

श्वेतांबर और दिगम्बर स्थलों की शिल्प-सामग्री के अध्ययन से ज्ञात होता है कि पुरुष देवताओं की मूर्तियाँ देवियों की तुलना में नगण्य हैं। जैन कला में देवियों की विशेष लोकप्रियता तांत्रिक प्रभाव का परिणाम हो सकती है। जैन परम्परा पर तान्त्रिक प्रभाव के अध्ययन की दृष्टि से कतिपय सन्दर्भों की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करना उपयुक्त होगा। खजुराहो के पार्श्वनाथ मन्दिर (९५०-७० ई.) की भित्ति पर चारों तरफ शक्तियों के साथ आलिंगन मुद्रा में देवयुगलों की कई मूर्तियाँ हैं। इनमें शिव, विष्णु, ब्रह्मा, अग्नि, कुबेर, राम, बलराम आदि की शक्ति सहित मूर्तियाँ हैं जो

स्पष्टतः हिन्दू प्रभाव दरशाती हैं। इसी मन्दिर के उत्तरी और दक्षिणी शिखर पर कामक्रिया में रत दो युगल भी आमूर्तित हैं। काम क्रिया से सम्बन्धित या आलिंगन मुद्रा में साधुओं के कुछ अंकन भी देवगढ़ के जैन मन्दिरों के प्रवेश द्वारों पर उपलब्ध हैं। उपर्युक्त दिगम्बर स्थलों के अतिरिक्त नाडलाई (पाली, राजस्थान) के के शांतिनाथ मन्दिर (श्वेताम्बर) के अधिष्ठान पर भी कामक्रिया में रत कई युगलों का अंकन हुआ है। जैन मन्दिरों पर देवताओं की शक्ति सहित आलिंगन मूर्तियाँ एवं कामक्रिया से सम्बन्धित अंकन परम्परा सम्मत नहीं हैं। जैन धर्म उदार धर्म रहा है। जिसकी धार्मिक मान्यताओं में समय के अनुरूप कुछ आवश्यक परिवर्तन या शिथिलन होते रहें हैं। मध्य युग तांत्रिक प्रभाव का युग था। फलतः जैन धर्म में भी उस प्रभाव को किंचित् नियन्त्रण के साथ स्वीकार किया गया, जिसे कला में भी उपर्युक्त स्थलों पर अभिव्यक्ति मिली। पर इस प्रभाव को उद्दाम नहीं होने दिया गया जैसा कि खजुराहो और उड़ीसा के हिन्दू मन्दिरों पर कामक्रिया से सम्बन्धित अंकनों के सन्दर्भ में देखा जा सकता है। जैन ग्रंथ **हरिवंशपुराण** (जिनसेन कृत, ७८३ ई.) में एक स्थल पर उल्लेख है कि सेठ कामदत्त ने एक जिनमन्दिर का निर्माण किया और सम्पूर्ण प्रजा के आकर्षण के लिए इसी मन्दिर में कामदेव और रति की भी मूर्ति बनवायी। ग्रंथ में यह भी उल्लेख है कि यह जिन मन्दिर कामदेव के मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध है और कौतुक-वश आये लोगों को जिन धर्म की प्राप्ति का कारण है।[३०] जिन मूर्तियों के पूजन के साथ ग्रंथ में रति और कामदेव की मूर्तियों के पूजन का भी उल्लेख है।[३१] **हरिवंशपुराण** का उल्लेख स्पष्टतः जैन धर्म में आये शिथिलन और उसके उद्देश्य को स्पष्ट करता है।

पाँचवीं शती ई. के अन्त तक[३२] जैन देवकुल का मूल स्वरूप निर्धारित हो गया था, जिसमें २४ जिन, यक्ष और यक्षियाँ, विद्याएँ, सरस्वती, लक्ष्मी, कृष्ण, बलराम, राम, नैगमेषी एवं अन्य शलाकापुरुष तथा कुछ देवता सम्मिलित थे। इस काल तक जैन देवकुल के सदस्यों के केवल नाम और कुछ सामान्य विशेषताएँ ही निर्धारित हुई। उनकी लाक्षणिक विशेषताओं के विस्तृत उल्लेख आठवीं से बारहवीं-तेरहवीं शती ई. के मध्य के जैन ग्रंथों में ही मिलते हैं। पूर्ण विकसित जैन देवकुल में २४ जिनों एवं अन्य शलाकापुरुषों[33] सहित २४ यक्ष-यक्षी युगल, १६ महाविद्याएँ, दिक्पाल, नवग्रह, क्षेत्रपाल, गणेश, ब्रह्मशांति यक्ष, कपर्द्दि यक्ष, बाहुबली, ६४ योगिनी, शांतिदेवी, जिनों के माता-पिता एवं पंच परमेष्ठी आदि सम्मिलित हैं। श्वेतांबर और दिगम्बर संप्रदायों के ग्रंथों में जैन देवकुल का विकास बाह्य दृष्टि से समरूप है। केवल देवताओं के नामों

एवं लाक्षणिक विशेषताओं के सन्दर्भ में ही दोनों परम्पराओं में भिन्नता दृष्टिगत होती है। महावीर के गर्भापहरण, जीवन्तस्वामी महावीर की मूर्ति एवं मल्लिनाथ के नारी तीर्थंकर होने के उल्लेख केवल श्वेतांबर ग्रंथों में ही प्राप्त होते हैं।

२४ जिनों की कल्पना जैन धर्म की धुरी है। ई. सन् के प्रारम्भ से पूर्व ही २४ जिनों की सूची निर्धारित हो गई थी। २४ जिनों की प्रारम्भिक सूचियाँ **समवायांग सूत्र, भगवती सूत्र, कल्पसूत्र** एवं **पउमचरियं** में मिलती हैं।[34] शिल्प में जिन मूर्ति का उत्कीर्णन लगभग तीसरी शती ई. पूर्व में प्रारम्भ हुआ।

कल्पसूत्र में ऋषभनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर के जीवन-वृत्तों के विस्तार से उल्लेख हैं। परवर्ती ग्रंथों में भी इन्हीं चार जिनों की सर्वाधिक विस्तार से चर्चा है। शिल्प में भी इन्हीं चार जिनों का निरूपण सबसे पहले कुषाण काल में प्रारम्भ हुआ और विभिन्न स्थलों पर आगे भी इन्हीं की सर्वाधिक मूर्तियाँ बनीं।

मूर्तियों में इन की लोकप्रियता का क्रम इस प्रकार रहा है : ऋषभनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर और नेमिनाथ। जैन परम्परा और मूर्तियों में इन्हीं चार जिनों के यक्षा-यक्षी युगलों को भी सर्वाधिक लोकप्रियता मिली। उपर्युक्त चार जिनों के बाद अजितनाथ, संभवनाथ, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभ, शांतिनाथ एवं मुनिसुव्रत की सर्वाधिक मूर्तियाँ बनीं। अन्य जिनों की मूर्तियाँ संख्या की दृष्टि से नगण्य हैं। तात्पर्य यह कि उत्तर भारत में २४ में से केवल १० ही जिनों का निरूपण लोकप्रिय था।

जिन मूर्तियों में सर्वप्रथम पार्श्वनाथ का लक्षण नियत हुआ। लगभग दूसरी-पहली शती ई. पू. की मूर्तियों में पार्श्वनाथ के साथ शीर्षभाग में सात सर्पफणों का छत्र प्रदर्शित हुआ। इसके बाद मथुरा एवं चौसा की पहली शती ई. की मूर्तियों में ऋषभनाथ के कन्धों पर लटकती हुई जटाओं का प्रदर्शन हुआ। कुषाण काल में ही मथुरा में नेमिनाथ के साथ बलराम और कृष्ण का अंकन हुआ। इस प्रकार कुषाण काल तक ऋषभनाथ, नेमिनाथ एवं पार्श्वनाथ के लक्षण निश्चित हुए। शुंग-कुषाण-काल में मथुरा में ही श्रीवत्स और ध्यान मुद्रा का भी अंकन प्रारम्भ हुआ। मथुरा में ही कुषाण काल में सर्वप्रथम जिन मूर्तियों में अष्ट प्रतिहार्यों, धर्मचक्र, मांगलिक चिह्नों (स्वस्तिक, मत्स्ययुगल, श्रीवत्स, पूर्णघट) एवं उपासकों आदि का अंकन हुआ। कुषाणकालीन जिन मूर्तियों के प्रतिहार्य--सिंहासन, प्रभामण्डल, चामरधर सेवक, उड्डीयमान मालाधर, छत्र, चैत्यवृक्ष एवं दिव्यध्वनि हैं।

गुप्तकाल में जिनों के साथ सर्वप्रथम लांछनों, यक्ष-यक्षी युगलों एवं अष्टप्रतिहार्यों[35] का अंकन प्रारम्भ हुआ। राजगिर एवं भारतकला भवन, वाराणसी (क्रमांक

१६१) की नेमिनाथ और महावीर की दो मूर्तियों में पहली बार लांछन का, और अकोटा की ऋषभनाथ की मूर्ति (लगभग छठीं शती ई.) में यक्ष-यक्षी (सर्वानुभूति एवं अंबिका) का चित्रण हुआ।[३६] गुप्तकाल में सिंहासन के छोरों एवं परिकर में छोटी जिन मूर्तियों का भी अंकन प्रारम्भ हुआ। अकोटा की श्वेतांबर जिन मूर्तियों में पहली बार पीठिका के मध्य में धर्मचक्र के दोनों ओर दो मृगों का चित्रण किया गया, जो सम्भवतः बौद्ध कला का प्रभाव है।

लगभग आठवीं-नवीं शती ई० में २४ जिनों के स्वतन्त्र लांछनों की सूची बनी, जो **कहावली, प्रवचनसारोद्धार**, एवं **तिलोयपण्णत्ति** में सुरक्षित हैं।[३७]

श्वेतांबर और दिगम्बर परम्पराओं में सुपार्श्वनाथ, शीतलनाथ, अनन्तनाथ एवं अरनाथ के अतिरिक्त अन्य जिनों के लांछनों में कोई भिन्नता नहीं है। मूर्तियों में सुपार्श्वनाथ तथा पार्श्वनाथ के साथ क्रमशः स्वस्तिक और सर्प लांछनों का अंकन दुर्लभ है, क्योंकि पाँच और सात सर्पफणों के छत्रों के प्रदर्शन के बाद जिनों की पहचान के लिए लांछनों का प्रदर्शन आवश्यक नहीं समझा गया। पर लटकती जटाओं में शोभित ऋषभनाथ के साथ वृषभलांछन का चित्रण नियमित था, क्योंकि आठवीं शती ई. के बाद के दिगम्बर स्थलों (देवगढ़, खजुराहो) में ऋषभनाथ के साथ-साथ अन्य जिन मूर्तियों पर भी जटाएँ प्रदर्शित की गयी हैं।

मूर्तिविज्ञान की दृष्टि से लगभग नवीं-दसवीं शती ई. तक जिन मूर्तियाँ पूर्णतः विकसित हो गईं। पूर्ण विकसित जिन मूर्तियों में लांछनों, यक्ष-यक्षी युगलों एवं अष्ट-प्रतिहार्यों के साथ ही परिकर में छोटी जिन मूर्तियों, नवग्रहों, गजाकृतियों, धर्मचक्र, विद्याओं एवं अन्य आकृतियों का चित्रण हुआ। सिंहासन के मध्य में पद्म से युक्त शांतिदेवी, गजों एवं मृगों तथा कलशधारी गोमुख एवं वीणा और वेणुवादन करती आकृतियों का चित्रण केवल श्वेतांबर स्थलों पर लोकप्रिय था। श्वेतांबर ग्रन्थ **वास्तुविद्या** के जिनपरिकरलक्षण (२२.१०–१२, ३३–३९) में इन विशेषताओं के उल्लेख हैं। ग्यारहवीं से तेरहवीं शती ई. के मध्य श्वेतांबर स्थलों पर ऋषभनाथ, शांतिनाथ, मुनिसुव्रत, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ एवं महावीर के जीवनदृश्यों का विशद अंकन हुआ। जिसके उदाहरण ओसिया की देवकुलिकाओं, कुम्भारिया के शांतिनाथ एवं महावीर मन्दिरों, जालोर के पार्श्वनाथ मन्दिर और आबू के विमलवसही और लूणवसही से मिले हैं। इनमें जिनों के पंचकल्याणकों (च्यवन, जन्म, दीक्षा, कैवल्य, निर्वाण) एवं कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण घटनाओं को दरशाया गया है, जिनमें भरत और बाहुबली के युद्ध, शांतिनाथ के पूर्वजन्म में कपोत की प्राणरक्षा की कथा, नेमिनाथ के

के विवाह और वैराग्य, मुनिसुव्रत के जीवन की अश्वावबोध और शकुनिका विहार की कथाएँ तथा पार्श्वनाथ एवं महावीर के पूर्वजन्म की कथाएँ और तपस्या के समय उपस्थित उपसर्ग मुख्य हैं।

उत्तर प्रदेश एवं मध्य प्रदेश के दिगम्बर स्थलों पर मध्ययुग में नेमिनाथ के साथ उनके चचेरे भाइयों बलराम और कृष्ण (देवगढ़, मथुरा), पार्श्वनाथ के साथ सर्पफणों के छत्र वाले चामरधारी धरण एवं छत्रधारिणी पद्मावती, तथा जिन मूर्तियों के परिकर में बाहुबली, जीवन्तस्वामी, क्षेत्रपाल, सरस्वती, लक्ष्मी आदि के अंकन विशेष लोकप्रिय थे।

बिहार, उड़ीसा एवं बंगाल की जिन मूर्तियों में यक्ष-यक्षी युगलों, सिंहासन, धर्मचक्र, गजों, दुन्दुभिवादकों आदि का अंकन लोकप्रिय नहीं था। लगभग दशवीं शती ई० में जिन मूर्तियों के परिकर में २३ या २४ छोटी जिन मूर्तियों का अंकन प्रारम्भ हुआ। बंगाल की छोटी जिन मूर्तियाँ अधिकांशतः लांछनों से युक्त हैं।

जेन ग्रंथों में द्वितीर्थी एवं त्रितीर्थी जिन मूर्तियों के उल्लेख नहीं हैं। पर देवगढ़ एवं खजुराहो जैसे दिगम्बर स्थलों पर नवीं से बारहवीं शती ई. के मध्य इनका उत्कीर्णन हुआ। इन मूर्तियों में दो या तीन अलग-अलग जिनों को कायोत्सर्ग मुद्रा में एक साथ निरूपित किया गया है। इन जिनों के साथ कभी-कभी लांछनों, यक्ष-यक्षी युगलों एवं अष्टप्रातिहार्यों का चित्रण हुआ है।

जिन चौमुखी या सर्वतोभद्रिका जिन मूर्तियों का उत्कीर्णन पहली शती. ई. में मथुरा में प्रारम्भ हुआ, और आगे की शताब्दियों में भी सभी क्षेत्रों में लोकप्रिय रहा। प्रतिमा सर्वतोभद्रिका या सर्वतोभद्र प्रतिमा का अर्थ है वह प्रतिमा जो सभी ओर से शुभ या मंगलकारी है।[३८] चौमुखी मूर्तियों में चार दिशाओं में चार ध्यानस्थ या कायोत्सर्ग जिन मूर्तियाँ उत्कीर्ण होती हैं। जिन चौमुखी की धारणा को विद्वानों ने जिन समवसरण की प्रारम्भिक कल्पना पर आधारित और उसमें हुए विकास का सूचक माना है।[३९] पर इस प्रभाव को स्वीकार करने में कई कठिनाइयाँ हैं।[४०] समवसरण वह देवनिर्मित सभा है, जहाँ कैवल्य प्राप्ति के बाद जिन अपना उपदेश देते हैं। समवसरण तीन प्राचीरों वाला भवन है, जिसके ऊपरी भाग में अष्टप्रातिहार्यों से युक्त जिन ध्यानमुद्रा में (पूर्वाभिमुख) विराजमान होते हैं। सभी दिशाओं के श्रोता जिन का दर्शन कर सकें, इस उद्देश्य से व्यंतर देवों ने अन्य तीन दिशाओं में भी उसी जिन की प्रतिमाएँ स्थापित कीं। यह उल्लेख सर्वप्रथम आठवीं-नवीं शती ई. के जैन ग्रन्थों में प्राप्त होता है। प्रारम्भिक जैन ग्रन्थों में चार दिशाओं

में चार जिन मूर्तियों के निरूपण का उल्लेख नहीं प्राप्त होता है। ऐसी स्थिति में कुषाणकालीन जिन चौमुखी में चार अलग-अलग जिनों के उत्कीर्णन को समवसरण की धारणा से प्रभावित और उसमें हुए किसी विकास का सूचक नहीं माना जा सकता। आठवीं-नवीं शती ई. के ग्रन्थों में भी समवसरण में किसी एक ही जिन की चार मूर्तियों के निरूपण का उल्लेख है जब कि कुषाणकालीन चौमुखी में चार अलग-अलग जिनों को चित्रित किया गया है। मथुरा की १०२३ ई. की एक चौमुखी मूर्ति में ही सर्वप्रथम समवसरण की धारणा को अभिव्यक्ति मिली। पीठिका लेख में भी उल्लेख है कि यह महावीर की जिन चौमुखी है। समवसरण में जिन सदैव ध्यानमुद्रा में आसीन होते हैं, जब कि कुषाणकालीन चौमुखी मूर्तियों में जिन सदैव कायोत्सर्ग में खड़े हैं। जहाँ हमें समकालीन जैन ग्रंथों में जिन चौमुखी मूर्ति की कल्पना का निश्चित आधार नहीं प्राप्त होता है, वहीं तत्कालीन एवं पूर्ववर्ती शिल्प में ऐसे एक मुख और बहुमुखी शिवलिंग एवं यक्ष-मूर्तियाँ प्राप्त होती हैं, जिनसे जिन चौमुखी की धारणा के प्रभावित होने की सम्भावना हो सकती है।[४१] जिन चौमुखी पर स्वस्तिक और मौर्य शासक अशोक के सिंह एवं वृषभ स्तम्भ-शीर्षों का भी प्रभाव असम्भव नहीं है।[४२]

चौमुखी जिन मूर्तियों को मुख्यतः दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। पहले वर्ग में ऐसी मूर्तियाँ हैं, जिनमें एक ही जिन की चार मूर्तियाँ बनीं हैं। दूसरे वर्ग की मूर्तियों में चारों ओर चार अलग-अलग जिनों की मूर्तियाँ हैं। पहले वर्ग की मूर्तियों का उत्कीर्णन लगभग सातवीं-आठवीं शती ई. में प्रारम्भ हुआ। किन्तु दूसरे वर्ग की मूर्तियाँ पहली शती ई. से ही बनने लगीं। मथुरा की कुषाणकालीन चौमुखी मूर्तियाँ इसी कोटि की हैं। पहले वर्ग की मूर्तियाँ तुलनात्मक दृष्टि से संख्या में बहुत कम हैं, और इनमें जिनों के लांछन सामान्यतः नहीं प्रदर्शित हैं। मथुरा की कुषाणकालीन चौमुखी मूर्तियों के समान ही दूसरे वर्ग की मूर्तियों में अधिकांशतः केवल वृषभनाथ और पार्श्वनाथ की ही पहचान सम्भव है। कुछ मूर्तियों में अजितनाथ, सम्भवनाथ, सुपार्श्वनाथ, चंद्रप्रभ, शांतिनाथ, नेमिनाथ एवं महावीर की भी मूर्तियाँ बनी हैं। बंगाल में चारों जिनों के साथ अलग-अलग लांछनों, और देवगढ़ तथा विमलवसही में यक्ष-यक्षी युगलों का चित्रण प्राप्त होता है। लगभग दशवीं शती ई. में चतुर्विंशति जिन-पट्टों का निर्माण प्रारम्भ हुआ। ग्यारहवीं शती ई. का एक विशिष्ट चतुर्विंशति जिन-पट्ट देवगढ़ के साहू जैन संग्रहालय में है। इसमें जिनों के साथ अष्टप्रातिहार्यों, लांछनों एवं यक्ष-यक्षी युगलों का चित्रण हुआ है।

भगवतीसूत्र, तत्त्वार्थसूत्र, अन्तगडदसाओ एवं **पउमचरियं** जैसे प्रारम्भिक जैन ग्रंथों में यक्षों के प्रचुर उल्लेख हैं।[४३] इनमें मणिभद्र और पूर्णभद्र यक्षों और

बहुपुत्रिका यक्षी की सर्वाधिक चर्चा है। जिनों से संश्लिष्ट प्राचीनतम यक्ष-यक्षी युगल सर्वानुभूति (या कुबेर) और अम्बिका की कल्पना प्राचीन परम्परा के मणिभद्र-पूर्णभद्र यक्षों और बहुपुत्रिका यक्षी से प्रभावित है। लगभग छठीं शती ई. में जिनों के शासन और उपासक देवों के रूप में मूर्तियों में यक्ष-यक्षी युगलों का निरूपण प्रारंभ हुआ, जिसका प्रारंभिकतम उदाहरण (छठीं शती ई.) अकोटा से मिला है। यक्ष और यक्षियों का अंकन जिन मूर्तियों के सिंहासन या पीठिका के दाहिने और बायें छोरों पर किया गया है।

लगभग छठीं से नवीं शती ई० तक के ग्रंथों में केवल यक्षराज (सर्वानुभूति), धरणेन्द्र, चक्रेश्वरी, अंबिका एवं पद्मावती की ही कुछ लाक्षणिक विशेषताओं के उल्लेख हैं। २४ जिनों के स्वतंत्र यक्ष-यक्षी युगलों की सूची लगभग आठवीं-नवीं शती ई. में निर्धारित हुई। सबसे प्रारम्भ की सूचियां **कहावली, तिलोयपण्णत्ति** और **प्रवचनसारोद्धार** में हैं।[४४] २४ यक्ष-यक्षी युगलों की स्वतंत्र लाक्षणिक विशेषताएं ग्यारहवीं-बारहवीं शती ई. में नियत हुई, जिनके उल्लेख **निर्वाणकलिका, त्रिषष्टि-शलाकापुरुषचरित्र, प्रतिष्ठासार संग्रह, प्रतिष्ठासारोद्धार, आचारदिनकर, प्रतिष्ठा-तिलकम्** एवं अन्य शिल्पशास्त्रों में हैं। श्वेतांबर ग्रंथों में दिगंबर परंपरा के कुछ पूर्व ही यक्ष और यक्षियों की लाक्षणिक विशेषताएं निश्चित हो गयी थीं। दोनों परंपराओं में यक्ष एवं यक्षियों के नामों और लाक्षणिक विशेषताओं की दृष्टि से पर्याप्त भिन्नता दृष्टिगत होती है। दिगंबर ग्रंथों में यक्ष और यक्षियों के नाम और उनकी लाक्षणिक विशेषताएं श्वेतांबर ग्रंथों की अपेक्षा स्थिर और एकरूप हैं।

दोनों परंपराओं की सूचियों में मातंग, यक्षेश्वर एवं ईश्वर यक्षों तथा नरदत्ता, मानवी, अच्युता एवं कुछ अन्य यक्षियों के नामोल्लेख एक से अधिक जिनों के साथ किये गये हैं। भृकुटि का यक्ष और यक्षी दोनों के रूप में उल्लेख है। २४ यक्ष और यक्षियों की सूची में से अधिकांश के नाम एवं उनकी लाक्षणिक विशेषताएँ हिन्दू और कुछ उदाहरणों में बौद्ध देवकुल से प्रभावित हैं। जैनधर्म में हिन्दू देवकुल के विष्णु, शिव, ब्रह्मा, इन्द्र, स्कन्द कार्तिकेय, काली, गौरी, सरस्वती, चामुण्डा; और बौद्ध देवकुल की तारा, वज्रश्रृंखला, वज्रतारा एवं वज्रांकुशी के नामों और लाक्षणिक विशेषताओं को ग्रहण किया गया।[४५] जैन देवकुल पर ब्राह्मण और बौद्ध धर्मों के देवों का प्रभाव दो प्रकार का है। प्रथम, जैनों ने इतर धर्मों के देवों के केवल नाम ग्रहण किये और स्वयं उनकी स्वतंत्र लाक्षणिक विशेषताएँ निर्धारित कीं। गरुड़, वरुण, कुमार यक्षों और गौरी, काली, महाकाली, अम्बिका एवं पद्मावती यक्षियों के संदर्भ

में प्राप्त होने वाला प्रभाव इसी कोटि का है। द्वितीय, जैनों ने देवताओं के एक वर्ग की लाक्षणिक विशेषताएँ इतर धर्मों के देवों से ग्रहण कीं। कभी-कभी लाक्षणिक विशेषताओं के साथ ही साथ इन देवों के नाम भी हिन्दू और बौद्ध देवों से प्रभावित हैं। इस वर्ग में आने वाले यक्ष-यक्षियों में ब्रह्मा, ईश्वर, गोमुख, भृकुटि, षण्मुख, यक्षेन्द्र, पाताल, धरणेन्द्र एवं कुबेर यक्ष, और चक्रेश्वरी, विजया, निर्वाणी, तारा एवं वज्र-शृंखला यक्षियां प्रमुख हैं।

हिन्दू देवकुल से प्रभावित यक्ष-यक्षी युगल तीन भागों में विभाज्य हैं। पहली कोटि में ऐसे यक्ष-यक्षी युगल हैं जिनके मूल देवता आपस में किसी प्रकार संबंधित नहीं हैं। अधिकांश यक्ष-यक्षी युगल इसी वर्ग के हैं। दूसरी कोटि में ऐसे यक्ष-यक्षी युगल हैं जो मूल रूप में हिन्दू देवकुल में भी आपस में संबंधित हैं, जैसे श्रेयांशनाथ के ईश्वर एवं गौरी यक्ष-यक्षी युगल। तीसरी कोटि में ऐसे यक्ष-यक्षी युगल हैं जिनमें यक्ष एक और यक्षी दूसरे स्वतंत्र संप्रदाय के देवता से प्रभावित हैं। ऋषभनाथ के गोमुख-यक्ष एवं चक्रेश्वरी यक्षी इसी कोटि के हैं जो शिव और वैष्णवी से प्रभावित हैं; शिव और वैष्णवी क्रमशः शैव एवं वैष्णव धर्म के प्रतिनिधि देव हैं।

लगभग छठीं शती ई. में सर्वप्रथम सर्वानुभूति एवं अंबिका को अकोटा में मूर्त अभिव्यक्ति मिली। इसके बाद धरणेन्द्र और पद्मावती की मूर्तियाँ बनीं, और लगभग दसवीं शती ई. से अन्य यक्ष-यक्षियों की भी मूर्तियां बनने लगीं लगभग छठीं शती ई. में जिन मूर्तियों में और लगभग नवीं शती ई० में स्वतंत्र मूर्तियों के रूप में यक्ष-यक्षियों का निरूपण प्रारंभ हुआ। लगभग छठीं से नवीं शती ई. के मध्य की ऋषभनाथ, शांतिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ एवं कुछ अन्य जिनों की मूर्तियों में सर्वानुभूति (कुबेर) एवं अंबिका ही आमूर्तित हैं। लगभग दसवीं शती ई. से सर्वानुभूति एवं अंबिका के स्थान पर पारंपरिक या स्वतंत्र लक्षणों वाले यक्ष-यक्षी युगलों का निरूपण प्रारंभ हुआ, जिसके मुख्य उदाहरण देवगढ़, ग्यारसपुर, खजुराहो एवं राज्य संग्रहालय, लखनऊ में हैं। इन स्थलों की दसवीं शती ई. की मूर्तियों में ऋषभनाथ और नेमिनाथ के साथ क्रमशः गोमुख-चक्रेश्वरी और सर्वानुभूति—अंबिका तथा शांति-नाथ, पार्श्वनाथ एवं महावीर के साथ स्वतंत्र लक्षणों वाले यक्ष-यक्षी उत्कीर्ण हैं।

नवीं शती ई. के बाद बिहार, उड़ीसा और बंगाल के अतिरिक्त अन्य सभी क्षेत्रों की जिन मूर्तियों में यक्ष-यक्षी युगलों का नियमित अंकन हुआ है। स्वतंत्र अंकनों में यक्ष की तुलना में यक्षियों के चित्रण अधिक लोकप्रिय थे। २४ यक्षियों के सामूहिक अंकन के हमें तीन उदाहरण मिले हैं।[४६] पर २४ यक्षों के सामूहिक चित्रण का संभवतः

कोई प्रयास ही नहीं किया गया। यक्षों की केवल द्विभुजी और चतुर्भुजी मूर्तियाँ बनीं, पर यक्षियों की दो से बीस भुजाओं तक की मूर्तियाँ मिली हैं।

यक्ष और यक्षियों की सर्वाधिक जिन-संयुक्त और स्वतंत्र मूर्तियाँ उत्तर-प्रदेश एवं मध्य-प्रदेश के दिगंबर स्थलों पर उत्कीर्ण हुयीं। अतः यक्ष एवं यक्षियों के मूर्ति-विज्ञान परक विकास के अध्ययन की दृष्टि से इस क्षेत्र का विशेष महत्त्व है। इस क्षेत्र में दशवीं से बारहवीं शती ई. के मध्य ऋषभनाथ, नेमिनाथ एवं पार्श्वनाथ के साथ पारंपरिक, और सुपार्श्वनाथ, चंद्रप्रभ, शांतिनाथ एवं महावीर के साथ स्वतंत्र लक्षणों वाले यक्ष-यक्षी युगल निरूपित हुए। अन्य जिनों के साथ यक्ष-यक्षी द्विभुज और सामान्य लक्षणों वाले हैं। इस क्षेत्र में चक्रेश्वरी एवं अबिका की सर्वाधिक मूर्तियाँ हैं। साथ ही रोहिणी, मनोवेगा, गौरी, गांधारी, पद्मावती एवं सिद्धायिका की भी कुछ मूर्तियाँ मिली हैं। चक्रेश्वरी एवं पद्मावती की मूर्तियों में सर्वाधिक विकास दृष्टिगत होता है। यक्षों में केवल सर्वानुभूति, गरुड़ (देवगढ़) एवं धरणेन्द्र की ही कुछ स्वतंत्र मूर्तियाँ मिली हैं। इस क्षेत्र में २४ यक्षियों के सामूहिक अंकन के भी दो उदाहरण हैं, जो देवगढ़ (मंदिर १२ ई. ८६२) से मिले हैं। देवगढ़ के उदाहरण में अंबिका के अतिरिक्त अन्य किसी यक्षी के साथ पारंपरिक विशेषताएँ नहीं प्रदर्शित हैं। देवगढ़ समूह की अधिकांश यक्षियां सामान्य लक्षणों वाली और समरूप, तथा कुछ अन्य जैन महाविद्याओं एवं सरस्वती आदि के स्वरूपों से प्रभावित हैं।

गुजरात और राजस्थान में अंबिका की सर्वाधिक मूर्तियाँ बनीं। चक्रेश्वरी, एवं सिद्धायिका की भी मूर्तियाँ मिली हैं। यक्षों में केवल गोमुख, वरुण (१, ओसिया महावीर मंदिर) सर्वानुभूति एवं पार्श्व की ही स्वतंत्र मूर्तियाँ हैं। सर्वानुभूति की मूर्तियाँ सर्वाधिक हैं। इस क्षेत्र में छठीं से बारहवीं शती ई. तक सभी जिनों के साथ एक ही यक्ष-यक्षी युगल, सर्वानुभूति एवं अंबिका, निरूपित हैं। केवल कुछ उदाहरणों में ऋषभ-नाथ, पार्श्वनाथ एवं महावीर के साथ पारंपरिक या स्वतंत्र लक्षणों वाले यक्ष-यक्षी उत्कीर्ण हैं। ये उदाहरण ओसिया, आबू एवं कुंभारिया जैसे स्थलों से मिले हैं।

बिहार, उड़ीसा एवं बंगाल में यक्ष-यक्षियों की मूर्तियाँ नगण्य हैं। केवल चक्रेश्वरी, अंबिका एवं पद्मावती की कुछ स्वतंत्र मूर्तियाँ मिली हैं। उड़ीसा की नव-मुनि एवं बारभुजी गुफाओं (११वीं—१२वीं शती ई.) में क्रमशः सात और चौबीस यक्षियों की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। बारभुजी गुफा की २४ यक्षी मूर्तियां संबंधित जिनों की मूर्तियों के नीचे उत्कीर्ण हैं। द्विभुज से विंशतिभुज यक्षियाँ ललितमुद्रा या ध्यान-मुद्रा में आसीन हैं। २४ यक्षियों में केवल चक्रेश्वरी, अंबिका एवं पद्मावती के निरूपण

में ही परंपरा का कुछ पालन किया गया है। कुछ यक्षियों के निरूपण में ब्राह्मण एवं बौद्ध देवकुलों की देवियों के लक्षणों का अनुकरण किया गया है। शांतिनाथ, अरनाथ, एवं नेमिनाथ की यक्षियों के निरूपण में क्रमशः गजलक्ष्मी, तारा (बौद्ध देवी) एवं हंसवाहिनी ब्रह्माणी (त्रिमुख) के प्रभाव स्पष्ट हैं। अन्य यक्षियां किसी स्थानीय परंपरा से निर्देशित रही हो सकती हैं।

जैन शिल्प में २४ जिनों के अतिरिक्त अन्य शलाकापुरुषों में से केवल बलराम कृष्ण, राम और भरत की ही मूर्तियाँ मिलती हैं। बलराम और कृष्ण के अंकन दसवीं–बारहवीं शती ई. में हुए। ये मूर्तियाँ देवगढ़, खजुराहो, मथुरा एवं आबू से मिली हैं। श्रीलक्ष्मी और सरस्वती के उल्लेख प्रारंभिक जैन ग्रंथों में हैं। सरस्वती का अंकन कुषाण युग में (राज्य संग्रहालय लखनऊ, जे. २४, १३२ ई.) और श्रीलक्ष्मी का अंकन दसवीं शती ई. में हुआ। जैन परंपरा में इन्द्र की मूर्तियाँ ग्यारहवीं–बारहवीं शती ई. में बनीं। प्रारंभिक जैन ग्रंथों (**अन्तगडदशाओ** आदि) में उल्लिखित नैगमेषी की मूर्तियाँ कुषाणकाल में बनीं। शांतिदेवी, गणेश, ब्रह्मशांति एवं कपर्द्दि यक्षों के उल्लेख और उनकी मूर्तियाँ दसवीं से बारहवीं शती ई. के मध्य की हैं। जैन परंपरा में गणेश के लक्षण पूर्णतः हिन्दू परंपरा से प्रभावित हैं। गणेश की स्वतंत्र मूर्तियाँ ओसिया की जैन देवकुलिकाओं, कुंभारिया के नेमिनाथ और नडलई के जैन मंदिरों से प्राप्त होती हैं। ब्रह्मशांति एवं कपर्द्दि यक्षों के स्वरूप क्रमशः ब्रह्मा और शिव से प्रभावित हैं।[४७]

जैन परंपरा में ऋषभनाथ के पुत्र गोम्मटेश्वर बाहुबली एवं भरत चक्रवर्ती को विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त है। श्वेतांबर और दिगंबर दोनों ही परंपरा के ग्रंथों में भरत और बाहुबली के युद्ध और बाहुबली की कठोर तपश्चर्या के विस्तृत उल्लेख हैं। शिल्प में दिगंबर स्थलों पर इनका अंकन अधिक लोकप्रिय था। उसमें भी दक्षिण भारत के दिगंबर स्थलों पर इनकी सर्वाधिक मूर्तियाँ बनीं। दिगंबर स्थलों पर छठीं-सातवीं शती ई. में बाहुबली का निरूपण प्रारंभ हो गया था, जिसके उदाहरण बादामी और अयहोल में हैं। दोनों परंपरा की मूर्तियों में बाहुबली को कायोत्सर्ग मुद्रा में दिखाया गया है और उनके हाथों और पैरों में माधवी की लताए लिपटी हैं। साथ ही शरीर पर सर्प, वृश्चिक और छिपकली आदि का, और समीप ही वाल्मीक से निकलते सर्पो का प्रदर्शन हुआ है। ये सभी बातें बाहुबली की कठोर तपस्या के भाव को ही व्यक्त करती हैं। बाहुबली की इस कठिन तपश्चर्या के कारण ही खजुराहो एवं देवगढ़ में उन्हें जिनों के समान प्रतिष्ठा प्रदान की गई। इन स्थलों पर जिन मूर्तियों के समान ही बाहुबली

के साथ अष्टप्रातिहार्यों एवं यक्ष-यक्षी युगल का निरूपण हुआ है।[४८] बाहुबली की मूर्तियों में श्रवणबेलगोला की ५७ फीट ऊँची मूर्ति (९८१–९८३ ई.) सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और भारतीय कला का एक अप्रतिम और गौरवशाली उदाहरण है। खुले आकाश के नीचे स्थित यह विशाल मूर्ति विश्व की धार्मिक मूर्तियों में विशालतम भी है। बाहुबली की अन्य विशिष्ट मूर्तियाँ एलोरा, कारकल (१३४२ ई.) एवं वेणूर (१६०४ ई.) में हैं।

जिनों एवं यक्ष-यक्षियों के बाद जैन देवकुल में विद्याओं को सर्वाधिक प्रतिष्ठा मिली। **स्थानांगसूत्र, सूत्रकृतांग, नायाधम्मकहाओ** और **पउमचरियं** जैसे प्रारंभिक, एवं **हरिवंशपुराण, वसुदेवहिण्डी** और **त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र** जैसे परवर्ती ग्रंथों (छठीं–बारहवीं शती ई.) में विद्याओं के अनेक उल्लेख हैं।[४९] जैन ग्रंथों में वर्णित अनेक विद्याओं में से १६ प्रमुख विद्याओं को लेकर लगभग नवीं शती ई. में १६ महा-विद्याओं की सूची नियत हुई। लगभग नवीं से बारहवीं शती ई. के मध्य इन्हीं १६ विद्याओं के ग्रंथों में प्रतिमा लक्षण निर्धारित हुए और शिल्प में भी इनकी मूर्तियां बनीं।

१६ विद्याओं की प्रारंभिकतम सूचियां **जयापहुड** (९वीं शती ई.), **संहितासार** (९३९ ई.) एवं **स्तुति चतुर्विंशतिका** (लगभग ९७३ ई.) में हैं। वप्पभट्टि सूरि की **चतुर्विंशतिका** (७४३–८३८ ई.) में सर्वप्रथम १६ में से १५ विद्याओं की लाक्षणिक विशेषताएँ निरूपित हुईं। सभी १६ विद्याओं की लाक्षणिक विशेषताओं का निर्धारण सर्वप्रथम शोभन मुनि की स्तुति चतुर्विंशतिका में हुआ। विद्याओं की प्राचीनतम मूर्तियाँ ओसिया के महावीर मंदिर (लगभग ८वीं शती ई०) से मिली हैं। नवीं से तेरहवीं शती ई. के मध्य गुजरात और राजस्थान के श्वेतांबर जैन मंदिरों में विद्याओं की अनेक मूर्तियाँ उत्कीर्ण हुईं। १६ महाविद्याओं के सामूहिक चित्रण के भी प्रयास किये गये, जिसके चार उदाहरण क्रमशः कुंभारिया के शांतिनाथ मंदिर (११वीं शती ई.) और आबू के विमलवसही (दो उदाहरण : रंगमण्डप और देवकुलिका ४१, १२वीं शती ई.), एवं लूणवसही (रंगमण्डप १२३० ई.) से मिले हैं। दिगंबर स्थलों पर विद्याओं के चित्रण का एकमात्र संभावित उदाहरण खजुराहो के आदिनाथ मंदिर की भित्ति (११वीं शती ई.) पर है।

भारतीय कला के संदर्भ में जैन मूर्तिकला के उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यहाँ निम्नांकित विचार बिन्दुओं को रेखांकित करना उपयुक्त होगा :

भारतीय कला का विकास विभिन्न धार्मिक परम्पराओं के अनुसार हुआ है। इसलिए भारतीय कला के अनुशीलन के लिए भारतीय धार्मिक परम्पराओं तथा भारतीय संस्कृति के समष्टिगत स्वरूप का परिज्ञान आवश्यक है।

जैन परम्परा में मूर्ति पूजन के इतिहास का अनुशीलन करते समय सैन्धव सभ्यता के अधिक स्पष्ट, विशेषतः लिपि सम्बन्धी, संदर्भ महत्त्वपूर्ण हो सकते हैं।

'महावीर के जीवनकाल में उनकी मूर्ति निर्मित हो गयी थी जो **'जीवंत स्वामी'** के नाम से अभिहित हुई, इस निष्कर्ष को अन्तिम रूप से स्वीकार करने के लिए अभी और अधिक पुष्ट प्रमाणों की अपेक्षा है।

जिन प्रतिमायें भारतीय प्रतिमा विज्ञान में विशेष स्थान रखती हैं। जिन प्रतिमाओं के साथ लांछन, अष्ट-प्रातिहार्य, यक्ष-यक्षी युगल एवं अन्य सहायक आकृतियों का अंकन उत्तरोत्तर विकसित हुआ है।

सर्वतोभद्रिका जिन प्रतिमाओं के निर्माण में समवसरण की संकलपना के साथ ही भारतीय मूर्तिकला के अन्य समकालीन एवम् पूर्ववर्ती चतुर्मुखी उपादानों की परम्परा का तुलनात्मक अध्ययन भी आवश्यक है।

यक्ष-यक्षी, महाविद्याओं एवम् अन्य जैन देवों की मूर्तियों का अध्ययन समग्र भारतीय परम्पराओं के सांस्कृतिक आदान-प्रदान के संदर्भ में किया जाना चाहिए।

महाविद्याओं एवम् जिनों के जीवन दृश्यों का श्वेताम्बर स्थलों पर, तथा यक्षियों एवम् भरत और बाहुबलि आदि की दिगम्बर स्थलों पर विशेष लोकप्रियता भी ध्यातव्य है। कुछ जैन स्थलों पर काम-क्रिया से सम्बन्धित मूर्तियों का अंकन भी विशेष उत्सुकता का विषय है। खजुराहो के आदिनाथ मंदिर की १६ रथिकाओं की देवी मूर्तियाँ भी विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

पाद टिप्पणी

१. **एपिग्राफिया इण्डिका,** खं० १, कलकत्ता, १८९२, लेख सं० १, २, ७, २१, २९; खं० २, कलकत्ता, १८९४, लेख सं० ५, १६, १८, ३९।

२. भण्डारकर, डी० आर० **आर्किअलॉजिकल सर्वे आव इण्डिया, ऐनुअल रिपोर्ट,** १९०८–०९, कलकत्ता, १९१२, पृ० १०८; नाहर, पी० सी० **जैन इन्स्क्रेप्शन्स,** भाग १, कलकत्ता, १९१८, पृ० १९२–९४; **एपिग्राफिया इण्डिका,** खं० ११, पृ०५२–५४; विजयमूर्ति (सं०) **जैन शिलालेख संग्रह,** भाग ३, बम्बई, १९५७, पृ० ७९, १०८; शास्त्री, परमानन्द जैन, 'मध्य भारत का जैन पुरातत्त्व', **अनेकान्त,** वर्ष १९, अं० १–२, पृ० ५७।

३. ढाकी, एम० ए०, 'सम अर्ली जैन टेम्पल्स इन वेस्टर्न इण्डिया' **महावीर जैन विद्यालय गोल्डेन जुबिली वाल्यूम,** बम्बई, १९६८, पृ० २९८।

४. उन्निथन, एन० जी०, रैलिक्स ऑव जैनिज्म—आलतूर', **जर्नल इण्डियन हिस्ट्री,** खं० ४४, भाग १, अप्रैल १९६६, पृ० ५४२।

५. द्रष्टव्य, मार्शल, जान, **मोहनजोदड़ो ऐण्ड दि इण्डस सिविलिजेशन,** खं० १, लन्दन, १९३१, फलक १२, चित्र १३, १४, १८, १९, २२, पृ० ४५, फलक १०।

६. चंदा, आर० पी०, 'सिन्ध फाइव थाऊजण्ड इयर्स एगो', **मार्डन रिव्यू,** सं० ५२, अं० २, अगस्त १९३२, पृ० १५१–१६०; रामचन्द्रन, टी० एन०, 'हरप्पा ऐण्ड जैनिज्म' (हिन्दी अनु०), **अनेकान्त,** वर्ष १४, जनवरी १९५७, पृ० १५७–६१, शाह, यू० पी०, **स्टडीज इन जैन आर्ट,** वाराणसी, १९५६, पृ० ३–४।

७. शाह, यू० पी०, 'विगिनिंग्स ऑव जैन आइकानोग्राफी', **संग्रहालय पुरातत्त्व पत्रिका,** अं० ९, जून १९७२, पृ० २।

८. शाह, यू० पी०, 'ए यूनीक जैन इमेज ऑव जीवन्त स्वामी', **जर्नल ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट,** खं० १, अं० १, सितम्बर १९५१, पृ० ७२–७९; शाह, 'साइड लाइट्स आन दि लाईफ–टाइम सेण्डल वुड इमेज ऑव महावीर' **जर्नल ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट,** खं० १, अं० ४, जून १९५२, पृ० ३५८–६८; शाह, 'श्री जीवन्तस्वामी' (गुजराती), **जैन सत्यप्रकाश,** वर्ष० १७, अं० ५–६, पृ० ९८–१०९, शाह, **अकोटा ब्रोन्जेज,** बम्बई, १९५९, पृ० २६–२८।

९. शाह, यू० पी० 'श्री जीवन्तस्वामी', **जैन सत्यप्रकाश,** वर्ष १७, अं० ५–६, पृ० १०४, शाह, 'ए यूनीक जैन इमेज ऑव जीवंत स्वामी', **जर्नल ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट,** खं० १, अं० १, पृ० ७९।

१०. शाह, यू० पी०, 'ए यूनीक जैन इमेज ऑव जीवंत स्वामी', **पूर्व निर्दिष्ट,** पृ० ७२–७९।

११. शाह, यू० पी०, **अकोटा ब्रोन्जेज,** पृ० २६–२८, फलक ९ ए, बी, १२ ए।

१२. जैन, हीरालाल, **भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान,** भोपाल, १९६२, पृ० ७२।

१३. द्रष्टव्य, जैन, जे० सी०, **लाईफ इन ऐन्शण्ट इण्डिया ऐज डेपिक्टेड इन दि जैन केनन्स,** बम्बई, १९४७, पृ० २५२, ३००, ३२५।

१४. द्रष्टव्य, शाह, यू० पी०, 'श्री जीवंत स्वामी'; **जैन सत्यप्रकाश**, वर्ष १७, अं० ५–६, पृ० ९८।

१५. **वसुदेवहिण्डी**, खं० १, भाग १, पृ० ६१।

१६. **त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र** १०.११.३७९–८०।

१७. द्रष्टव्य, जायसवाल, के० पी०, 'जैन इमेज ऑव मौर्य पिरियड', **जर्नल बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी,** खं० २३, भाग १, १९३७, पृ० १३०–३२, बनर्जी—शास्त्री, ए०, 'मौर्यन स्कल्पचर्स फ्राम लोहानीपुर, पटना', **जर्नल बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी,** खं० २६, भाग २, जून १९४० पृ० १२०–२४।

१८. जायसवाल, के० पी०, **पूर्व निर्दिष्ट,** पृ० १३१।

१९. द्रष्टव्य, मुखर्जी, आर० के०, **चन्द्रगुप्त मौर्य ऐण्ड हिज टाइम्स**, दिल्ली, १९६६, पृ० ३९–४१ ।

२०. भट्टाचार्य, बी० सी०, **दि जैन आइकानोग्राफी**, लाहौर, १९३९, पृ० ३३ ।

२१. मुखर्जी, आर० के०, **अशोक**, दिल्ली, १९७४, पृ० ५४--५५ ।

२२. **परिशिष्टपर्वन्** ९.५४ : द्रष्टव्य; थापर, रोमिला, **अशोक ऐण्ड दि डिक्लाइन ऑव दि मौर्यज़**, आक्सफोर्ड, १९६३, पृ० १८७ ।

१३. सरकार, डी० सी०, **सेलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स**, खं० १, कलकत्ता, १९६५, पृ० २१३–२१ ।

२४. शाह, यू० पी०, 'ऐन अर्ली ब्रोन्ज इमेज ऑव पार्श्वनाथ इन दि प्रिंस ऑव वेल्स म्यूजियम, बम्बई', **बुलेटिन प्रिंस ऑव वेल्स म्यूजियम, वेस्टर्न इण्डिया**, अं० ३, १९५२–५३, पृ० ६३–६५, प्रसाद, ए० के०, 'जैन ब्रोन्जेज इन दि पटना म्यूजियम', **महावीर जैन विद्यालय गोल्डेन जुबिली वाल्यूम**, बम्बई १९६८, पृ० २७५–८० ।

२५. शर्मा, आर० सी०, 'प्रि-कनिष्क बुद्धिस्ट आइक्रानोग्राफी ऐट मथुरा', **आर्किअलॉजिकल कांग्रेस ऐण्ड सेमिनार पेपर्स**, नागपुर, १९७२ पृ० १९३–९४ ।

२६. श्रीवत्स, धर्मचक्र, स्वस्तिक, मत्स्ययुगल, त्रिरत्न ।

२७. ब्यूरल, जी०, 'स्पेसिमेन्स ऑव जैन स्कल्पचर्स फ्राम मथुरा', **एपिग्राफिया इण्डिका**, खं० १, कलकत्ता १८९४, पृ० ३१४–१८ ।

२८. **पउमचरियं** ३.१२२–२६ ।

२९. अग्रवाल, आर० सी०, न्यूली डिस्कवर्ड स्कलपचर्स फ्राम विदिशा, **जर्नल ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट**, खं० १८, अं० ३, मार्च १९६९, पृ० २५२–५३ ।

३०. कामदत्तो जिनागारपुरे लोकप्रवेशने ।
मृगध्वजस्य प्रतिमां सन्यधान्महिषस्य च ॥
अत्रैव कामदेवस्य रतेश्च प्रतिमां व्यधात् ।
जिनागारे समायाताः प्रजायाः कौतुकाय सः ॥
कामदेवरतिप्रेक्षाकौतुकेन जगज्जनाः ।
जिनायतनमागत्य प्रेक्ष्य तत्प्रतिमाद्वयम् ॥
संविधानकमाकर्ण्य तद्भाद्रकमृगध्वजम् ।
बहवः प्रतिपद्यन्ते जिनधर्ममहर्द्धिकम् ॥
प्रसिद्धं च गृहं जैनं कामदेवगृहाख्यया ।
कौतुकागतलोकस्य जातं जिनमताप्तये ॥—**हरिवंशपुराण** २९.१–५ ।
(**हरिवंशपुराण**; सं० पन्नालाल जैन, ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रंथमाला, संस्कृत ग्रंथांक २७, वाराणसी, १९६२, पृ० ३७८)

३१. **हरिवंशपुराण** २९.९–१० ।

३२. ज्ञातव्य है कि जैन धर्म के सभी अर्धमागधी आगम ग्रन्थ लगभग पाँचवीं शती ई० के मध्य या छठीं शती ई० के प्रारम्भ में (४५४ या ५१४ ई०) देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व में वलभी (गुजरात) वाचन में लिपिबद्ध किये गये।

३३. ६३ शलाकापुरुषों की सूची में २४ जिनों के अतिरिक्त १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ वासुदेव और ९ प्रतिवासुदेव सम्मिलित हैं।

३४. २४ जिनों की सूची में ऋषभ, अजित, सम्भव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, सुविधि (पुष्पदंत), शीतल, श्रेयांश, वासुपूज्य, विमल, अनंत, धर्म, शांति, कुंथु, अर, मल्लि, मुनिसुव्रत, नमि, नेमि, पार्श्व एवं वर्धमान (महावीर) ये नाम हैं। द्रष्टव्य **समवायांगसूत्र** १५७, **कल्पसूत्र** २, १८४–२०३; **पउमचरियं** १.१–७, ५.१४५–४८।

३५. अष्टप्रातिहार्यों की सूची में अशोक वृक्ष, देव पुष्पवृष्टि, दिव्यध्वनि, चामर, सिंहासन, भामण्डल, देव दुन्दुभि एवं त्रिछत्र सम्मिलित हैं।
अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिर्दिव्यध्वनिश्चामरमासनं च।
भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम्॥
प्रतिष्ठासारोद्धार १.७६; **हरिवंशपुराण** ३.३१–३८; **रूपमण्डन** ६.३३–३५।
(द्रष्टव्य **जैन धर्म का मौलिक इतिहास**—हस्तीमल, भाग १, जयपुर, १९७१, पृ० ३३),

३६. विस्तार के लिए द्रष्टव्य; चन्दा, आर० पी०, 'जैन रिमेन्स एट राजगिर', **आर्किअलॉजिकल सर्वे ऑव इण्डिया, ऐनुअल रिपोर्ट,** १९२५–२६, पृ० १२५–२६; तिवारी, मारुतिनन्दन प्रसाद, 'एन अनपब्लिश्ड जिन इमेज इन दि भारत कला भवन वाराणसी', **विश्वेश्वरानन्द इन्डोलॉजिकल जर्नल,** खं० १३, अं० १–२, मार्च-सितम्बर १९७५ हैं, ३७३–७५; शाह, यू० पी०, **अकोटा ब्रोन्जेज,** बम्बई, १९५९, पृ० २८–२९।

३७. २४ जिनों के लांछनों की सूची इस प्रकार है—वृषभ, गज, अश्व, कपि, क्रौंच पक्षी, पद्म, स्वस्तिक (नन्द्यावर्त), शशि, मकर, श्रीवत्स (या स्वस्तिक), गण्डक (या खड्गी), महिष, शूकर, श्येन, वज्र, मृग, छाग (बकरा), नंद्यावर्त (या तगरकुसुम–मत्स्य), कलश, कूर्म, नीलोत्पल, शंख, सर्प एवं सिंह।

३८. **एपिग्राफिया इण्डिका** खं. २, कलकत्ता, १८९४ (पृ. २०२-२०३, २१०।

३९. द्रष्टव्य, शाह, यू. पी., **स्टडीज इन जैन आर्ट,** वाराणसी, १९५५, पृ. ९४-९५, दे, सुधीन, 'चौमुख ए सिम्बालिक जैन आर्ट', **जैन जर्नल,** खं. ६, अं. १, जुलाई १९७१, पृ. २७; श्रीवास्तव, बी. एन., 'सम इन्टरेस्टिंग जैन स्कल्पचर्स इन दि स्टेट म्यूजियम, लखनऊ', **संग्रहालय पुरातत्व पत्रिका,** अं. ९, जून १९७२, पृ. ४५।

४०. विस्तार के लिए द्रष्टव्य, तिवारी, मारुतिनन्दन प्रसाद, 'सर्वतोभद्रिका जिन मूर्तियाँ या जिन चौमुखी', **सम्बोधि,** खं. ८, अं. १-४, अप्रैल '७९–जनवरी '८०, पृ. १-७।

४१. मथुरा से कुषाणकालीन एकमुखी और पंचमुखी शिवलिंगों के उदाहरण मिले हैं। पंचमुखी शिवलिंग में चार मुख चार दिशाओं में हैं और एक मुख सबसे ऊपर है। राजघाट

(वाराणसी) से मिली परवर्ती शुंग काल की एक त्रिमुख यक्ष मूर्ति में तीन दिशाओं में तीन स्थान पर यक्ष मूर्तियाँ बनी हैं : द्रष्टव्य, अग्रवाल, वी. एस., **भारतीय कला,** वाराणसी १९७७, पृ. २६७-६८; अग्रवाल, पी. के. 'दि ट्रिपल यक्ष स्टैचू फ्राम राजघाट', **छवि,** वाराणसी, १९७१, पृ. ३४०-४२ ।

४२. वी. एस. अग्रवाल ने स्वस्तिक को चार दिशाओं का सूचक माना है । अग्रवाल ने ब्रह्मा के चार मुखों को चार दिशाओं का मूर्त रूप माना है, जिससे स्वस्तिक का रूप संपन्न होता था । अशोक के सारनाथ सिंहशीर्ष स्तम्भ में चार दिशाओं में चार सिंह आकृतियाँ बनी हैं : द्रष्टव्य, अग्रवाल, वी. एस., **पूर्व निर्दिष्ट,** पृ. ३३६, ३४३ ।

४३. द्रष्टव्य, शाह, यू. पी. 'यक्षज वरशिप इन अर्ली जैन लिट्रेचर', **'जर्नल ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट',** खं. ३, अं. १, सितम्बर १९५३, पृ. ६१-६२ ।

४४. जैन ग्रंथों के आधार पर २४ यक्ष एवं यक्षियों की सूचियाँ निम्नलिखित हैं : गोमुख-चक्रेश्वरी (या अप्रतिचक्रा), महायक्ष-अजिता (रोहिणी), त्रिमुख-दुरितारी (प्रज्ञप्ति), यक्षेश्वर (या ईश्वर)-कालिका (या वज्रश्रृंखला), तुम्बरु (या तुम्बर)-महाकाली (पुरुषदत्ता), कुसुम (या पुष्प)-अच्युता (या मनोवेगा), मातंग (या वरनन्दि)-शान्ता (या काली), विजय (या श्याम)-भृकुटि (या ज्वालामालिनी), अजित-सुतारा (या महाकाली), ब्रह्म-अशोका (या मानवी), ईश्वर-मानवी (या गौरी), कुमार-चण्डा (या गान्धारी), षण्मुख (या चतुर्मुख)-विदिता (या वैरोटी) पाताल-अंकुशा (या अनन्तमती), किन्नर-कन्दर्पा (या मानसी), गरुड-निर्वाणी (या महामानसी), गन्धर्व-बला (या जया), यक्षेन्द्र (या (खेन्द्र)-धारणी (या तारावती), कुबेर (या यक्षेश)-वैरोट्या (या अपराजिता), वरुण-नरदत्ता (या बहुरूपिणी), भृकुटि-गान्धारी (या चामुण्डा) गोमेध-अम्बिका (या आम्रा या कुष्माण्डिनी), पार्श्व (या धरण)-पद्मावती एवं मातंग-सिद्धायिका (या सिद्धायिनी) ।

४५. द्रष्टव्य, शाह, यू. पी. 'इण्ट्रोडक्शन ऑव शासन देवताज इन जैन वरशिप' **'प्रोसिडिंग्स एण्ड ट्रान्जेक्शन्स ऑव दि आल इण्डिया ओरियण्टल कांफरेन्स,** २०वाँ अधिवेशन, भुवनेश्वर, अक्टूबर १९५९, पृ. १५१-५२; भट्टाचार्य, बेनायतोश, **दि इंडियन बुद्धिस्ट आइकानोग्राफी,** कलकत्ता, १९६८, पृ. ५६, २३५, २४०, २४२, २९७; बनर्जी, जे. एन. **दि डीवलपमेण्ट ऑव हिन्दू आइकानोग्राफी,** कलकत्ता, १९५६, पृ. ५६१-६३ ।

४६. द्रष्टव्य, ब्रुन, क्लाज, **दि जिन इमेजेज ऑव देवगढ़,** सिडेन, १९६९, पृ. ९८-११२; मित्रा, देबला, 'शासन देवीज इन दि खण्डगिरि केव्स,' **जर्नल एशियाटिक सोसाइटी,** खं. १, अं. २, १९५९, पृ. १३०-३३ ।

४७. द्रष्टव्य, शाह, यू. पी. 'ब्रह्मशांति ऐण्ड कपर्द्दी यक्षज', **जर्नल एम. एस. यूनिवर्सिटी, बड़ौदा,** खं. ७, अं. १, मार्च १९५८, पृ. ५९-७२ ।

४८. विस्तार के लिए द्रष्टव्य, जैन, सागरमल तथा तिवारी, मारुतिनन्दन प्रसाद, **जैन साहित्य और शिल्प में बाहुबलि**, वाराणसी, १९८१ ।

४९. द्रष्टव्य, शाह, यू० पी०, 'आइकानोग्राफी ऑव दि सिक्सटीन जैन महाविद्याज', **जर्नल इण्डियन सोसाइटी ऑव ओरियण्टल आर्ट**, खं० १५, १९४७, पृ० ११४–७७; तिवारी, मारुतिनन्दन प्रसाद, 'दि आइकानोग्राफी ऑव दि सिक्सटीन जैन महाविद्याज ऐज रिप्रेजेण्टेड इन दि सीलिंग ऑव दि शांतिनाथ टेम्पल, कुंभारिया', **संबोधि**, खं० २, अं० ३, अक्तूबर १९७३, पृ० १५–२२, 'दि आइकानोग्राफी ऑव दि सिक्सटीन जैन महाविद्याज ऐज इनश्यिटेड इन दि आइकानोग्राफिक टेक्स्ट्स', **संबोधि**, खं ५, अं० २–३, जुलाई-अक्तूबर १९७६, पृ० ६९–७३ ।

कला इतिहास विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी, उत्तर प्रदेश ।

गुजरात में जैनधर्म और जैन कला

डॉ. हरिहर सिंह

गुजरात जैनधर्म की मातृभूमि नहीं है। वहाँ किसी तीर्थंकर का जन्म नहीं हुआ है। तथापि इस क्षेत्र में जैनधर्म का प्रभाव अति प्राचीन काल से रहा है। जैन परम्परा के अनुसार प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने सौराष्ट्र स्थित शत्रुंजयगिरि पर धर्मोपदेश किया था।[1] सौराष्ट्र के ही रैवतक गिरि (गिरनार) पर बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के तीन प्रमुख कल्याणक अर्थात् महाभिनिष्क्रमण, केवलज्ञान और निर्वाण सम्पन्न हुए थे।[2] इन स्थानों की धार्मिक पवित्रता के कारण यहाँ प्राचीन काल से कलापूर्ण मन्दिरों का निर्माण हुआ है, जिनके अवशेष आज भी विद्यमान हैं।

ऐतिहासिक काल में गुजरात सर्वप्रथम सम्भवतः उस समय जैनधर्म के सम्पर्क में आया जब जैनाचार्य भद्रबाहु मगध सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य (ई. पू. चौथी सदी का उत्तरार्ध) के साथ दक्षिण की ओर प्रस्थान किये और अपने प्रवास काल में गिरनार की यात्रा की।[3] मौर्य सम्राट सम्प्रति जैन धर्मावलम्बी था। जैन परम्परा में उसका उसी प्रकार गुणगान किया गया है जिस प्रकार बौद्ध परम्परा में अशोक का। जिस प्रकार अशोक ने बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी थी उसी प्रकार सम्प्रति ने जैनधर्म के उत्थान में योगदान किया था।[४] उसने उज्जैन से शत्रुंजय तक की तीर्थयात्रा में एक जैनसंघ का नेतृत्व भी किया था जिसमें आचार्य सुहस्ति सहित ५००० श्रमण सम्मिलित हुए थे।[५]

प्रथम सदी ई. पूर्व में गुजरात में जैनधर्म का पर्याप्त प्रभाव था। कालकाचार्य-कथा में उल्लेख है कि इस काल में आचार्य कालक भड़ौच गये थे और वहाँ लोगों को जैनधर्म का उपदेश किये थे।[६] इस समय की एक अन्य घटना यह थी कि भड़ौच के प्रसिद्ध न्यायविद् आचार्य खपुट ने बौद्धों को एक धार्मिक वाद-विवाद में शिकस्त दी थी।[७]

गुजरात में जैनधर्म की विद्यमानता का निश्चित प्रमाण क्षत्रप काल से उपलब्ध होता है। क्षत्रप शासक जयदामन के पौत्र के जूनागढ़ शिलालेख (दूसरी सदी ई.) में उन लोगों का उल्लेख है जिन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया और जरामरण से मुक्ति पायी।[८] 'केवलज्ञान' और 'जरामरण' जैन पारिभाषिक शब्द हैं और इनसे इस क्षेत्र

में जैनधर्म के प्रभाव की स्पष्ट झलक मिलती है। उपर्युक्त शिलालेख के जूनागढ़ के एक गुफा में प्राप्त होने तथा उसमें जैन परिभाषिक शब्दों के अंकन होने से यह अनुमान किया जा सकता है कि उक्त गुफा में सम्भवतः किसी समय जैन श्रमण निवास करते थे। इस गुफा तथा जूनागढ़ के बाबा प्यारा की गुफाओं के जैन श्रमणों के लिए निर्मित होने की बात इससे भी पुष्ट होती है कि इनमें स्वस्तिक, भद्रासन, मीनयुगल, नन्दीपद कलश आदि महत्त्वपूर्ण जैन प्रतीकों का अंकन है।[९] ये सभी जैन प्रतीक कल्याणकारी माने जाते हैं तथा इनका अंकन मथुरा के जैन स्तूप के आयागपट्टों पर भी हुआ है।[१०] गुजरात में जैनधर्म का प्रभाव इससे भी परिलक्षित होता है कि जैन आगमों की माथुरी वाचना (सन् ३००-३१३ ई.) के समय नागार्जुन ने वलभी (सौराष्ट्र) में जैनागमों को लिपिबद्ध करने का प्रयास किया।[११]

गुप्तकाल में वलभी जैनधर्म का प्रमुख केन्द्र था। श्वेतांबर परंपरा के अनुसार इसी स्थान पर वीर निर्वाण संवत् ९८० (४५४ ई.) अथवा ९९३ (४६७ ई.) में देवर्धिगणि क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में जैन श्रमणों की एक संगीति बुलाई गई और जैनागमों को को लिपिबद्ध किया गया।[१२] जैनधर्म की विद्यमानता के पुरातात्त्विक प्रमाण भी प्राप्त हुए हैं। अकोटा से प्राप्त और संप्रति बड़ौदा संग्रहालय में सुरक्षित कांस्य जैन मूर्तियाँ इसके सबल प्रमाण हैं।[१३] इनमें ऋषभदेव और जीवन्त स्वामी की मूर्तियाँ गुप्तकालीन कला के उत्कृष्ट नमूने हैं। सभी मूर्तियाँ धोती एवं अलंकार पहने हैं। इनकी अनग्नता से इनके श्वेतांबर होने का संकेत मिलता है। सम्भवतः इस काल तक श्वेतांबर परम्परा यहाँ प्रभावशाली हो गयी थी।

वलभी के मैत्रक शासकों के राज्यकाल में जैनधर्म उन्नत अवस्था में था। शक संवत् ५३१ (६०९ ई.) में जैनग्रंथ विशेषावश्यकभाष्य की एक प्रति वलभी के एक जैन मन्दिर को भेंट की गई।[१४] इस काल की एक अन्य घटना यह थी कि नयचक्र के ग्रंथकर्ता मल्लवादी ने एक धार्मिक वादविवाद में बौद्धों को पराजित किया जिसके परिणाम स्वरूप उन्हें 'वादी' की उपाधि प्रदान की गयी।[१५] जैन पट्टावलियों से भी इस काल में यहाँ जैनधर्म की विद्यमानता का संकेत मिलता है क्योंकि उनमें उल्लेख है कि वलभी के विनाश के समय जैन मूर्तियों को सुरक्षित स्थान पर रखने के लिए उन्हें श्रीमाल स्थानान्तरित किया गया तथा गंधर्ववादिवेताल शांतिसूरि ने इस दुर्दिन काल में जैनसंघ की रक्षा की।[१६] आचार्य मेरुतुंग ने उक्त जैन मूर्तियों के सोमनाथ एवं श्रीमालपुर स्थानान्तरित करने की घटना को चामत्कारिक ढंग से वर्णित किया है।[१७] शत्रुंजय माहात्म्य के रचयिता धनेश्वरसूरि वलभीनरेश शिलादित्य के सम-

सामयिक थे। धनेश्वरसूरि के प्रभाव से शिलादित्य ने जैनधर्म अंगीकार किया और उन्हीं की प्रेरणा से उसने बौद्धों को अपने राज्य से निष्कासित किया तथा तीर्थस्थानों पर अनेक जैन चैत्य स्थापित कराये।[१८] महूदी, लिलवादेव, वसन्तगढ़ और वलभी से प्राप्त कांस्य जैनमूर्तियों तथा ढांक की गुफा मूर्तियों से भी इस काल में जैनधर्म के प्रभावकारी होने का संकेत मिलता है।[१९]

नान्दीपुरी के गुर्जरराजाओं के शासनकाल में जैनधर्म ने पर्याप्त प्रतिष्ठा अर्जित की। जयभट प्रथम और दद्द द्वितीय ने 'वीतराग' और 'प्रशान्तराग' जैसे विरुद धारण किये।[२०] चूँकि ये विरुद जैन परम्परा के हैं अतः इन राजाओं पर जैनधर्म का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। यह भी संभव है कि इन शासकों को ये विरुद जैन धर्मावलम्बियों द्वारा प्रदान किये गये हों क्योंकि इनका अपना धर्म सौर्य धर्म था।[२१] ईसा की छठी-सातवीं शताब्दी की अकोटा की कुछ कांस्य जैन मूर्तियाँ भी जैनधर्म की उन्नत अवस्था की प्रतीक हैं।[२२]

गुजरात के चालुक्यों के शासनकाल में जैनधर्म के सम्बन्ध में कोई सूचना नहीं प्राप्त होती है लेकिन कर्नाटक में जैनधर्म काफी प्रभावशाली था तथा चालुक्य नरेश विनयादित्य, विजयादित्य और विक्रमादित्य द्वितीय द्वारा इसे पर्याप्त प्रश्रय मिला।[२३] राष्ट्रकूट शासक अमोघवर्ष प्रथम, कृष्ण द्वितीय, इन्द्र तृतीय और इन्द्र चतुर्थ द्वारा जैनधर्म को समुचित प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। वस्तुतः अमोघवर्ष हिन्दू की अपेक्षा जैन अधिक था। उसने आचार्य जिनसेन को अपना धर्मगुरु स्वीकार किया था। वह उनका इतना आदर करता था कि उनके स्मरण मात्र से ही वह अपने को कृत्यकृत्य समझता था। अनेक राष्ट्रकूट सामन्तशासक तथा अधिकारीगण भी जैनधर्मावलम्बी थे।[२४] सन् ८२१ ई. के एक शिलालेख में नवसारी में अवस्थित मूलसंघ की सेनसंघ शाखा, चैत्यलायतन और वसहिका का उल्लेख है।[२५] मूलसंघ दिगम्बर जैनसंघ की मूलशाखा है और सेनसंघ उसकी प्रशाखा।[२६] ऐसा प्रतीत होता है कि इस क्षेत्र में दिगम्बर जैनधर्म अधिक प्रभावशाली था। इस काल की अकोटा की अनेक कांस्य जैन मूर्तियों[२७] से यहाँ श्वेताम्बर जैनधर्म का भी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

गुर्जर प्रतीहार शासक जैनधर्म के प्रति उदार थे। प्रभावक चरित के अंतर्गत बप्पभट्टि चरित में नागावलोग (नागभट द्वितीय) के जैनधर्म अंगीकार करने का उल्लेख है। उसमें यह भी उल्लेख है कि उसने मोदेरा और अणहिलपुर में जैनमन्दिरों का निर्माण कराया और शत्रुंजय एवं गिरनार की तीर्थयात्रा की।[२८] इस काल में

जैनधर्म के प्रभावकारी होने की बात वर्धमानपुर एवं दोस्तटिका में जैनमन्दिरों के अवस्थित होने से भी प्रमाणित होती है।[२९]

चापोतकटों के शासनकाल में जैनधर्म ने काफी प्रगति की तथा उसकी नींव अत्यन्त दृढ़ हो गयी। वनराज ने देवचन्द्रसूरि को अपना गुरु स्वीकार किया तथा जैनधर्म अंगीकार कर लिया।[30] शीलगुणसूरि के निर्देश पर तथा जैनधर्म के प्रति अपना सम्मान प्रदर्शित करने के लिए उसने अपनी राजधानी अणहिलपाटक में पंचासर पार्श्वनाथ का मन्दिर बनवाया।[31] जैनधर्म के प्रति उसके सम्मान का संकेत इस बात से भी मिलता है कि उसने चैत्यवासी जैन साधुओं की सलाह पर अचैत्यवासी साधुओं को राजधानी से निष्कासित कर दिया।[32]

चौलुक्य या सोलंकी काल में जैनधर्म अपने चरमोत्कर्ष को प्राप्त हुआ। सोलंकी राजाओं ने जैनधर्म को यथोचित प्रश्रय प्रदान किया। सोलंकीवंश का संस्थापक मूल-राज (लग० ९४१–९९६ ई०) शैव था परन्तु जैनधर्म के प्रति वह उदार था क्योंकि उसने युवराज चामुण्डराय को वरुणसर्मक (वर्तमान वदस्मा–मेहसाना) स्थित जैन मन्दिर के संरक्षणार्थ एक भूमिदान की अनुमति दी थी।[33] मूलराज ने अपनी राज-धानी अणहिलपाटक में एक जैन मन्दिर का भी निर्माण कराया था।[34] संभवतः वडनगर के आदिनाथ मन्दिर का पीठ और वेदिबन्ध इसी के राजकाल में निर्मित हुए हैं।

मूलराज के बाद क्रमशः चामुण्डराज (ल० ९९६–१००९ ई.) और दुर्लभराज (ल० १००९–१०२३ ई०) सिंहासनारूढ़ हुए। हेमचन्द्र से ज्ञात होता है कि जैन सिद्धान्तों को भलीभाँति समझने के उपरान्त दुर्लभराज ने विद्वान् जैन श्रमणों का आदर-सत्कार किया और साथ ही साथ बौद्धों के एकान्तवाद का विरोध किया।[35] हेम-चन्द्र के इस कथन का स्पष्टीकरण द्वयाश्रयकाव्य पर लिखित अभयतिलक की टीका में इस प्रकार किया गया है—दुर्लभराज ने जैन सिद्धान्तों का ज्ञान जिनेश्वरसूरि से प्राप्त किया और जब जिनेश्वरसूरि ने एक वादविवाद में बौद्धों के एकान्तवाद का खण्डन किया तो उसने भी बौद्ध सिद्धान्तों का प्रत्याख्यान किया।[36] जिनेश्वरसूरि के पाण्डित्य से प्रसन्न होकर दुर्लभराज ने उन्हें 'खरतर' की उपाधि प्रदान की।[37] इस काल में कई जैन मन्दिर निर्मित हुए जिनमें आज केवल थान का जैन मन्दिर ही अवशिष्ट है।

दुर्लभराज का उत्तराधिकारी भीम प्रथम (ल० १०२३–१०६५ ई.) शैव धर्मा-वलम्बी था परन्तु उसने जैनधर्म के प्रचार-प्रसार में किसी भी प्रकार की रुकावट नहीं डाली। इसका सबसे प्रबल प्रमाण उसके दण्डनायक विमलशाह द्वारा निर्मित

आबू का विश्वविख्यात ऋषभदेव मन्दिर है जो आज भी विद्यमान है। इसी के शासन-काल का कुंभारिया का सुन्दर महावीर मन्दिर भी है।

सोलंकी नरेश कर्ण (लगभग १०६५-१०९३ ई.) के संबंध में इतना ही ज्ञात है कि उसने जैन साधु अभयतिलकसूरि को उनके गंदगी से रहने के कारण 'मलधारि' की उपाधि प्रदान की थी।[३८] संभवतः कुंभारिया का वर्तमान शांतिनाथ मन्दिर इसी समय बना।

सिद्धराज जयसिंह (लग० १०९३–११४३ ई.) के शासनकाल में जैनधर्म को बहुत प्रोत्साहन मिला। अपने पूर्वजों की तरह वह भी शैव था परन्तु जैनधर्म एवं जैनों के प्रति उसके मन में काफी सम्मान था। अभयदेवसूरि, कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्र, हेमचन्द्र मलधारि, वीराचार्य और इसी प्रकार अन्य जैनाचार्यों के प्रति वह मित्रवत् व्यवहार करता था।[३९] शान्तु, आशुक, वाग्भट, आनन्द, पृथ्वीपाल, मुंजाल और उदयन जैसे जैन उसके मन्त्रिमण्डल के सदस्य थे।[४०] उदयन की सहायता से उसने खंगार पर विजय प्राप्त की और 'चक्रवर्ती' की उपाधि ग्रहण की।[४१]

जयसिंह के शासनकाल से श्वेताम्बर जैनधर्म गुजरात का प्रमुख धर्म बन गया। प्रबन्धों के अनुसार उसके ही दरबार में दिगम्बरों एवं श्वेताम्बरों का एक बहुचर्चित वाद-विवाद सम्पन्न हुआ। इस वाद-विवाद में श्वेताम्बर आचार्य देवचन्द्रसूरि ने दिगम्बर आचार्य कुमुदचन्द्र को परास्त किया जिसके परिणामस्वरूप दिगम्बरों को गुजरात छोड़ना पड़ा।[४२] दिगम्बरों पर श्वेताम्बरों के प्रभुत्व का संकेत इस बात से भी होता है कि एक ओर जहाँ श्वेताम्बर मन्दिर एवं अभिलेखों की बहुतायत है वहीं दूसरी ओर दिगम्बरों के पुरातात्त्विक अवशेष नगण्य हैं।[४३]

जयसिंह के राज्यकाल में अनेक जैन मंदिरों का निर्माण हुआ। परन्तु इनमें केवल कुंभारिया के पार्श्वनाथ और नेमिनाथ मन्दिर, गिरनार का नेमिनाथ मन्दिर और सेजाकपुर का जैन मन्दिर ही आज विद्यमान हैं।

जयसिंह ने जैन मन्दिरों का निर्माण कराकर[४४] तथा गिरनार एवं शत्रुंजय जैसे जैन तीर्थों की यात्रा कर जैनधर्म को पर्याप्त संरक्षण भी प्रदान किया। इतना ही नहीं, चौदहवीं सदी की एक प्रशस्ति में उल्लेख है कि उसने जैनधर्म स्वीकार कर यह आदेश जारी किया कि उसके राज्य के एवं अन्य स्थानों के जैन मन्दिरों पर स्वर्ण कलश एवं पताका लगाये जायें तथा प्रतिवर्ष पवित्र दिवसों पर पशुबध न किये जायें।[४५] परन्तु पुष्ट प्रमाण के अभाव में यह निष्कर्ष निकालना कि जयसिंह बिलकुल

जैन हो गया था, उचित नहीं है, क्योंकि एक अवसर पर उसने जैन मन्दिरों पर पताका फहराने की मनाही कर दी थी।[४६]

कुमारपाल (लग० ११४३–११७२ ई०) के गद्दी पर बैठने पर जैनधर्म अपने चरमोत्कर्ष को प्राप्त हुआ। वह जैनधर्म का सबसे प्रबल पोषक था। उसने गुजरात में जैनधर्म के प्रचार-प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। उसी की उदारता का परिणाम था कि गुजरात श्वेताम्बर जैनधर्म का प्रमुख केन्द्र हो गया।

अपने प्रारम्भिक जीवनकाल में कुमारपाल शैव था परन्तु कालान्तर में वह जैन हो गया। आचार्य हेमचन्द्र के उपदेश से वह इतना प्रभावित हुआ कि उसने 'परमार्हत' विरुद धारण किया।[४७] जैनधर्म में उसकी आस्था अपनी पराकाष्ठा पर उस समय पहुँची प्रतीत होती है जब उसने जैनधर्म के कुछ मूलभूत सिद्धान्तों के परिपालन करने की खुलेयाम उद्घोषणा की। हेमचन्द्रकृत द्वयाश्रयकाव्य में उल्लेख है कि उसने 'अमारि' की घोषणा की।[४८] 'अमारि' सम्बन्धी साहित्यिक उल्लेख का समर्थन कुमारपाल के सामन्तों के अभिलेखों से भी होता है। सन् ११५२ के किराडु शिलालेख के अनुसार महाराज आल्हणदेव ने यह आदेश जारी किया कि शिवरात्रि तथा प्रत्येक पक्ष के अष्टमी, एकादशी और चतुर्दशी के दिन पशुबध न किया जाय।[४९] कुमारपाल के शासनकाल के एक अन्य अभिलेख के अनुसार पूर्णपाक्षदेव ने यह आदेश जारी किया कि अमावस्या तथा अन्य शुभ दिनों पर पशुबध न किया जाय।[५०] यद्यपि कुमारपाल के अपने अभिलेखों में 'अमारि' की कहीं भी चर्चा नहीं है तथापि यह आंशिक उद्घोषणा नहीं थी क्योंकि हेमचन्द्र ने स्पष्ट उल्लेख किया है कि हिन्दू देवी-देवताओं को भी पशुबलि न की जाय।[५१] उत्तरकालीन प्रबन्धों से भी इस बात की पुष्टि होती है क्योंकि उनमें उल्लेख है कि दुर्गापूजा के अवसर पर पशुबलि न की जाय।[५२] आखेट पर भी निषेध लागू किया गया था।[५३] इतना ही नहीं, कुमारपाल ने पुत्रहीन व्यक्तियों की सम्पत्ति के अधिग्रहण की मनाही कर दी थी[५४] तथा सुरापान, जुआ खेलने और कपोत एवं कुक्कुट की लड़ाई में बाजी लगाने पर पाबन्दी लगा दी थी।[५५]

उपर्युक्त घोषणाओं के अतिरिक्त कुमारपाल ने स्थान-स्थान पर जैन मन्दिरों का निर्माण कराकर भी जैनधर्म को पोषण प्रदान किया। हेमचन्द्र ने अपने द्वयाश्रय-काव्य में कुमारपाल द्वारा निर्मित केवल दो ही जैन मन्दिरों का उल्लेख किया है; इनमें एक अणहिलपाटक में और दूसरा देवपट्टन में अवस्थित था, दोनों ही मन्दिर पार्श्वनाथ के थे।[५६] परन्तु हेमचन्द्र ने अपने त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में उल्लेख

किया है कि प्रायः सभी गाँवों में जैन मन्दिर थे।[५७] प्रभावकचरित में अणहिलपाटक स्थित कुमारविहार के उल्लेख के अतिरिक्त यह भी वर्णन है कि कुमारपाल ने अपने ३२ दाँतों के प्रतिशोधरूप ३२ विहारों का निर्माण करवाया, अणहिलपाटक के त्रिभुवनविहार में नेमिनाथ की प्रतिमा स्थापित करवाई, शत्रुंजय पर एक जैन मन्दिर का निर्माण करवाया तथा प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण स्थानों पर जैन मन्दिर बनवाये।[५८] मेरुतुंग ने तो उसे १४४० जैन मन्दिरों का निर्माणकर्त्ता कहा है।[५९] कुमारपाल ने शत्रुंजय और गिरनार जैसे पवित्र जैन तीर्थस्थानों की यात्रा भी की थी।[६०] कुमारपाल द्वारा निर्मित तारंगा का अजितनाथ मन्दिर आज भी विद्यमान है। इस मन्दिर की विशालता एवं सुरुचिपूर्ण कलाशैली से भी जैनधर्म की सुदृढ़ स्थिति का संकेत मिलता है। गिरनार के नेमिनाथ मन्दिर की देवकुलिकाएँ, सरोत्रा का बावनध्वज जिनालय और भद्रेश्वर का जैन मन्दिर भी इसी समय निर्मित हुए हैं।

कुमारपाल के बाद उसका पुत्र अजयपाल गुजरात का शासक हुआ जो एक कट्टर शैव था। उसने न केवल जैनों को यातनाएँ दीं अपितु उनके मन्दिर भी तोड़वा डाले।[६१] अजयपाल की इन विनाशकारी प्रवृत्तियों के बावजूद जैन धर्म फूलता-फलता रहा तथा उसे वस्तुपाल, तेजपाल, जगडू आदि वणिक मन्त्रियों द्वारा पर्याप्त पोषण मिला। वणिक् मन्त्रियों में वस्तुपाल-तेजपाल के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। जैन परम्परा के अनुसार इन्होंने अनेक जैन मन्दिर बनवाए।[६२] अभिलेखीय प्रमाण से भी इसका समर्थन होता है। एक अभिलेख में उल्लेख है कि १२१९ ई. तक वस्तुपाल-तेजपाल ने शत्रुंजय और अर्बुदाचल जैसे पवित्र तीर्थ स्थानों पर तथा अणहिलपुर, भृगुपुर, स्तंभनकपुर, स्तंभतीर्थ, दर्भावती, देवलक्क आदि महत्त्वपूर्ण नगरों में एक करोड़ मंदिर बनवाये तथा बहुत से पुराने मन्दिरों के जीर्णोद्धार करवाए।[६३] यद्यपि यह वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण लगता है परन्तु इसमें किंचित् सन्देह नहीं है कि उन्होंने अनेक मन्दिर बनवाए। वस्तुपाल-तेजपाल द्वारा निर्मित जैन मन्दिर आज भी गिरनार और आबू में दर्शनीय हैं। इन सुन्दर जैन मन्दिरों के निर्माण एवं उनके आज तक सुरक्षित रहने के कारण वस्तुपाल-तेजपाल के नाम गुजरात में आज भी बहुत आदर के साथ लिए जाते हैं। वस्तुपाल की जैन-धर्म के प्रति गहरी आस्था इस बात से भी प्रकट होती है कि उसने शत्रुंजय और गिरनार की तीर्थयात्रा की[६४] तथा अणहिलपुर, स्तम्भतीर्थ और भृगुकच्छ में जैन भण्डारों की स्थापना की।[६५]

जब सन् १२४२ ई. में चौलुक्य शासन का अन्त हुआ तो शासन की बागडोर वाघेलों ने सम्भाली। वाघेलों के राजकाल में जगडूशाह ने जैन मन्दिरों का निर्माण

करा कर तथा जैन तीर्थों की यात्रा कर वस्तुपाल-तेजपाल की धार्मिक प्रवृत्तियों का सिलसिला जारी रखा।[६६] परन्तु उनकी सबसे बड़ी देन उसकी दानशीलता थी जो उसने १२५६-५८ ई. के दौरान गुजरात में पड़े भयंकर अकाल के समय मानव-कल्याण हेतु किया था।[६७] उसके इस कार्य से, जिसमें उसे एक जैन साधु से प्रेरणा मिली थी, जैन धर्म की स्थिति काफी मजबूत हुई होगी। पेथड नामक एक अन्य जैन वणिक् ने भी जैन मन्दिरों का निर्माण कराया था।[६८] मियाणी एवं कंथकोट के जैन मन्दिर इसी काल में निर्मित हुए हैं।

इस प्रकार १३वीं सदी तक गुजरात श्वेताम्बर जैन धर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया। इस काल के सभी जैन मन्दिर श्वेताम्बर परम्परा के हैं और उनमें किसी-न-किसी तीर्थंकर की प्रतिमा स्थापित की गई है। सोलंकी राजाओं के पर्याप्त संरक्षण प्रदान करने से तथा वहाँ की जनता द्वारा समुचित पोषण मिलने से श्वेताम्बर जैन धर्म आज भी गुजरात में एक प्रमुख धर्म के रूप में विद्यमान है।

सन्दर्भ :

१. हेमचन्द्र, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, भाग १, अंग्रेजी अनुवाद—जान्सन, एच. एम., बड़ौदा, १९३१, पृ. ३५६।

२. वही, भाग ५, बड़ौदा, १९६२, पृ. २६२. २६५ एवं ३१३; उत्तराध्ययनसूत्र, अंग्रेजी अनु.—हर्मन जकोबी, सैक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट, भाग ४५, आक्सफोर्ड, १८९५, पृ. ११५।

३. जैन, का. प्र. 'श्री निर्वाणक्षेत्र गिरनार', जैन एंटीक्वैरी, भाग ५, संख्या ३, पृ. १८४।

४. स्टीवेंशन, एस., हर्ट आफ जैनिज्म, लंदन, १९१५, पृ. ७४।

५. जैन, का. प्र., उपर्युक्त, पृ. १९०; जैन, कै. चन्द्र, जैनिज्म इन राजस्थान, शोलापुर, १९६३, पृ. ८।

६. ब्राऊन, डब्ल्यू. एन., दी स्टोरी आफ कालक, वाशिंगटन, १९३३, पृ. ६६।

७. स्टीवेंशन, उपर्युक्त, पृ. ७७-७८; शाह, सी. जे., उत्तर हिन्दुस्तानमां जैन धर्म, बम्बई, १९३७, पृ. १७२।

८. सरकार, डी. सी., सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, भाग १, कलकत्ता, १९४२, पृ. १७७।

९. बर्जेस, जे., एंटीक्विटीज आफ काठियावाड एण्ड कच्छ, वाराणसी, १९६४, प्लेट १७, चित्र ३।

१०. स्मिथ, वी. ए., जैन स्तूप एंड अदर एंटिक्विटीज आफ मथुरा, वाराणसी, १९६९, प्लेट ७, ९ और ११।

११. कल्याणविजय, वीर निर्वाण संवत् और जैन काल गणना, जालोर वी. सं. १९८७, पृ. ११०; कापड़िया, एच. आर., हिस्ट्री आफ कैनोनिकल लिटरेचर आफ दी जैनस्, सूरत, १९४१, पृ. ६१-६२ ।

१२. जकोबी, हर्मन, जैन सूत्रस, खण्ड १, सैक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट, भाग २२, आक्सफोर्ड, १८८४, इंट्रोडक्शन पृ. ३७; देसाई, मो. द., जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, बम्बई, १९३३, पृ. १४२।

१३. शाह, यू. पी., अकोटा ब्रान्जेस, बम्बई, १९५९, पृ. २६-२८ ।

१४. जिनभद्र, विशेषावश्यक भाष्य, भाग १, संपा.–दलसुख मालवणिया, अहमदाबाद, १९६६, प्रस्तावना पृ. ३; मेहता, मो. लाल, जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ३, वाराणसी, १९६७, पृ. १३० ।

१५. विरजी के. जे., एंशिएण्ट हिस्ट्री आफ सौराष्ट्र, बम्बई, १९५२, पृ. १८१ ।

१६. कल्याणविजय (संपा.) तपागच्छ पट्टावली, भाग १, भावनगर, १९४०, पृ. ८९ ।

१७. प्रबन्धचिन्तामणि, हिन्दी अनु.–हजारीप्रसाद द्विवेदी, अहमदाबाद, १९४० पृ. १३३-३४ ।

१८. विरजी, के. जे., उपर्युक्त, पृ. १८३ ।

१९. मजमूदार, एम. आर. (संपा.), हिस्टोरिकल एण्ड कल्चरल क्रोनोलाजी आफ गुजरात, भाग १, बड़ौदा, १९६०, पृ. २१२-१३ ।

२०. सांकलिया, एच. डी., दी आर्कोलाजी आफ गुजरात, बम्बई, १९४१- पृ. १६, २३४ ।

२१. देव, एस. बी., हिस्ट्री आफ जैन मोनासिज्म, पूना, १९५६, पृ. ११० ।

२२. शाह, यू. पी., अकोटा ब्रान्जेस, पृ. २९-४० ।

२३. अल्टेकर, ए. एस., दी राष्ट्रकूटस् एण्ड देयर टाइम्स, पूना, १९३४, पृ. ३१० ।

२४. वही, पृ. ३११-१२ ।

२५. अल्टेकर, ए. एस., 'सूरत प्लेटस् आफ कर्कराज सुवर्णवर्ष', एपिग्राफी इण्डिका, भाग २१, पृ. १३४ एवं १४४ ।

२६. जैकोबी, इनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड इथिक्स, भाग ७, एडिनबर्ग, १९१४, पृ. ४७५ ।

२७. शाह, अकोटा ब्रान्जेस, पृ. ४८-५५ ।

२८. प्रभाचन्द्र, प्रभावकचरित, गुजराती अनुवाद, पृ. १६५-६७ ।

२९. जिनसेन, हरिवंशपुराण, संपा.–पन्नालाल, वाराणसी, १९६२, ६६.५२-५३ ।

३०. प्रभावकचरित, पृ. २५८ ।

३१. प्रबन्धचिन्तामणि, पृ. १६-१७ ।

३२. प्रभावकचरित, पृ. २५७-५८ ।

३३. मजुमदार, ए. के., चौलुक्यस् आफ गुजरात, बम्बई, १९५६, पृ. ३१० ।
३४. प्रबन्धचिन्तामणि, पृ. २२ ।
३५. द्व्याश्रय काव्य, संपा. कथवटे, ए. वी., बम्बई, १९२१, ७.६४ ।
३६. वही ।
३७. जिनविजय (संपा.), खरतरगच्छ पट्टावली संग्रह, कलकत्ता, १९३२, पृ. ३ ।
३८. मजुमदार, उपर्युक्त, पृ. ३११ ।
३९. से., सी. बी., जैनिज्म इन गुजरात, बम्बई, १९५३, पृ. ३० ।
४०. देसाई, मो. द., जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, पृ. २२७ ।
४१. जिनविजय, गुजरात का जैन धर्म, वाराणसी, १९४९, पृ. २५ ।
४२. प्रभावक चरित, पृ. २७५-८४; प्रबन्ध चिन्तामणि, पृ. ७८-८२ ।
४३. सांकलिया, दी आर्कोलाजी आफ गुजरात, पृ. २२८ ।
४४. द्व्याश्रय काव्य, १५.१६; १५.६३, ८८ ।
४५. प्रभावकचरित, पृ. ३०७; प्रबन्धचिन्तामणि, पृ. ७७-७८ ।
४६. बूलर, जार्ज, लाइफ आफ हेमचन्द्राचार्य, कलकत्ता, १९३६, पृ. २३ । द्रष्टव्य—पारिख, आर. सी., काव्यानुशासन, खण्ड २, बम्बई, १९३८, प्रस्तावना पृ. १८७ ।
४७. प्रबन्धचिन्तामणि, पृ. ७२ ।
४८. वही, पृ. १०४ ।
४९. द्व्याश्रय काव्य, २०.२२-२३ ।
५०. ओझा, वी. जी., प्राकृत एण्ड संस्कृत इंस्क्रिप्पन्स, भावनगर, १८९५, पृ. १७२।७३ ।
५१. वही, पृ. २०५-७ ।
५२. द्व्याश्रय काव्य, २०.२७ ।
५३. राजशेखर, प्रबन्धकोश, संपा.—जिनविजय, शांति निकेतन, १९३५, हेमसूरि-प्रबन्ध, ५८; जयसिंह सूरि, कुमारपाल भूपाल चरित, संपा.—क्षान्तिविजयगणि, बम्बई, १९२६, ७.६०९-१० ।
५४. द्व्याश्रयकाव्य, २०.२७-३७ ।
५५. वही, २०.८९ ।
५६. त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित, भाग ६, अंग्रेजी अनु.—जान्सन, हे. एम., संपा.—सांडेसरा बी. जे. बड़ौदा, १९६२, पृ. ३१० ।
५७. द्व्याश्रय काव्य, २०.९८-९९ ।
५८. त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित, भाग ६, पृ. ३११ ।
५९. प्रभावक चरित, पृ. ३२१-२८ ।
६०. प्रबन्धचिन्तामणि, पृ. १०४ ।

६१. सोमप्रभ, कुमारपाल प्रतिबोध, संपा.–जिनविजय, बम्बई, १९५६, २.२०-२४ ।

६२. प्रबन्धचिन्तामणि, पृ. ११७-१९ ।

६३. जिनप्रभसूरि, त्रिविधतीर्थकल्प, संपा.–जिनविजय, शांतिनिकेतन, १९३४, पृ. ७९; जिनहर्षगणि, वस्तुपाल चरित, संपा.–कीर्तिमुनि, अहमदाबाद, १९४१, १.४४-४८; अरिसिंह, सुकृतसंकीर्तन, संपा.–पुण्यविजय, बम्बई, १९६१, प्रस्तावना, पृ. ८७-८८ ।

६४. सुकृतकीर्तिकल्लोलिन्यादि वस्तुपालप्रशस्ति संग्रह, संपा.–पुण्यविजय, बंबई, १९६१, पृ. ४४ ।

६५. कथवटे ए. वी., कीर्तिकौमुदी, प्रस्तावना, पृ. ५२ ।

६६. सांडेसरा, बी. जे., लिटरेरी सर्कल आफ महामात्य वस्तुपाल, बम्बई, १९५३, पृ. ३८ ।

६७. सर्वानन्दसूरि, जगडूचरित, संपा.–खख्खर, एम. डी. बम्बई, १८९६, ६.१०-६३ ।

६८. वही, ६.६८-१३७ ।

६९. देसाई, जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, पृ. ४०४-४०५ ।

सान्ध्य महाविद्यालय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी ।

जैन शासक अमोघवर्ष प्रथम

डॉ. दीनबन्धु पाण्डेय

राष्ट्रकूट शासक अमोघवर्ष प्रथम ने ८१४ ई. के लगभग प्रारम्भ[1] से लेकर ८७८ ई.[2] तक शासन किया। अमोघवर्ष प्रथम जैन धर्म का अनुयायी था किन्तु अपने जीवन में उसने ऐसा उदाहरण प्रस्तुत किया जिससे वह धर्म सहिष्णुता के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत होता है। अन्य धर्मों के साथ उसकी पूर्ण सद्भावना थी। धर्म, साहित्य एवं कला का पुजारी तथा प्रजावत्सल होना अमोघवर्ष प्रथम के व्यक्तित्व का आकर्षक पहलू है। अमोघवर्ष प्रथम के शासन के अन्तिम कुछ दशक राजनैतिक दृष्टि से शान्तिपूर्ण जान पड़ते हैं। इस शान्तिपूर्ण समय का पूरा-पूरा उपयोग उसने अपने सांस्कृतिक एवं प्रजा हितार्थ कार्यों के लिए किया होगा।

अमोघवर्ष प्रथम जैन मतावलम्बी, स्याद्वाद सम्प्रदाय का अनुयायी[3] एवं जिनसेन का शिष्य था[4]। प्रजा के हित का वह ध्यान रखता था। संजान अभिलेख में यह कहा गया है कि प्रजा पर आई विपत्ति को दूर करने के लिए उसने जीमूतवाहन, दधीचि एवं शिबि की परम्परा में महालक्ष्मी की पूजा में अपनी एक उँगली ही अर्पित कर दी थी।[5] भट्टाकलंक ने अपने शब्दानुशासन में अमोघवर्ष प्रथम की बलि को, जीमूतवाहन, दधीचि एवं शिबि की तुलना में कई गुना श्रेष्ठ बताया है।[6]

अमोघवर्ष प्रथम स्वयं कविराजमार्ग नामक ग्रन्थ का रचयिता था।[7] यह ग्रन्थ कन्नड़ भाषा का प्रथम काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है। इस शासक ने विभिन्न साहित्यकारों को प्रश्रय एवं संरक्षण भी प्रदान किया। १२ वीं से १६ वीं शताब्दी तक के कई साहित्यकारों ने अमोघवर्ष प्रथम द्वारा साहित्यकारों को प्रश्रय देने के गुण की प्रशंसा की है।[8] आदिपुराण के लेखक जिनसेन एवं गुणभद्र का वह संरक्षक था।[9] शाकटायन एवं वीरसेन ने अमोघवर्ष प्रथम के काल में ही क्रमशः शाकटायन व्याकरण की अमोघवृत्ति[10] तथा गुणधर रचित कसायपाहुड की जयधवलाटीका[11] लिखीं। इन दोनों ग्रन्थों के नाम अमोघवर्ष प्रथम के सम्मान में ही उसकी उपाधियों पर रखे गये हैं।[12] इसी शासक के काल में महावीराचार्य ने अपने गणितसारसंग्रह नामक ग्रन्थ को पूरा किया।[13]

कला एवं स्थापत्य के संरक्षक के रूप में अमोघवर्ष प्रथम को हम एलोरा के ब्राह्मण एवं जैन लयणों के निर्माण के सन्दर्भ में देख सकते हैं। यहाँ के दशावतार

नामक शैव लयण में अमोघवर्ष प्रथम का एक अभिलेख अंकित है।[१४] इस लेख प्राप्ति के आधार पर दशावतार लयण के निर्माण में अमोघवर्ष प्रथम के सहयोग की संभावना की जा सकती है। एलोरा के जैन लयणों का निर्माण लगभग ९वीं शताब्दी में हुआ था।[१५] यद्यपि हमें कोई स्पष्ट साक्ष्य नहीं प्राप्त है किन्तु अमोघवर्ष प्रथम का इन लयण निर्माणों से असम्बद्ध होना नहीं जान पड़ता।[१६]

संजान अभिलेख से यह ज्ञात होता है कि अमोघवर्ष प्रथम गुप्त शासक चन्द्रगुप्त द्वितीय की तुलना में गुरुतर चरित्र तथा दान देने वाला था।[१७] इन दोनों शासकों के व्यक्तित्व में काफी समानता देखी जा सकती है। दोनों ने ही राजनीतिक परेशानियों के साथ शासन प्रारम्भ किये और क्रमशः अपनी स्थिति को सुदृढ़ बना कर विद्रोहों का दमन एवं विजय अभियान किये। अमोघवर्ष प्रथम के प्रारम्भिक दिनों की परेशानियाँ कुछ भिन्न प्रकार की एवं गुरुतर थीं। दोनों ही शासक प्रजावत्सल एवं धार्मिक थे और साहित्य तथा कला के अभिवर्द्धक एवं संरक्षक थे। संजान अभिलेख के रचयिता ने अमोघवर्ष प्रथम की तुलना में चन्द्रगुप्त द्वितीय को उचित ही प्रस्तुत किया है। राष्ट्रकूट शासक के गुरुतर व्यक्तित्व का उल्लेख भी उचित ही है। राष्ट्रकूट इतिहास में अमोघवर्ष प्रथम का गुरुतर व्यक्तित्व सदा ही मान्य रहा। गुणधर रचित कसायपाहुड की वीरसेन कृत जयधवला टीका की प्रशस्ति में भी गुर्जर नरेन्द्र के रूप में अमोघवर्ष प्रथम की कीर्ति को चन्द्रमा के समान स्वच्छ तथा उसके मध्य गुप्त नरेश की कीर्ति को मच्छर के समान कहा गया है।[१८]

जैन मतावलम्बी अमोघवर्ष प्रथम के शासनकाल में जैन धर्म को पूर्ण संरक्षण प्राप्त था। अपने समय के जैन आचार्यों का उसने पूर्ण सम्मान एवं संरक्षण किया। आचार्य जिनसेन को उसने अपना गुरु माना था। जिनसेन के शिष्य गुणभद्र को उसने अपने पुत्र कृष्ण द्वितीय के गुरु के रूप में नियुक्त किया था। अमोघवर्ष प्रथम के काल में ही जिनसेन एवं गुणभद्र कृत आदिपुराण, गुणधर कृत कसायपाहुड कीं वीरसेन कृत जयधवला टीका एवं शाकटायन द्वारा अपने व्याकरण की अमोघवृत्ति नामक टीका रची गई। अमोघवर्ष प्रथम के सामन्तों में बंकेय जैन धर्मावलम्बी था।[१९] सौन्दत्ती के सामन्त भी जैन थे।[२०] कान्नूर अभिलेख में अमोघवर्ष प्रथम को जैन धर्मावलम्बियों के लिए दान देता हुआ उल्लिखित किया गया है।[२१] एलोरा की जैन गुफाओं के निर्माण में भी सम्भवतः अमोघवर्ष प्रथम का योगदान रहा।[२२] जैन परम्परा में भी इस शासक को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। बनवासी के कुछ जैन विहार उसे कई धार्मिक नियमों के प्रतिस्थापक के रूप में मानते हैं।[२३]

जैन धर्म को संरक्षण देने के साथ ही साथ अमोघवर्ष प्रथम ने स्वयं तथा उसके अन्य राजकीय पदाधिकारियों ने भी दूसरे धर्मों के प्रति पूर्ण सद्भाव रखा। अभिलेखों में प्राप्त उसके देवता सम्बन्धी विश्वास, देवताओं की प्रशस्तियों एवं किये गये दानों आदि से यह ज्ञात होता है कि राज्य शासन अपनी धार्मिक नीति में अत्यधिक उदार था। अमोघवर्ष प्रथम ने लोक उपद्रव को शांत करने के लिए महालक्ष्मी की पूजा की थी जिसमें उसने अपने शरीर का एक अंग ही अर्पित कर दिया था।[२४] उसकी राज-मुद्रा पर गरुड़ मुद्रा का स्पष्ट उल्लेख भी प्राप्त होता है।[२५] अभिलेखों के प्रारम्भ में प्राप्त देव प्रशस्तियों तथा किये गये दानों के उल्लेखों से तत्युगीन धार्मिक सहिष्णुता पर विशेष प्रकाश पड़ता है। अमोघवर्ष प्रथम के कोन्नूर अभिलेख में जिनेन्द्र की प्रशस्ति के साथ ही साथ विष्णु की भी प्रशस्ति की गई है।[२६] वीर नारायण के रूप में ऐसा जान पड़ता है कि अमोघवर्ष प्रथम विष्णु के अवतार के रूप में माना जाता था।[२७] इस सन्दर्भ में उसकी लक्ष्मीवल्लभ तथा श्रीवल्लभ उपाधियाँ उल्लेख्य हैं। अमोघवर्ष प्रथम एवं उसके सामन्त शासकों के कई अभिलेखों में विष्णु एवं शिव की साथ-साथ प्रशस्ति कही गई है।[२८] अमोघवर्ष प्रथम के समय के नीलगुंड अभिलेख में विष्णु एवं शिव के साथ-साथ ब्रह्मा, इन्द्र एवं पार्वती का भी उल्लेख हुआ है।[२९] गुजरात शाखा के राष्ट्रकूट शासक दन्तिवर्मा के गुजरात अभिलेख में बुद्ध को नमस्कार के साथ विष्णु एवं शिव की प्रशस्ति भी प्राप्त है।[३०] यह अभिलेख बौद्धों को दिये गये दान से सम्बन्धित है। एलोरा के दशावतार नामक शैल लयण के निर्माण में संभवतः अमोघवर्ष प्रथम ने रुचि ली थी।[३१] इस लयण में अंकित इस शासक के अभिलेख का आरम्भ ओम् नमः शिवाय से किया गया है।[३२] अमोघवर्ष प्रथम के काल के मन्त्रवाडि एवं शिग्गौन अभिलेखों से ज्ञात होता है कि सामन्त शासकों ने सूर्य एवं शिव मन्दिरों के लिए दान दिये।[33]

अमोघवर्ष प्रथम ने इस प्रकार न केवल प्रजावत्सलता, सांस्कृतिक अभिरुचि एवं धार्मिक सहिष्णुता का एक मानदण्ड स्थापित किया बल्कि शासकों की परम्परा में एक जैन शासक के रूप में महान् योगदान दिया।

पाद टिप्पणियाँ

१. गोविन्द तृतीय के तोर्खेडे अभिलेख से उसके शासनकाल की अन्तिम ज्ञात तिथि १४ दिसम्बर ८१२ ई. (एपिग्राफिया इण्डिका, भाग ३, पृ० ५४, पंक्ति १–२) एवं अमोघवर्ष प्रथम के सिरुर अभिलेख में उल्लिखित उसके शासन के ५२वें वर्ष की तिथि ८६६ ई. के आधार पर गणना के अनुसार।

२. कण्हेरी अभिलेख के आधार पर (इण्डियन एण्टिक्वेरी, भाग १३, पृष्ठ १३५) जयधवला टीका की परिसमाप्ति तिथि के आधार पर यह तिथि मानना (सी० आर० कृष्णमाचार्य, साउथ इण्डियन इंस्क्रिप्शंस, भाग ११, खण्ड १, प्रस्तावना, पृ० ५; ए० एस० अल्तेकर, दि राष्ट्रकूटज एण्ड देयर टाइम्स, पृ० ८७) उचित नहीं है क्योंकि परिसमाप्ति तिथि ८३७ ई. है।

अमोघवर्ष प्रथम के पुत्र कृष्ण द्वितीय के शासनकाल की ज्ञात प्रारंभिकतम तिथि ८८८ ई. (एपिग्राफिया इण्डिका, भाग १३, पृ० १८९, पंक्ति २–३) है। अमोघवर्ष प्रथम की मृत्यु ८७८ से ८८८ ई० के बीच कभी हुई होगी, किन्तु कृष्ण द्वितीय के शासन प्रारंभ की निश्चित तिथि के ज्ञात न होने के कारण मृत्यु तिथि को निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता। यदि ८८८ ई. कृष्ण द्वितीय के शासन का आरंभिक वर्ष माना जाय तो अमोघवर्ष प्रथम का शासनकाल १० वर्ष के लगभग और बढ़ जाएगा।

३. विध्वस्तैकान्तपक्षस्य स्याद्वादन्यायवादिनः।
देवस्य नृपतुंगस्य वर्धतां तस्य शासनम् ॥

—महावीर कृत गणितसारसंग्रह, मंगलाचरणं, श्लोक ८।

एक अन्य सन्दर्भ में स्याद्वाद का उल्लेख अमोघवर्ष प्रथम के कोन्नूर अभिलेख में भी प्राप्त होता है (एपिग्राफिया इण्डिका, भाग ६, पृष्ठ ३७, श्लोक ४४)।

४. यस्य प्रांशुनखांशुजालविसरद्धारान्तराविर्भवत्पादाम्भोजरजः पिशङ्गमुकुटप्रत्यग्ररत्नद्युतिः।
संस्मर्ता त्वमोघवर्षनृपतिः पूताहमद्येत्यलं स श्रीमज्जिनसेनपूज्यभगवत्पादो जगन्मङ्गलम् ॥

—गुणभद्ररचित उत्तरपुराण, प्रशस्ति, श्लोक ९।

५. सर्प्पं पातुमसौ ददौ निजतनुं जीमूतकेतोस्सुतः
श्येनायाथ शिबिः कपोतपरिरक्षार्थं दधीचोर्ऽथिने।
तेप्येकेकमतर्प्यंयन्किल महालक्ष्म्यै स्ववामांगुलिं
लोकोपद्रवशान्तये स्म दिशति श्रीवीरनारायणः ॥

—एपिग्राफिया इण्डिका, भाग १८, पृ० २४८, श्लोक ४७।

६. कर्णाटक शब्दानुशासनम्, पृ० १९४; इण्डियन एंटिक्वेरी, भाग ३३, पृ० १९८।

७. दि जर्नल आफ दि बाम्बे ब्रांच आफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी, भाग २२, पृ० ८१; कविराजमार्ग, के. बी. पाठक संपादित, १८९८।

८. वही। प्रशंसा करने वाले साहित्यकार हैं नागवर्मा द्वितीय (११५० ई.) केशिराज (१२२५ ई.) एवं भट्टाकलंक (१६०० ई.)।

९. दि जर्नल आफ दि बाम्बे ब्रांच आफ दि रायल एशियाठिक सोसायटी, भाग २२, पृ० ८५। जिनसेन ने अमोघवर्ष प्रथम का उल्लेख अपने पार्श्वाभ्युदय (अंतिमसर्ग, श्लोक ७०) में किया है—भुवनमवतु देवः सर्वदामोघवर्षः ॥

१०. सूत्र 'ख्याते दृश्ये' (४।३।२०८) के उदाहरण रूप में 'अदहदमौघवर्षोऽरातीन्' उल्लिखित है। अमोघवर्ष प्रथम द्वारा शत्रुशासकों के दाह का उल्लेख एक अभिलेख में भी प्राप्त होता है—'भूपालात्कंडिकाभि (कंटकामान्) सपदि विघटितान्वेष्टयित्वा ददाह।'—(कापडवंज अभिलेख, एपिग्राफिया इण्डिका, भाग १, पृ० ५४, श्लोक ९)।

११. अमोघवर्षराजेन्द्रराज्यगुणोदया।—समाप्ता जयधवला प्राभृतव्याख्या॥
—जयधवलाटीका, प्रशस्ति, श्लोक ८, १२।

१२. जैन साहित्य का बृहद इतिहास, भाग ५ अम्बालाल प्रे० शाह, वाराणसी, १९६९, प्रस्तावना, पृ० २९।

१३. श्रीमतामोघवर्षेण येन स्वेष्टाहितैषिणा।
....
देवस्य नृपतुंगस्य वर्धतां तस्य शासनम्॥—मंगलाचरण, श्लोक ३, ८।

१४. आर्कयोलाजिकल सर्वे आफ वेंस्टर्न इंडिया, भाग ४, पृ० ८७–८९।

१५. इण्डियन आर्किटेक्चर, भाग १, पी. ब्राउन, बम्बई, १९५६, पृ० ९० दि आर्ट आफ दि राष्ट्रकूटज, ए० गोस्वामी एवं ओ. सी. गांगुली, कलकत्ता, १९५८, पृ० २४–२५।

१६. वही।

१७. हत्वा भ्रातरमेव राज्यमहरद्देवीं च दीनस्ततो
लक्ष्मं कोटिमलेखयत्किल कलौ दाता स गुप्तान्वयः।
येनात्याजि तनुः स्वराज्यमसकृद्वाह्यात्यर्थकः का कथा।
ह्रीस्तस्योन्नतिराष्ट्रकूटतिलको दातेति कीर्त्यामपि॥
—संजान अभिलेख, एपिग्राफिया इंडिका, भाग १८, पृ. २४८, श्लोक ४८।

१८. गूर्ज्जरनरेन्द्रकीर्तेरन्तःपतिता शशाङ्कशुभ्रया।
गुप्तैव गुप्तनृपतेः शकस्य मशकायते कीर्त्तिः॥ —प्रशस्ति, श्लोक १२।

१९. कोन्नूर अभिलेख, एपिग्राफिया इंडिका, भाग ६, पृ० ३१, श्लोक ३५–३६।

२०. दि जर्नल आफ दि बाम्बे ब्रांच आफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी, भाग १० पृ० १६७ एवं आगे।

२१. एपिग्राफिया इण्डिका, भाग ६, पृ० ३१ श्लोक ३५ एवं आगे।

२२. द्रष्टव्य. उपरि पाद टिप्पणी १७, १५। एक जैन मंदिर के लिए दिये गये दान का संदर्भ अमोघवर्ष प्रथम के काल के राणेबेन्नूर कन्नड़ शोध संग्रहालय अभिलेख में भी प्राप्त है। —कर्णाटक इंस्क्रिप्शस, भाग १, पृ० १४–१६)।

२३. द्रष्टव्य, ए. एस. अल्तेकर, दि राष्ट्रकूटज एण्ड देयर टाइम्स, पृष्ठ ३१२।

२४. संजान अभिलेख, श्लोक, ४७, उपरि टिप्पणी ५ में उद्धृत।

२५. संजान अभिलेख, श्लोक ५० (भग्ना समस्तभूपालमुद्रा गरुड़मुद्रया) कोन्नूर अभिलेख, श्लोक १३ (गरुड़मुद्रया) एवं सिरुर अभिलेख पंक्ति १३ (गरुड़ लाञ्छन)। मुद्रा पर

गरुड़ की प्रतिकृत्ति के लिए द्रष्टव्य, अमोघवर्ष प्रथम का जवखेड़ अभिलेख, एपिग्रापिया इण्डिका भाग ३२, पृष्ठ १२९, टिप्पणी १, फलक ३; दन्तिवर्मा का गुजरात अभिलेख वही, भाग ६, पृष्ठ २८५; अमोघवर्ष के समय का हूविन–हिप्पर्गि अभिलेख, साउथ इंडियन इंस्क्रिप्शंस, भाग ११, खंड १, पृष्ठ ५, टिप्पणी १ । कक्कं सुवर्णवर्ष के बड़ोदा अभिलेख (इंडियन एंटिक्वेरी, भाग १२, पृष्ठ १५६) एवं ध्रुव द्वितीय के बगुमरा अभिलेख (वही पृष्ठ १८९) की मुद्राओं पर शिव का अंकन कहा गया है। किन्तु ये अंकन गरुड़ के ही जान पड़ते हैं। इनमें से कक्कं सुवर्णवर्ष के अभिलेख की मुद्रा प्रकाशित है (वही, पृष्ठ १५६ के सामने का फलक) जिसमें गरूड़ के पंख स्पष्ट द्रष्टव्य है।

अन्य धार्मिक प्रतीकों में स्वस्तिक का उल्लेख किया जा सकता है जिनका अंकन अमोघवर्ष प्रथम के काल के सौरटूर अभिलेख में प्राप्त है (साउथ इंडियन इंस्क्रिप्शंस, भाग ११, खण्ड १, पृष्ठ ८ टिप्पणी ३)।

२६. श्रियः प्रियस्संगतविश्वरूपस्सुदर्शनच्छिन्नपरावलेपः ।
दिश्यादनंतः प्रणतामरेंद्रः श्रियं यांद्यः प्रभवो जिनेन्द्रः ।।
अनन्तभोगस्थितिरत्र पातु वः प्रतापशीलप्रभवोदयाचलः ।
सुराष्ट्रकूटोज्जितवंशपूर्वजस्स वीरनारायण एव वो विभुः ।।

—कोन्नूर अभिलेख, श्लोक १–२, एपिग्राफिया इंडिका, भाग ६, पृष्ठ ३९ ।

२७. वही, श्लोक २ ।

२८. अमोघवर्ष प्रथम के संजान, जवखेड़, तरसादी एवं सिरुर अभिलेख तथा उसके काल के नीलगुंड अभिलेख एवं दन्तिवर्मा के गुजरात अभिलेखों में निम्न श्लोक पाया जाता है—

स वोऽव्याद्वेधसा धाम यन्नाभिकमलं कृतं ।
हरस्य यस्य कान्तेन्दुकलया कमलं कृतं ।।

२९. जयति भुवनकारणं स्वयमूर्जित पुरन्द्रनन्दनो मुरारिः ।
जयति गिरिसुता निरुद्धदेहो दुरितभयापहरो हरश्च देवः ।।
विष्णु एवं शिव के संबंध में दूसरा श्लोक वही है जो टिप्पणी २८ में उद्धृत है (एपिग्राफिया इंडिका, भाग ६, पृष्ठ १०२, श्लोक १, २)।

३०. वही, पृष्ठ २७७, पंक्ति ।

३१. द्रष्टव्य, उपरि टिप्पणी १४, १५ ।

३२. आर्क्योलाजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इंडिया, भाग ५, पृष्ठ ८७, पंक्ति ।

३३. एपिग्राफिया इंडिका, भाग १, पृष्ठ २११ एवं आगे, कर्णाटक इंस्क्रिप्शंस, भाग १, पृष्ठ १३ एवं आगे ।

सुदृष्टिपुरी डिग्री कालेज,
बलिया, उ० प्र०

Emperor Khāravela and the Jaina Tradition in Orissa

Dr. Krishna Chandra Acharya

After the invasion of Kaliṅga by the great emperor Aśoka the history of Kaliṅga is somewhat obscure. But in about 1st century B. C. there emerged the great Kaliṅga empire having Khāravela as its great sovereign ruler. The inscription in the Hāthīgumphā cave in the Udaygiri hill near Bhubaneswar details the manifold achievements of Khāravela. The damaged condition of the rock leaves many more events of Khāravela's reign unknown, yet whatever remains is enough to give clear evidence of the glorious rule of Khāravela, whose eventful career is a landmark in the history of Kaliṅga, nay in the history of ancient India.

Khāravela belonged to third generation of the royal Chedi dynasty of Kaliṅga. From his title, Mahārāja and Mahāmeghavāhana it appears that he was a very powerful king during his time. He was endowed with all auspicious signs of a ruler and was well-versed in the art of writing, accountancy, law and administration. At the age of sixteen he was installed as Yuvarāja and took the responsibility of administration. Eight years later he was crowned king.

Khāravela was not merely a great conquerer. He was a good administrator as well and ruled his kingdom with perfect peace. For public welfare he spent large sums on irrigation, gardening and house building. His own palace, Mahāvijayaprāsāda was also magnificently built. He repaired and enlarged a canal which was originally excavated by a Nanda king three centuries ago. This Nanda king was probably Mahāpadmananda. Another curious incident was that the great image of Jina Ṛṣabhadeva which was carried away by this Nanda king to Magadha from Kaliṅga at the time of his invasion, was again brought back to Kaliṅga by Khāravela.[1] Thus he avenged the wrong done to Orissa and its people through centuries by Magadha emperors. Khāravela being a devout Jaina patronised Jainism. He excavated a number of caves in the Kumārī Parvata (Khaṇḍagiri hill) and also a monastery in

1. See K. P. Jayaswal, JBORS Vol. III Dec. 1917 pp. 425-85.

the neighbourhood for the Jaina monks. Since a considerable portion of the inscription referring to the above is damaged, nothing can be guessed as to what happened during the latter part of the reign of Khāravela. From the Udayagiri caves, it appears that the king himself, in company of his queen, led the life of a Śramaṇa during his old age. We know nothing about his descendants and the fate of his conquests after his death.

Another great name in the ancient history of Kaliṅga is king Brahmadatta. He is believed to have embraced Jainism. There are many place names in Orissa which were meant mainly to commemorate some of the Jaina legends as narrated in the Jaina scriptures.

A mountain range called Baula is situated in a village namely Poḍāsiṅgi in the Keonjhar district. A side of this region is marked by the ruins of a wall. The images of a number of Tīrthaṅkaras, Yakṣas and Yakṣiṇīs are scattered over here. In the table-land above here one also finds a large status of Mahāvīra. This region was previously under Toṣālī. The name Baula appears to be a corrupt form of Vipula (of Rājagiri) on which Mahāvīra first preached his doctrines. It is interesting to note that the circular size of the above mountain range bears similarity with that of Rājagiri hills.

Apart from the above historical evidences, there are also literary and religious evidences to show the impact of Jainism on the Orissan culture. The influence of Jaina literature is clearly noticed in the poems of ancient Oriya poets. The story of giving one hundred loads of lotus flowers by Krishna to Kamsa and the term Rādhācakra used in connection with the revolving wheel that was pierced through by Arjuna in Draupadi Svayambara all find mention in the ancient Oriya literature.[2] The famous Oriyā Bhāgavata written By Jagannātha Das in the sixteenth century contains a chapter in its fifth sarga to preach Jaina doctrine by way of the instructions imparted by Ṛṣabhadeva to his one hundred sons. Here it is said that total emancipation lies in renunciation of binding forces such as desire and hatred.

In mid-nineteenth century Orissa saw a great religious movement in the form of what is known as Alekha dharma. The sole preacher of this religion is known to be Mahimā Svāmī. This sect does not believe in idol-worship, does not approve of caste system, preaches pity and

2. See Sāralā Mahābhārata and Rasakallola of Dinakṛṣṇa.

non-violence. Alekha bhajana or Śūnya Upāsanā or meditation on the void or non-entity is core of this religion. The saints of this faith wear a bark garment known as Kumbhīpaṭa after the name of the tree called Kumbhī. The monks usually lead the life of Parivrājaka and wherver they go they do not remain there for more than a night. The avadhūtas, as they are called, live a rigorous way of life without inflicting pain on others. The shrine of this religious sect is at Joranda in the Dhenkanal district. The Viṣṇugarbhapurāṇa of Caitanya Das and Stuti Cintāmaṇi of Bhima bhoi are the two immortal poems which preach this religion. The teachings of Ṛṣabhadeva find mention in the Viṣṇugarbhapurāṇa.

The doctrine of non-violence and doing good to others even at the risk of one's own self which are the very essence of Jainism, are nicely portrayed in popular folk literature of Orissa. The ideal of Jaina asceticism find its echo in popular poem like Ṭīkā Govindacandra etc.

The sacred memory of Pārśvanātha is alive among the people of Orissa and the caves of Khaṇḍagiri stand witness to his religious preaching. Jainism which was at the apex of glory in Orissa during the reign of Khāravela remained as such till the fifth century A. D. when the tantricism in Jainism rose its head to compete with that of the Buddhists. This trend remained until the rise of Vaiṣṇavism in the tenth century A. D.

Last but not the least, Lord Jagannātha of Purī and the Jagannātha cult which have been dominating the entire culture and literature of Orissa through centuries are said to be originated from Jainism. Lord Jagannātha is regarded as Ṛṣabhadeva and the word nātha associated with His name has a close likeness with the names of the Jinas suffixed by nātha or deva. The Jagannātha cult in Orissa is believed to have its origin from early Vedic period, thus finding a coincidence with the origin of Jainism about the same period. The famous car festival of Lord Jagannātha is a reminiscence of the Caitya Yātrā of Jainas. The Kalpa Vaṭa (fig tree believed to be wish-fulfilling), Cakra kṣetra, the twentyfour steps to the Puri temple symbolising the twentyfour Jaina Tīrthaṅkaras are all associated with Jainism. Indrabhūti in his 'Jñānasiddhi' offers his salutation to Lord Jagannātha by calling Him both Jina and Buddha and resembling the sky (Śūnya).

praṇipatya Jagannāthem sarvajinavarārcitam/
sarvabuddhamayaṁ siddhivyāpinaṁ gaganopamam//

Pandit Nilakantha Das, a noted literateur and writer of Orissa opines that the Jagannātha cult started purely from Jainism[3] and in course of time it has combined in it several religious doctrines. In fact now we see that Lord Jagannātha who is popularly invoked as *Patitapāvana* (purifier of the fallen) is a harmonious blending of all religious faiths *sarva-dharma-samanvaya*).

Lastly it has to be admitted that the cultural, religious and the literary tradition which prevails in Orissa through the ages right from the times of emperor Khāravela and still earlier are the result of the impact of Jainism.

Department of Sanskrit,
Utkal University, Vani Vihar,
Bhuvaneswar, Orissa.

Comments

As regards the Jina images carried oway by Nandarāja the author identified the Nanda ruler as Mahāpadmananda with certainty which must not be taken for granted in the persent state of our knowledge. The author has suggested such identity of place-names (Baula-Rājagiri) and physical features which appear to be imaginary and more over has nothing to do with the Jaina tradition in Orissa. The auther is also tempted to make wild guessings, one of which pertains to Jagannātha cult. The concluding paragraph is however ambiguous and demands and explanatory note.

—Maruti Nandan Prasad Tirvari.

3. See Oḍiā Sāhityara Krama Pariṇāma. Also see Oḍisāre Jaina dharma by Dr. Laxminarayana Sahu. Also see my article Influence of Jainism on Orissan Culture.

जैन चिन्तन और समाज विज्ञान

सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरिज्जउं ।
तम्हा पाणवहं घोरं निग्गंथा वज्जयंति णं ।।

जहा दुम्मस्स पुप्फेसु भमरो आवियइ रसं ।
ण य पुप्फं किलामेई सोय पीडेइ अप्पयं ।।

एमेए समणा मुत्ता जे लोए संति साहुणो ।
विहंगमा व पुप्फेसु दाणभत्तेसणे रया ।।

—दसवेआलियसुत्तं ।

जैन शास्त्रों के सामाजिक एवं सांस्कृतिक तत्वों का मानववैज्ञानिक अध्ययन

डॉ. गोकुलचन्द्र जैन

जैन शास्त्र

१.०१ जैन शास्त्र प्राचीन भारतीय भाषाओं—प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश तथा विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं में निबद्ध हैं और आज भी बड़ी संख्या में उपलब्ध हैं। प्राचीन परम्पराओं के आधार पर संकलित या लिखित होने के कारण इन्हें प्राचीन माना जाता है। उपलब्ध सभी शास्त्रों का सीधा सम्बन्ध तीर्थंकर वर्धमान महावीर और उनकी परम्परा से है।

१.०२ जैन शास्त्रों को उनकी पूर्व परम्परा, लेखन-काल तथा विषय-वस्तु के आधार पर स्पष्ट रूप से परिभाषित और वर्गीकृत किया गया है। इसलिए वहाँ शास्त्रों की परिभाषा और उनकी विषयवस्तु के निर्देश का प्रश्न नहीं है। विज्ञान (नेचुरल साइन्सेज) तथा समाज-विज्ञान (सोशल-साइन्सेज) के आधार पर विषयों का अब जो नया वर्गीकरण किया जाता है, वैसा वर्गीकरण प्राचीन शास्त्रों का सम्भव नहीं है। इन शास्त्रों में प्रविष्ट होकर विभिन्न विषयों की सामग्री को खोजना होगा और उसकी वर्गीकृत विषय सूचियाँ तैयार करनी होंगी।

१.०३ शास्त्रों की विश्वसनीयता का प्रश्न, अनुसन्धान की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। प्राचीन शास्त्रों के अध्ययन-अनुसन्धान की, भाषावैज्ञानिक, तुलनात्मक तथा अन्य टेक्निकल पद्धतियाँ, पिछली दो शताब्दियों में विकसित हुई हैं। उनसे शास्त्रों की विश्वसनीयता का परीक्षण करना सम्भव हुआ है। इन कसौटियों पर कसने से अनेक प्राचीन बतायी जाने वाली पोथियों का पर्दाफाश हुआ है और अनेक शास्त्रों की विश्वसनीयता निर्बाध रूप से प्रमाणित हुई है।

१.०४ शास्त्रों के लेखन पर देश और काल का प्रभाव निश्चित रूप से देखा जाता है। प्रभाव की मात्रा कमोबेश हो सकती है, पर सर्वथा प्रभावहीन शास्त्र की कल्पना नहीं की जा सकती। शास्त्रों पर देश और काल के प्रभाव को जांचने का स्थूल आधार ऐतिहासिक और तुलनात्मक अपनाया जाता है। यह उपयोगी भी सिद्ध हुआ है। तुलनात्मक से अभिप्राय मात्र शास्त्रों की पारस्परिक तुलना से नहीं है, प्रत्युत समसामयिक पुरातात्त्विक, अभिलेखीय तथा अन्य साक्ष्यों से तुलना करके तथ्यों को जांचने-परखने से है।

शास्त्रों का अध्ययन आधुनिक सन्दर्भ में कैसे करें

२.०१ प्राचीन शास्त्रों में उपलब्ध सामग्री के आधुनिक सन्दर्भों में विश्लेषण का कार्य अत्यधिक कठिन है। प्रतीक-रूपक (एलीगोरीज़), वर्णक (मोटिफ़) तथा अतिशयोक्तिपूर्ण विवरणों की स्थिति में यह कार्य और भी जटिल हो जाता है। इसके लिए बहुज्ञता, अध्ययन में सतत जागरूकता तथा आग्रह रहित उदार दृष्टि आवश्यक है। इनमें से किसी एक के भी अभाव में अध्येता शास्त्रों की दुर्व्याख्या भी कर सकता है और महत्त्वपूर्ण सामग्री नजरन्दाज़ भी हो सकती है। अतिशय औदार्य भी खतरनाक सिद्ध होता है।

२.०२ एक बड़ी कठिनाई यह भी आती है कि पारम्परिक विद्वान् नई व्याख्या-विश्लेषणों से अपनी असहमति भी व्यक्त कर सकते हैं, भले ही निष्कर्ष सही और महत्त्वपूर्ण हों। आगे मैं जैन शास्त्रों के सन्दर्भ में जो सामग्री तथा शास्त्रीय शब्दावलि और उसका विश्लेषण यहाँ प्रस्तुत करूँगा, उसमें भी इस सम्भावना को सर्वथा नकारा नहीं जा सकता। मेरे साथ थोड़ी सुविधा और रियायत इसलिए हो जाती है कि एक ओर पारम्परिक शास्त्रीय पद्धति तथा दूसरी ओर आधुनिक अध्ययन पद्धति, दोनों के छोर कुछ-कुछ मेरी पकड़ में आ गये हैं। इसलिए यह भी कह सकता हूँ कि 'नामूलं लिख्यते किंचित्, नानपेक्षितमुच्यते' अर्थात् मूल शास्त्र से हटकर कुछ नहीं लिखा जायेगा और अनपेक्षित भी कुछ नहीं कहा जायेगा।

शास्त्रों में सामाजिक और सांस्कृतिक तत्त्वों की खोज

३.०१ पहले कहा गया है कि वर्तमान में जो प्राचीन जैन शास्त्र उपलब्ध हैं, उन सभी का सीधा सम्बन्ध तीर्थंकर वर्धमान महावीर और उनकी परम्परा से है। महावीर के जीवन और उनकी परम्परा विषयक अनुसन्धानों ने इतने तथ्य हमारे सामने लाकर उपस्थित कर दिये हैं कि ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न शाखा-प्रशाखाओं के सन्दर्भ में उनके अन्तरशास्त्रीय (इन्टरडिसिप्लीनरी) अध्ययन-अनुसन्धान की सम्भावनाएं व्यापक और मुखर होती जा रही हैं।

३.०२ महावीर का जन्म ईसा पूर्व छठी शताब्दी में कब और किस दिन हुआ था यह भी इतिहासविदों ने निश्चित कर लिया है। भारतीय तिथियों के अनुसार चैत्र शुक्ल त्रयोदशी को महावीर का जन्म हुआ। ईसवी सन् की गणना के अनुसार वह दिन ३० मार्च ईसा-पूर्व ५९९ था। महावीर के पिता सिद्धार्थ वैशाली गणतन्त्र के कुण्डग्राम के राजा थे। इन दोनों स्थलों की पहचान पुरातात्त्विक सन्दर्भ सामग्री के आधार पर कर ली गयी है। समाजशास्त्रीय सन्दर्भ-सामग्री ने भी इसमें मदद की है। महावीर ज्ञातृवंशी थे। बिहार के इन क्षेत्रों में जथरिया जाति अभी भी वर्तमान

है। यह ज्ञातृ का ही अपभ्रंश-परिवर्तित नामकरण है। महावीर के अनुयायियों को श्रावक कहा गया है। बिहार के मानभूम, सिंहभूम आदि जिलों में सराक जाति अब भी पायी जाती है। वह अपने को महावीर की परम्परा का मानती है। समाज-शास्त्रीय दृष्टि से इन जातियों का अध्ययन महत्त्वपूर्ण हो सकता है। भारत के अन्य प्रदेशों में स्थित जैन धर्मानुयायियों का अध्ययन विभिन्न दृष्टियों से अपेक्षित है।

३.०३ महावीर ने स्वयं अपने पूर्व की किस परम्परा को अपनाया, इस विषय में भी गवेषणा हुई है। महावीर के माता-पिता पार्श्व के अनुयायी थे। पार्श्व के अनुयायी पार्श्वापत्य कहलाते थे। मगध में पार्श्वापत्यों के मोहल्ले के मोहल्ले मौजूद थे।

३.०४ पार्श्व से और पूर्व सिन्धुघाटी की सभ्यता तक पुरातात्त्विक अनुसन्धानों ने इस परम्परा का सूत्र जोड़ दिया है। इससे इस परम्परा के मानव-वैज्ञानिक अध्ययन की सम्भावनाएँ बनी हैं।

३.०५ महावीर 'जिन' माने जाते थे। इसलिए उनके अनुयायी कालान्तर में जैन कहलाए और उनके धर्म को जिनधर्म या जैन धर्म कहा गया। इन्हीं अर्थों में उनकी परम्परा के शास्त्रों को जैन शास्त्र कहा जा सकता है या कहा जाना चाहिए। वास्तव में प्राचीन भारतीय साहित्य के वैदिक, जैन, बौद्ध जैसे वर्गीकरण कालान्तर में अवैज्ञानिक सिद्ध होंगे, ऐसी हमारी धारणा है।

३.०६ जैन परम्परा के जो प्राचीन शास्त्र उपलब्ध हैं, वे विभिन्न प्रकार की प्राकृतों, संस्कृत, अपभ्रंश तथा विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं—प्राचीन कन्नड़, प्राचीन तमिल, जूनी गुजराती, पुरानी राजस्थानी आदि में उपलब्ध हैं। यह अकारण नहीं है। इसका ऐतिहासिक और शास्त्रीय आधार है। महावीर ने जन भाषा में उपदेश दिये थे जिसे अर्धमागधी कहा गया है। जैन शास्त्रों में कहा गया है कि हमारा वास्तविक प्रयोजन तात्पर्य समझाने से है, शब्दों से मोह या उनके प्रति आग्रह नहीं है। इसीलिए यह भी कहा गया कि भगवान् तो अर्थ का उपदेश देते हैं, उनके शिष्य उन्हें शब्दों में ग्रथित करते हैं—'अत्थं भासइ भगवा।'

यही कारण है कि महावीर के शिष्य जिस क्षेत्र-प्रदेश में गये, वहाँ की भाषा में महावीर के उपदेशों को जन-मानस तक पहुँचाया, उसी में शास्त्रों की रचना की। यह एक बहुत बड़ा भेदक तत्त्व है जो जैन परम्परा को वैदिक या श्रौत-स्मार्त परम्परा से अलग करता है।

३.०७ जैन शास्त्रों में सामाजिक और सांस्कृतिक तत्त्व इतनी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं कि उनका समाजवैज्ञानिक और मानववैज्ञानिक अध्ययन इन विज्ञानों के लिए नयी आधारभूमि और नये क्षेत्र उद्घाटित करेगा। प्रस्तुत गोष्ठी के लिए जो आधार-सूत्र निर्धारित किये गये हैं, उनके सन्दर्भ में जैन शास्त्रों की दृष्टि को स्पष्ट करने का मैं प्रयत्न करूँगा।

मानवविज्ञान का पारम्परिक इतिहास

४.०१ सभी जैन-शास्त्र इस विषय में एकमत हैं कि मानव के सामाजिक जीवन का क्रमिक विकास हुआ है। विकास और ह्रास का क्रम पहिए की तरह वृत्ताकार घूमता रहता है। इसे 'कालचक्र' कहा गया है। उत्कर्षकाल को 'उत्सर्पिणी' और अपकर्ष काल को 'अवसर्पिणी काल' कहा गया है।

४.०२ इसी क्रम में 'भोगभूमि', 'यौगलिक जीवन', 'कल्पवृक्ष' और 'कुलकर व्यवस्था' का विवरण प्राप्त होता है। मानवविज्ञान की दृष्टि से इसे जाँचने-देखने पर मानवविज्ञान की भारतीय शब्दावलि तथा उपयोगी सामग्री प्राप्त हो सकती है।

४.०३ जैन शास्त्रों में मानव सभ्यता और सामाजिक जीवन के विकास का जो पारम्परिक इतिहास मिलता है, उसके अनुसार प्रारम्भ में मनुष्य का जीवन सम्पूर्ण रूप से भोग-मय था। इसी कारण उस युग को भोग-भूमि कहा गया है। तब न सामाजिक जीवन था और न समाज व्यवस्था के लिए आचार-संहिता। कहा जाता है कि तब 'युगल' पैदा होते थे और 'युगल' ही समाप्त हो जाते थे। युगलों का जीवन वृक्षों पर निर्भर था। उन्हीं से उनकी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती थी। इन वृक्षों को 'कल्पवृक्ष' कहा गया है। बाद के साहित्य में भोगभूमि और कल्पवृक्षों का जितना और जिस प्रकार का वर्णन प्राप्त होता है, उससे उस युग का, उस युग के सामाजिक जीवन का ठीक-ठीक चित्र बना पाना सम्भव नहीं है, फिर भी उस वर्णन में से जो सूत्र प्राप्त होते हैं उनसे सामाजिक जीवन के प्रारम्भ की स्थिति का आधार मिलता है। इन सूत्रों का संकलन मानवविज्ञान के अध्ययन के लिए उपयोगी होगा।

४.०४ **कुल और कुलकर परम्परा**—जब धीरे-धीरे युगल समाप्त होने लगे और मानव सन्तति बढ़ने लगी तब कल्प-वृक्षों से उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति में कठिनाई आरम्भ हो गयी। जनसंख्या वृद्धि के साथ एक ओर कल्प-वृक्ष बहुत कम पड़ने लगे, दूसरी ओर सामाजिक जीवन की शुरूआत हुई। मानव सन्तति ने छोटे-छोटे समूहों में रहना प्रारम्भ कर दिया जिसे 'कुल' कहा गया है। इस सामाजिक व्यवस्था को शास्त्रकारों ने 'कुलकर व्यवस्था' नाम दिया है। प्राप्त विवरण के

अनुसार १४ कुलकर हुए, जिन्होंने सामाजिक जीवन को व्यवस्थित करने के अनेक प्रयत्न किये। इन कुलकरों को 'मनु' भी कहा गया है। जैन शास्त्रों के अतिरिक्त अन्य प्राचीन भारतीय शास्त्रों में भी मनुओं का विवरण प्राप्त होता है।

अन्तिम कुलकर नाभिराय थे। उनकी पत्नी का नाम मरुदेवी था। उन दोनों के जो पुत्र हुआ, उसका नाम 'ऋषभ' या 'वृषभ' रखा गया। जैन परम्परा में ऋषभ को प्रथम 'तीर्थंकर', 'आदिदेव' और जैन धर्म का प्रवर्तक माना गया है। पारम्परिक इतिहास का जो विवरण जैन पुराणकारों ने निबद्ध किया है, उसमें कहा गया है कि ग्राम और नगरों की संरचना तथा सामाजिक जीवन का व्यवस्थित रूप ऋषभ से ही आरम्भ हुआ। उन्हीं ने विभिन्न कार्यों के आधार पर समाज का गठन किया तथा सामाजिक जीवन के नियम बनाये। समाजविज्ञान की दृष्टि से 'वृषभ' शब्द भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। 'वृषभ' प्रजनन का प्रतीक है। संतति का स्रोत है। ऋषभ स्वयं 'वृषभ' है। 'शिव' से 'वृषभ' को अलग नहीं किया जा सकता।

४.०५ **वर्गविहीन समाज संरचना**—उस समय जिस कार्य को जिस व्यक्ति ने स्वेच्छा से स्वीकार किया, वह उसमें प्रवृत्त हुआ। तब न किसी प्रकार के वर्ग भेद की आवश्यकता हुई और न ही कार्यों के आधार पर किसी ने एक दूसरे को छोटा-बड़ा या ऊँच-नीच माना। इसलिए समाज संरचना की इस अवस्था को 'वर्ग-विहीन समाज संरचना' कहा जा सकता है। सामाजिक जीवन की यह मूलभूत जैन दृष्टि है, जो किसी न किसी रूप में कई सहस्र वर्ष बीतने के बाद भी जैन समाज में अबतक सुरक्षित और प्रयोग में है। कुलकर व्यवस्था में 'अपराध' और 'दण्ड' की जो स्थिति थी, उसका भी विवरण प्राप्त होता है।

भारतीय संस्कृति के नियामक तत्त्व और जैन संस्कृति

५.०१ भारतीय संस्कृति का सबसे महत्त्वपूर्ण मुद्दा सामाजिक गठन की अवधारणा है। जैन शास्त्रकारों ने जन्म के आधार पर वर्ण व्यवस्था को अस्वीकृत किया है। उनका कहना है कि मनुष्य जाति एक है। उसमें पशुओं की तरह गौ और अश्व जैसा भेद नहीं किया जा सकता—'मनुष्यजातिरेकैव। नास्ति भेदो गवाश्ववत्।' यद्यपि देश और काल ने जैन समाज के गठन को अत्यधिक प्रभावित किया है, तथापि जैन शास्त्रकारों ने आज तक जन्म को 'वर्ग' भेद का नियामक तत्त्व स्वीकार नहीं किया। वर्तमान जैन समाज भी सामाजिक गठन की दृष्टि से इससे मुक्त है।

५.०२ भारतीय संस्कृति का दूसरा महत्त्वपूर्ण पहलू जीवन-पद्धति है। यह एक ऐसा निर्णायक तत्त्व है जो भारतीय समाज में 'एकता में अनेकता' का कारण है।

भारतीय संस्कृति विभिन्न प्रकार की जीवन-पद्धतियों का पुंज है। इसलिए इसे सामासिक संस्कृति (कम्पोजिट कल्चर) कहा जाता है।

५.०३ जीवन पद्धति के लिए हर समूह ने अपनी अलग आचार-संहिता का निर्माण किया है। आचार-संहिता के निर्माण में मूल आधार उस परम्परा का तात्त्विक-चिन्तन (मेटाफिजिक्स) रहा है। देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार उसमें अनेक नियम और उपनियम समाहित किये गये। इस प्रकार जैन परम्परा के चिन्तन ने एक स्वतन्त्र जीवन-पद्धति का निर्माण और विकास किया। इसके अनेक शास्त्र उपलब्ध हैं, जिन्हें 'उपासकाचार' या 'श्रावकाचार' कहा जाता है।

५.०४ आचार-संहिताओं के निर्माण में चरम सत्य की अवधारणा एक महत्त्वपूर्ण पहलू है। इसी के आधार पर जीवन के लक्ष्य का निर्धारण होता है। भारत में मात्र इसी जीवन को चरम सत्य मानते वाला चिन्तन भी विकसित हुआ तथा इस जीवन के साथ पूर्व और पश्चात् जीवन को स्वीकार करने वाला चिन्तन भी विकसित हुआ। इनको क्रमशः 'अनात्मवादी' और 'आत्मवादी' कहा गया।

जैन संस्कृति आत्मवादी है। उसके अनुसार यह जीवन जितना सत्य है, उतनी ही इसके पूर्व और इस जीवन के बाद के जीवन में सत्यता है। इसलिए जीवन का चरम लक्ष्य भूत, वर्तमान तथा भविष्य के जीवन को ध्यान में रख कर तय किया गया है।

जैन संस्कृति में जीवन का अन्तिम लक्ष्य 'आत्यन्तिक सुख' माना गया है। ऐसा सुख जो 'अक्षय' है, 'अनन्त' है। यही 'निश्रेयस' है। इसे ही 'निर्वाण' या 'मोक्ष' कहा गया है।

५.०५ जेन संस्कृति में व्यक्ति विशेष या अधिक से अधिक व्यक्तियों के निश्रेयस (ग्रेटेस्ट गुड आव ग्रेटेस्ट नम्बर) की बात नहीं कही गयी, प्रत्युत सभी जीवों (मानव मात्र नहीं) के निश्रेयस (गुड आव आल) की बात कही गयी है।

५.०६ निश्रेयस की उपलब्धि के लिए जैन संस्कृति में किसी मझौलिए (एजेंट) को स्वीकार नहीं किया गया और न यह माना गया कि किसी 'अनिर्वचनीय' 'अदृष्ट' 'सर्वशक्तिमान्' को समर्पित करने से, उसकी कृपा से निश्रेयस की प्राप्ति हो सकती है। इसलिए उन्होंने सृष्टिकर्ता 'ईश्वर' की 'सत्ता' को अस्वीकार किया। उन्होंने कहा कि अपना ईश्वर व्यक्ति स्वयं है। अपना निश्रेयस उसे अपने 'पुरुषार्थ' से स्वयं प्राप्त करना होगा। यह एक ऐसा भेदक तत्त्व है, जो जैन संस्कृति को भारतीय संस्कृति की अन्य धाराओं से पृथक् करता है।

५.०७ जैन शास्त्रकारों ने 'साधन' और 'साध्य' दोनों की शुद्धता पर बल दिया है। निश्रेयस की प्राप्ति के लिए साधन की पवित्रता की बात करते हुए शास्त्रकारों ने अच्छी और बुरी प्रवृत्तियों और अच्छी और बुरी वस्तुओं का वर्गीकरण करने से पूर्व दृष्टि की निर्मलता, ज्ञान की सचाई और प्रवृत्ति की पवित्रता की बात कही है। यही 'धर्म' है। यही निश्रेयस का मार्ग है—'सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वराः विदुः।'

इन्हीं के विवेचन में 'शुभ' और 'अशुभ', 'पाप' और 'पुण्य', 'भाग्य' और 'पुरुषार्थ' की अवधारणाओं का निर्माण हुआ।

प्रत्येक व्यक्ति के मन, वचन और शरीर की प्रत्येक प्रवृत्ति (एक्टिविटी) शुभ या अशुभ हो सकती है। शुभ प्रवृत्ति पुण्य का और अशुभ पाप का कारण होती है—'शुभः पुण्यस्य, अशुभः पापस्य।' पुण्य सुख का और पाप दुःख का कारण बताया गया है।

पाप के मूल में प्रमाद (निग्लीजेन्स) प्रमुख कारण है। राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया और लोभ आदि मनोभाव पाप और पुण्य दोनों के कारण हैं। इनके कारण ही व्यक्ति प्रवृत्ति करता है।

५.०८ लोकाचार और शास्त्राचार के सम्बन्ध में जैन शास्त्रकारों ने स्पष्ट कथन किया है। सोमदेव ने लिखा है कि गृहस्थों के दो धर्म हैं—एक लौकिक, दूसरा पारलौकिक। पारलौकिक धर्म के लिए शास्त्र आधार हैं और लौकिक धर्म के लिए लोक। 'लोक-धर्म' के निर्णायक तत्त्व दो हैं—एक तो जिससे आपकी सद्दृष्टि दूषित न हो, दूसरा जिससे आपके व्रत या नियम विशेष में दोष न लगे।

जैन शास्त्रकारों ने लोक-मूढ़ताओं के अन्तर्गत नदी और पर्वतों की पूजा, समुद्र और नदी में स्नान को पवित्रता का कारण, संक्रान्ति में दान, गाय के पृष्ठ भाग को नमस्कार, सूर्य को अर्घ्य देना, आदि का निषेध किया है।

जो प्रवृत्ति किसी एक कारण से त्याज्य है, उसे दूसरा बहाना खोज कर अपनाने का भी निषेध है। जैसे—हिंसा त्याज्य है, तो वह अतिथि, पितरों या देवताओं किसी के बहाने से भी नहीं की जानी चाहिए।

५.०९ प्राचीन जैन शास्त्रों के सामाजिक एवं सांस्कृतिक तत्त्वों के उपर्युक्त संकेत सामाजिक तथा मानवविज्ञान के अध्ययन-अनुसन्धान के लिए नयी सम्भावनाओं तथा नये क्षेत्रों को उद्घाटित करने में उपयोगी और महत्त्वपूर्ण हो सकते हैं।

श्रमणविद्या संकाय
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी, उत्तर प्रदेश

Jaina Contribution to Indian Society

Dr. Vilas A. Sangave

From the social history of India it is clear that Tīrthaṅkara Mahāvīra ushered in a new era of hope and aspirations for the common people and succeeded in considerably changing the life, outlook and values of the people. He introduced various new concepts and ideas which revolutionised the entire course of life of the people. The significance of Tīrthaṅkara Mahāvīra lies in successfully effecting a social change and in making institutional and other arrangements for the perpetuation of his new social order. Obviously, the Jaina Ācāryas and thinkers continued to advocate this new social policy. Thus the Jains made remarkable contributions to the development of Indian Society.

1. Establishment of Social Equality :

The most significant contribution of the Jains in the social field was the establishment of social equality among the four *Varṇa*, i. e. classes, prevalent in the society. Tīrthaṅkara Mahāvīra succeeded in organizing his large number of followers into a compact social order quite distinct from that of the Brahmanic social order of the Vedic period.

The Vedic society was composed of four classes, viz., Brāhmaṇa, Rājanya, Vaiśya and Śūdra. They were said to have come from the mouth, the arms, the thighs and the feet of the Creator Brahman. The particular limbs ascribed as the origins of these divisions and the order in which they were mentioned indicated their status in the society of the time. Not only the four classes were distinct and separate, but they were also affected by the spirit of rivalry among themselves. Even in the early Rigvedic times the Brahmanical profession had begun to set up claims of superiority or sacredness for itself and accordingly we find that different rules were prescribed for different classes. The Kṣatriyas were assigned a position next to Brāahmin and Śūdras were comparatively neglected. Thus the Vedic Society was completely class-ridden in the sense that unusual importance was given to the Brāhmin class to the detriment of other classes.

Against these glaring practices based on the acceptance of social inequality and on the wide observance of social discrimination, Tīrthaṅkara Mahāvīra and Jaina Ācāryas launched their attack. They recognized the division of society into four classes but based them on the nature of activities carried out by the people and not on the basis of their birth. They gave full freedom to one and all, including women and Śūdras, to observe common religious practices prescribed for all and admitted them into their religious order. In this order those who followed religion as householders were known as *Śrāvakas* and *Śrāvikās* and those who observed the religion fully by leaving their houses and becoming ascetics were called as *Sādhus* and *Sādhvīs*.

Thus Mahāvīra's conception of Varṇa system produced social impact of great significance. The principle of social equality among the classes was firmly established. This had a very wholesome effect on the conditions of the Śūdras which were very deplorable. Formerly, the Śūdras were completely disregarded in religious matters and several binding restrictions were placed on their movements and ways of living. Tīrthaṅkara Mahāvīra's teachings proved a great solace to the Śūdras as the practices of social discriminations against them were fully banned. This resulted in the rise of social status of the down-trodden people. Obviously there was a distinct change in the social attitude towards the non-Aryans and the common masses. Slowly there was a strong opposition to the continuation of the practice of slavery in any form.

2. Emancipation of Women :

Another contribution of a distinctive nature made by Jaina thinkers in the social field was in the direction of raising the status of women. In the latter part of the Vedic period women had practically been reduced to the status of śūdras. Like the śūdras, women were debarred from the right of initiation and investment with the sacred thread. They were considered to have no business with the sacred religious texts. In many passages we find that women and śūdra were bracketed together. The very sight of women was considered as inauspicious and people were asked to avoid seeing women, śūdras, dead bodies, etc. Thus women had practically no place in the religious life of the society and as such she was neglected and degraded by the people.

This low position of women was definitely changed by Tīrthaṅkara Mahāvīra in many ways. He removed various restrictions imposed on

women especially in the practice of religion. In fact Tīrthaṅkara Mahāvīra did not make any distinction between the males and females in the observance of religion. The rules of conduct prescribed for the males and females were exactly the same. Both the sexes were given equal opportunities in different matters of religion like the study of sacred texts, observance of necessary duties, practice of *vratas*, i. e. vows, entrance into the ascetic order, practice of penance, making spiritual progress, etc. . In the religious order of Tīrthaṅkara Mahāvīra the male householders were called *Śrāvakas* and the female householders were termed *Śrāvikās* and both were quite free to observe their common religious duties and to prepare themselves for adopting ascetic life in due course. Similarly, complete freedom was given to women, like men, to enter the ascetic orders. The female sex was no bar to the practice of asceticism. Tīrthaṅkara Mahāvīra always showed this attitude of equality towards women and admitted them freely into his ascetic order, no matter whether the candidates for admission were royal consorts, members of the aristocracy, and those belonging to the common run of society. Naturally many ladies availed themselves of this opportunity of achieving their salvation in due course by entering into the ascetic order.

3. Emphasis on Non-violence

The most distinctive Jaina contribution consists in its great emphasis on the observance of *Ahimsa*, i. e. non-injury to living beings, by all persons to the maximum extent possible. *Ahimsa* in its full significance was realised and preached by Jaina Acharyas. In fact, the philosophy and rules of conduct laid down in Jaina religion have been based on the solid foundation of *Ahimsa*. That is why Jainism has become synonymous with *Ahimsa* and Jaina religion is considered as the religion of *Ahimsa*.

The Jaina Acharyas launched a vigorous attack against meat eating and the performance of animal sacrifices and advocated the principle of *Ahimsa*, i. e. non-injury to living beings. They laid great stress on the actual observance of Ahimsa because the principle of *Ahimsa* is the logical outcome of the basic Jaina metaphysical theory that all the souls are potentially equal. They therefore asserted that as no one likes pain, one should not do unto others what one does not want others to do unto

one. Since all living beings possessed soul, the principle of non-injury was obviously extended to cover all living beings. They explained the doctrine of Ahimsa systematically and to the minutest detail.

All these preachings of Jaina Acharyas regarding the strict observance of the principle of Ahimsa to the maximum extent possible by every individual in society produced far reaching effects in social field. The practice of performing sacrificial rites and especially the slaughter of animals at the time of sacrifices considerably fell into disuse. Similarly, killing of animals for hunting, sports and decoration purposes was greatly reduced. Further, the slaughter of animals and birds with a view to use their flesh as a form of diet slowly became unpopular. In this way injury to living beings was greatly reduced and the practice of vegetarian diet was adopted by large section of population in different regions of the country.

Further, the Jaina Acharyas emphasised the basic fact that every living being has a sanctity and a dignity of its own and therefore one must respect it as one expects one's own dignity to be respected by others. They also firmly emphasised that life is sacred irrespective of species, caste, colour, creed or nationality. On this basis they advocated the principle of 'Live and let live'. In this way the Jaina Acharyas convinced the people that the practice of *Ahimsa* is both an individual and a collective virtue and showed that *Ahimsa* has a positive force and a universal appeal.

As the principle of Ahimsa permeates the life of the Jainas, the Jaina culture is referred to as *Ahimsa* culture. If the Jainas are known for anything it is for the evolution of *Ahimsa* culture since they practised and propagated that culture from ancient times. The antiquity and continuity of *Ahimsa* culture is mainly due to the incessant efforts of the Jaina Acharyas. Naturally wherever the Jainas were in great numbers and wielded some influence they tried to spread *Ahimsa* culture among the masses. That is why we find that the States of Gujarat and Karnataka, which were the strongholds of Jainas from the beginning, are largely vegetarian. In fact it is admitted that as a result of the activities of the Jainas for the last so many centuries *Ahimsa* still forms the substratum of Indian character as a whole.

4. Insistence on Telerance

Advocacy of the principle of religious tolerance has been the

characteristic contribution of Jaina Acharyas. The doctrine of *Anekanta-vada* propounded by them broadens the outlook of the persons and removes the feelings of hatred towards the other religionists. This principle was applied not only to religious but also to intellectual, social and other fields of activities.

Human beings have limited knowledge and inadequate expression. That is why different doctrines are inadequate; at the most they are one-sided views of the Truth which cannot be duly enclosed in words and concepts. Jainism has always held that it is wrong, if not dangerous, to presume that one's own creed alone represents the truth. Toleration is, therefore, the characteristic of Jaina ideology. Even the Jaina monarchs and generals have a clean and commendable record to their credit in this regard. The political history of India knows no cases of persecution by Jaina Kings, even when Jaina monks and laymen have suffered at the hands of others religionists of fanatical temper. Dr. B. A. Saletore has rightly observed in this regard that "The principle of *Ahimsa* was partly responsible for the greatest contribution of the Jainas to Hindu culture—that relating to toleration. Whatever may be said concerning the rigidity with which they maintained their religious tenets and the tenacity and skill with which they met and defeated their opponent in religious disputations, yet it cannot be denied that the Jainas fostered the principle of teleration more sincerely and at the same time more successfully than any other community in India".

5. Encouragement to Social Welfare

Along with the maximum emphasis on the actual observance of *Ahimsa*, the Jaina Acharyas greatly extended the implications of *Ahimsa*. They invariably stressed both the negative and the positive aspects of Ahimsa. They strongly advocated that the concept of *Ahimsa* should not be confined only to the negative side of it, that is, the avoidance of injury to the living beings of different categories, but should be consistently applied in the positive way, that is, in the direction of increasing the welfare of all living beings. They always appealed to the people to bear good intentions about the prosperity of others, to show active interest in the welfare of the needy persons, and to take practical steps to ameliorate the miserable conditions of afflicted living beings including insects, birds, animals and men. This positive encouragement to

social welfare activities has been the most useful and noteworthy contri-
bution of Jainas to India Culture.

This humanitarian approach to lessen the miseries of living beings
was included in the *Vrata,* i.e. vow of *Aparigraha,* i.e. abstention from
greed of wordly possessions. The vow of *Aparigraha* is the fifth of the
five main vows which must be consistently followed by all persons.
Aparigraha involves avoiding the fault of *Parigraha* which consists in
desiring more than what is needed by an individual. Accumulating
even neccessary articles in large numbers, expressing wonder at the
prosperity of others, excessive greed and changing the proportions of
existing possessions are all forms of *Parigraha* i.e. worldly attachments.
This now aims at putting a limit on the worldly possessions by indivi-
duals according to their needs and desires. That is why this vow of
Aparigraha is many times termed as *Parigraha-Parimana-Vrata,* i.e. the
vow to limit one's worldly possessions.

This vow of *Parigraha-Parimana* is very noteworthy as it indirectly
aims at economic equalization by peacefully preventing undue accumula-
tion of capital in individual hands. It recommends that a householder
should fix, beforehand, the limit of his maximum belongings, and
should in no case, exceed it. If he ever happens to earn more than that
he must spend it away in *Dana,* i.e. charities. The best forms of
charities prescribed by religion are "*ahara-abhaya-bhaishajya-shastra-dana,*"
i.e. giving food to the hungry and the poor, saving the lives of people
in danger, distribution of medicines and spreading knowledge. These
charities are called the '*Chaturvidha-Dana*' i. e. the fourfold gifts, by Jaina
religion and it has been enjoined on the householders that they should
make special efforts to give these charities to the needy-irrespective of
caste or creed.

From the beginning the Jaina householders made it one of their
cardinal principles to give four gifts to all persons who are in need of
such help. In fact this help was extended to the protection and well-
being of insects, birds and animals also. For this the Jainas established
alm-houses, resthouses, dispensaries and educational institutions wherever
they were concentrated in good numbers. The Anna-chhatralayas,
i.e. alm-houses, were conducted at pilgrim and other centres for the
benefit of poor-people. In the Dharma-Shalas, i. e. resthouses, lodging
arrangements were provided without any charges or at nominal charges

at important towns, cities and pilgrim places. The Aushadhalayas, i. e. dispensaries, provide free medicines to the afflicted persons. Along with the dispensaries for men, the Jainas conducted special institutions known as Pinjarapols for the protection and care of helpless and decrepit animals and birds. In unusual times of flood and famine these Pinjarapols carry out various activities for animal protection. There is hardly any town or village of Gujarat or Rajasthan, where Pinjarapol is not present in some form or other. In the spread of education the Jainas took a leading part in the education of the masses. Various relics show that formerly Jaina ascetics took a great share in teaching childern in the southern countries, viz. Andhra, Tamilnadu, Karnatak and Maharashtra. In this connection Dr. A. S. Altekar rightly observes (in his book 'Rashtrakutas and their Times') that before the beginning of the alphabet proper the children should be required to pay homage to the deity Ganesha, by reciting the formula 'Shri Ganeshaya Namah', is natural in Hindu society, but that in the Deccan even-today it should be followed by the Jaina formula 'Om Namah Siddham' shows that the Jaina teachers of medieval age had so completely controlled the mass education that the Hindus continued to teach their childern this originally Jaina formula even after the decline of Jainism. Even now the Jains have rigorously maintained the tradition by giving freely these *Chaturvidha Dana*, i. e. four types of gifts, in all parts of India. In this manner social welfare activities have been continued to the present day.

Department of Sociology
Shivaji University
Kolhapur, Maharastra

The sociological and historical background of literary activities of Jains in the seventeenth century

Dr. Surendra Gopal

The Jains, an ancient community, primarily engaged in the trade, were to be found in the seventeenth century in all the important market-places of north India[1] such as Lahore, Multan, Delhi, Agra, Patna, etc., though their main concentration was in Rajasthan and Gujarat. Evidently, the establishment of the Mughal rule which introduced political stability over a large part of the country created the necessary environment for the exapansion of commerce, and the Jains did not fail to take advantage of the new situation; in pursuit of commerce they bagan to move outside Gujarat and Rajasthan in ever increasing numbers.

The Jains enjoyed a distinct advantage over members of other communities. As businessmen, most of them knew at least rudiments of reading and writing and were, by and large a literate community. This fact is confirmed and reflected by the considerable body of literature, both secular and religious, produced by them throughout their history.[2] In fact, continuity of literary tradition is a distinguishing feature of the Jain community; it enabled them to transmit their cultural heritage, which in turn kept their identity intact and saved them from the fate of Buddhism and Buddhists, who disappeared from the land of their birth.

---

1. See my paper "A note on the sources for a study of the Social Life of the Jainas in the Seventeenth Century" *Proceeding*, Indian Historical Records Commission, Vol. XXXIX, Patna, 1968, p. 53; S. N. Sen (ed.) *Indian Travels of Thevenot and Careri*, New Delhi, 1949, pp. 84-85 and *Mirat-i-Ahmadi*, M. F. Lokhandwala (trans.), Baroda, 1965, p. 176
2. It is difficult to give the whole list but there is hardly a gap since the ancient times. Nemichandra Shastri *Hindi-Jain-Sahitya Parishilan*, I, Banaras, 1956, pp, 27, 41

Over the last two thousand years several languages have developed and faded out in North India and the Jains have written in most of these. It might be pointed out that in their zeal to acquaint the community with its traditions, the Jains continued to study and write in languages, even when they ceased to be in popular use or when they became the preserve of a handful of literati. Thus in the seventeenth century, besides assiduously applying themselves to the learning of Sanskrit, they were the only people who kept the knowledge of Prakrit and Apabhramsa languages alive[3a], so that their religious heritage did not fall into oblivion. Admittedly, the number of writings in Prakrit and Apabhramsa was few : but they were the only people who wrote in these languages. In contrast, their writings in Sanskrit were more poolific : their continuing interest in Sanskrit language is explained by many reasons.

In the seventeenth century, Sanskrit was the language of culture and the key to higher education amongst the Hindus besides endowing the person concerned with high social prestige. The Jain scholars never considered their education complete unless they had mastered Sanskrit because it enabled them to study subjects like astronomy, grammar, logic, philosophy etc. Moreover, mastery over Sanskrit was essential for studying numerous religious texts and works by preceding Jain scholars, whose contribution in the enrichment of the language is considerable.[3] Furthermore, the Jain teachers were freque:tly called upon to debate and discuss with Hindu religious leaders the tenets and philosophy of their faith.[4]

Along with the Hindus, the Jains helped to keep alive knowledge of Sanskrit alive[5]; and in the process, they enriched certain branches

---

3. Dhirendra Varma and Brajeshwar Varma (eds.) *Hindi Sahitya* (in Hindi), Vol. II, Prayag, 1959, pp. 472, 483; The Digamber Jains continued to use Apabhramsa till 1643 A. D. Devendra Kumar Shastri, *Bhavisayatakatha Tatha Apabhramsa Kathakavya*, Varanasi, 1970. Manikyachandra wrote *Satvasnakaha* in 1634.

3a. Dr. Johrapurkar and Kasliwal, *Veer Shasan ke Prabhavak Acharya*, Delhi 1975 pp. 181, 212-13

4. Ibid. p. 212

5. Dr. G. N. Sharma, *Social Life In Medieval Rajasthan*, Agra, 1968, p. 255

such as biographies and travel accounts. They wrote biographies of their religious leaders, rich patrons within the community and produced one of the Mughal Emperor Akbar.[6] One must admit that these are written in a spirit of hero-worship and hence present a highly exaggerated picture of the achievements of their main character, but nevertheless, they throw light on many aspects of contemporary life, which is valuable for writing a socio-economic history of the period. They describe in detail places, visited by their religious leaders where their patrons lived. Since the route of the journey is traced, one gets a glimpse into the situation of the country-side as well. The way of life of the affluent section of the community and their attitudes are well-depicted. We also get a fleeting glimpse of the life of the upper crust of the society.[7]

Jain contribution to the development of vernacular literature in this age is significant. One can say that no history of vernacular literature of north-west India in the seventeenth century can ignore achievements of Jain scholars.

The vernacular languages all over north and west India were, in the seventeenth century, in a state of formation.[8]

The Jains had quite early grasped the fact that Hindi was coming into its own and so had begun using the language from the fifteenth century onwards. As more and more time elapsed, they used the language frequently in their writings but by the seventeenth century, the language used by them was not pure Hindi but a mixture of Rajasthani, Gujarati, and Apabhramsa.[9] In some cases the language

6. The reference here is to *Krparasakosa* by Santicandra. Also see *Infra*.
7. See, for example, M. D. Desai (ed.), *Bhanucandracarita*, Ahmedabad-Calcutta 1941 and Ambalal Premchand Shaha (ed), *Digvijaya Mahakavya*, Bombay, 1945.
8. For a representative list of Jain authors in Hindi and their works, see Nemichandra Shastri, II, pp. 210-11. See also Dr. Johrapurkar and Kasliwal, *Veer Shasan ke Prabhavak Acharya*, pp. 194-95. The reference is to the services rendered by Bhattarak Ratnakirti to the development of Hindi.
9. Kamta Prasad Jain, *Hindi Jain Sahitya ka Sankshipta Itihas*, Kasi, n. d., pp. 82, 100, 101, 109, 126.

was Brajbhasa,[10] while in others it was akin to, what is now known as, Khadi Boli.[11] It is interesting to note that many of these Jain writers in Hindi belonged to non-Hindi-speaking areas such as the Punjab, Rajasthan and Gujarat.[12] This development can be explained by the fact that the Jainas, who were traders by profession, had acquired taste for it as well as proficiency because of their visits to areas around Delhi and eastwards upto the borders of Bengal, where Hindi was in use.[13]

As was the case with other contemporary Indian languages, poetry remained the dominant form of literary expression : though the poetry by Jain authors studiously avoided *Sringara* rasa, the dominant motif of the age.[14] It was filled with religious ardour, was devotional in character and was full of spiritual content. There have been very few exceptions.[15]

The stress on devotional element in poetry was a direct manifestation of Jain attitude to sex-life. The Jain ethics stressed a disciplined sex-life for the laity and complete abstinence for the ascetics. Hence, they did not like to write about things associated with sex. Another factor which contributed to the devotional character of Jain literary output was that most of the authors belonged to the religious order. It was inevitable that they would not write on topices forbidden by their religion. Another factor reinforced the devotional content of poetry by Jain poets. Much of the poetry produced by the Jains of the time

10. Dhirendra Varma and Brajeshwar Varma (eds.), op. cit., p. 478
11. Ibid., p. 486
12. Ibid.
13. See my paper, "Jainas in Bihar in the seventeenth century", *Proceedings*, Indian History Congress, December 1972 (Muzaffarpur Session).
14. Dhirendra Verma and Brajeshwar Varma (eds.), op. cit., p. 480; Kamta Prasad Jain, op. cit., p. 118
15. This is obvious from the extracts produced from the writings of Jain poets of the seventeenth century in the works referred to above by Dhirendra Verma, Brajeshwar Varma and Kamta Prasad Jain. Pandit Nemichandra Shastri, *Hindi-Jain-Sahitya Parishilan*, Vol. I, pp. 22-23. For exceptions, see p. 235-37

was translation or adaptation from religious texts in Sanskrit or Prakrit so that they could become accessible to the lay followers, who were ignorant of these languagges. Thus many Jain writers of Hindi were also scholars of Sanskrit, Prakrit and Apabhramsa and have works to their credit in these languages.[16] It would be however a mistake to think that the Jain laity totally refrained from producing any literature.

In fact, the Jain laity, as distinguished from the members of religious order, primarily wrote in vernacular languages, including Hindi and more or less, avoided the classical languages. In this connection it would be interesting to compare the achievements of Jains with Khatris and Kayasthas, the two other non-Brahmin literate communities of north India. It appears that the Jains produced more literary works than the members of either of the two communities. This may be explained again by the nature of vocation usually pursued by the Jains. Usually the Jains carried on independent business or associated professions. They avoided petty jobs in the administration which were mainly dominated by the Kayasthas as well as Khatris, especially the former.[17] Hence, whereas the Jains enjoyed ample leisure and funds to indulge in their literary pastimes, the other two communities usually lacked them. Furthermore, in course of their wanderings as traders, the Jains acquired more varied experience of life and times than the Kayasthas and Khatris and these were reflected in their literary achievements. Nevertheless, the primary theme of Jain writers was religious, although they did touch upon secular matter.

The greatest piece of secular writing produced during this period in Hindi was Banarsidas's autobiography *Ardhakathanak*, which incidentally also happens to be the first autobiography in the Hindi language.[18] The work has already attracted considerable attention of literateurs

16. Mention may be made of poets Bhagvatidas, Salivahan, etc. See, Kamta Prasad Jain, op. cit., pp. 100-115 ff. Yasovijayaji wrote in Sanskrit and Gujarati, Ibid., p. 152
17. See my paper "Social attitudes of Indian trading communities in the seventeenth century", in *Essays in Honour of Prof. S. C. Srakar*, New Delhi, 1976, pp. 193-200
18. Banarsidas, *Ardha Kathanak*, Nathuram Premi (ed.), Bombay, 1970.

as well as historians.[19] Candid description of trials and tribulations faced by the author till the age of fifty-five impresses a reader. The historians find in him a trustworthy testimony on the age in which he lived : for he makes no attempt to hide anything and also as an ordinary businessman, his autobiography throws light on contemporary business practices and hardships faced by the common man. Even in Persian language there is hardly any contemporary autobiography which so graphically and in a matter-of-fact manner gives such an intimate glimpse in the social life of ordinary man.[20]

Another secular theme frequently touched upon by Jain authors relates to description of various uraban centres, intimately known to them.

Nahar Jatmal of Lahore writes of his own city and describes it in detail. In fact, he depicts in his poem "Lahore Gazal" the life of an urban centre.[21] It may be pointed that in Hindi this was the first occasion, when a city has been described in such minute detail on the basis of close personal knowledge. This genre became widely popular among other Jain authors : according to one estimate there are fifty poems dealing with cities and city-life based on personal observations and informations.[22] The growth of this particular branch of literature lay in the logic of Jain society and history.

As traders, the Jains were primarily urban-based and were familiar with almost all the important cities and urban centres in the Hindi-speaking area. They could write on urban life with competence and authority : secondly, the urban roots of Jains had already resulted in a considerable body of literature on towns by them in the Sanskrit language.[23] The new writings in Hindi on the already familiar theme

---

19. For instance see, Dr. Ravindra Kumar Jain, *Kavivar Banarsidas*, Varanasi, 1966, Nemichandra Shastri, II, 41-42 etc.
20. Dhirendra Varma and Brajeshwar Verma, op, cit., p. 479; Kamta Prasad Jain, op. cit , pp. 110-115 and pp. 120-24
21. Ibid., p. 484
22. Ibid., p. 484 ; The city of Agra has been described by various Jain writers. Mention may be made of *Yasodharcarit*. Kamta Prasad Jain, op. cit., p. 127
23. For example, see Mahamahopadhya Meghavijaygani, *Digvijaymahakavya,* Bombay, 1945, pp. 117-25 and also by the same author *Devanandmahakavya*, Bombay, 1937, pp. 61-64

was another attempt to bring literature nearer to the life of the common man.

Pattavalis constitute another important feature of literary achievements of Jains. Samaya Sundar, a poet as well as a scholar, wrote a poem on meeting of his preceptor Jinachandra Suri with Akbar.[24] In fact, the writing of *prasastis* and biographies in Hindi began with the Jains. They usually wrote about their religious teachers, rich patrons who subsidised these authors or spent lavishly on religious ceremonies, and important political authorities. Any such piece of writing necessitated a detailed history of the family of the hero of the narrative. No other group of authors in Hindi have taken so much pains to furnish genealogies.[25] Systematic recording of genealogies or *Prasastis* in Hindi especially of those not belonging to royalty was begun by Jain scholars. Their value as source-material for students of history is inestimable. In this case again, the Jain scholars were merely carrying forward a tradition which had already been developed in Sanskrit.[26] For the student of Indian society these genealogies provide further data for his study.

If the main character was a trader, author sometimes indicates the type and mode of business he was conducting, the places where he had his business interests, his wealth and his life-style.[27] The descriptions, undoubtedly, were replete with poetic fancies but nevertheless contained a hard core of truth about the mundane activities of all sections of their co-religionists : the laity and the monks.

---

24. Ibid., p. 479; Agarchand Nahta and Bhanvarlal Nahta, *Yugpradhan Shri Jinchandra Suri*, Calcutta, 2029 V. S., pp. 5-6; Muni Padmasundar wrote *Akbar Shahi-Sringardarpan* and Jinachandra Suri wrote *Akbar-Pratibodhras*. Dr. Jyoti Prasad Jain, *Pramukh Aitihasik Jain Purush aur Mahilayen*, New Delhi, 1975, p. 279

25. *Pattavali Prabandh Sangrah*, compiled by Acharya Sri Hastimalji Maharaj and edited by Dr. Narendra Bhanavat, Jaipur, 1968

26. *Sri Pattavali Pragsangrah*, written and compiled by Pandit Kalyan Vijay Gani, Jalor, 1966, pp. 118, 264

27. Dr. Jyoti Prasad Jain, op. cit., pp. 282-83

Finally, the Jain scholars also cotributed to the growth of Hindi prose during its formative stages. This need not cause any surprise : for the Jains who were traders, prose was more useful for keeping business records and conducting business correspondence. This also explains why in this century, the Khatris, who were partially traders, also contributed to the growth of prose as a vehicle of literary expression.

Among Jainas, as early as the mid-sixteenth century Pandey Rajmal wrote a commentary on Kundkundacharya's *Samayasara* in Hindi prose.[28] The tradition continued thereafter; Banarsidas, the poet, also wrote in Hindi prose.[29] His prose writings were collected by one of his friends after his death in a work called *Banarsivilas*.[30] Other prosewriters were Akhayraj Srimal, Pande Hemraj and Rupchand Pande etc.[31]

The Jain writers came very near to writing the first historical work in Hindi. The book *Raj Vilas* is a panegyric but is full of historical importance.[32]

The Jain writers helped to popularise Hindi prose as a medium of literary expression.

Department of History
Patna University
Patna, Bihar

---

28. Ibid., p. 476; Kamta Prasad Jain, op. cit., pp. 135-38. Nemichandra Shastri II, p. 40. It is claimed that Banarsidas was inspired by this example.
29. Ibid., Kamta Prasad Jain, op. cit., p. 136
30. Nemichandra Shastri, II, pp. 41-42
31. Ibid., pp. 42-44
32. Dhirendra Varma and Brajeshwar Verma, op. cit., p. 496

सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरप्रदेश के कतिपय विशिष्ट जैन व्यापारी

डॉ. उमानाथ श्रीवास्तव

जैन समाज के सदस्यों द्वारा धार्मिक-मान्यता 'अहिंसा परमो धर्मः' के सिद्धान्त का पालन व्यापार के क्षेत्र में भी किया जाता रहा है। ये लोग कुछ उसी प्रकार का व्यापार अथवा व्यवसाय करते हैं, जिसमें हिंसा न हो। अतः लकड़ी काटने, मछली मारने या उससे सम्बन्धित व्यवसाय, शहद (मधु) का व्यापार, खेती करना आदि इनके हेतु वर्जित हैं, क्योंकि इनसे जीव-हिंसा होने की संभावना बनी रहती है। इसलिए ये कुछ खास प्रकार के ही व्यापार अथवा व्यवसाय करते हैं।

सत्रहवीं शताब्दी का समय भारतवर्ष के व्यापारिक इतिहास में चरमोत्कर्ष का काल था।[1] उस समय मुगल-साम्राज्य का राजनीतिक विस्तार काबुल से बंगाल की खाड़ी तक तथा कश्मीर से सुदूर दक्षिण तक हो गया था। महान् मुगल-सम्राट् अकबर ने राजनीतिक स्थिरता के साथ ही जीवन तथा सम्पत्ति की सुरक्षा भी प्रदान की तथा भारतीय व्यापार और व्यवसाय को उन्नति प्रदान करने के लिए समुचित वातावरण का निर्माण भी किया था।[2] ऐसे उपयुक्त समय में भारतवर्ष के जैनों, विशेषकर गुजराती तथा राजस्थानी जैनों ने इस अवसर का लाभ उठाकर व्यापारिक प्रगति की।

मुगलवंश के संस्थापक बाबर ने आगरा (उ० प्र०) को अपनी राजधानी बनाया था। उसे शासन-व्यवस्था को सुदृढ़ करने के लिए पर्याप्त अवसर नहीं मिला, इसी प्रकार हुमायूँ का भी पूरा जीवन अपने शत्रुओं के विरुद्ध युद्ध करने में ही समाप्त हो गया। अतः राजधानी आगरा की व्यापारिक एवं राजनीतिक उन्नति नहीं हो सकी। महान् मुगल सम्राट् अकबर ने आगरा को विशाल भवनों आदि से सुसज्जित कर एक महत्त्वपूर्ण स्थान का दर्जा प्रदान किया। राजधानी होने के कारण आगरा को व्यापारिक प्रधानता भी मिली। देश भर के महत्त्वाकांक्षी व्यापारी और व्यवसायी

---

१. डॉ. सुरेन्द्रगोपाल 'सत्रहवीं सताब्दी में बिहार में जैन' प्रोसीडिंग्स **भारतीय इतिहास कांग्रेस का तैंतीसवाँ अधिवेशन** (१९७२) पृ० ३२०।

२. वही, पृ० ३२०।

आगरा आकर व्यापार करने लगे। आगरा की व्यापारिक एवं राजनीतिक महत्ता को देखते हुए अंग्रेजों ने अपनी व्यापारिक कम्पनी की एक शाखा जहाँगीर के शासन काल के प्रथम दशक में ही यहाँ स्थापित कर दी थी।

जैन स्रोतों से यह भी पता चलता है कि अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के शासन-काल तक आगरा की व्यापारिक प्रधानता बनी रही। अकबर तथा जहाँगीर के समकालीन जैन मुनि सिद्धिचंद ने लिखा है—"यह नगर यमुना नदी के किनारे बसा हुआ है। धनी व्यापारी और दुकानदार यहाँ निवास करते हैं। बाहर से भी व्यापारी यहाँ आते हैं तथा खरीद-विक्री करते हैं, हाथी, घोड़े, पक्षी, हीरे, जवाहरात, दास, कपड़े, मीठे फल, सब्जी आदि का उच्च स्तर पर यहाँ व्यापार होता है।[3] सत्रहवीं शताब्दी के महान् जैन कवि बनारसीदास ने भी अपने आत्मचरित्र "अर्धकथानक" में आगरा की व्यापारिक एवं राजनीतिक प्रधानता का वर्णन किया है।

सम्राट अकबर जैनों के 'अहिंसा' के सिद्धान्त से प्रभावित हुआ था। अतः उसने जैनों के कुछ महत्त्वपूर्ण पर्वों पर मुगल-साम्राज्य में जीवहिंसा पर प्रतिबंध लगा दिया था। इस संदर्भ में उसने कई फर्मान जारी किये थे।[४] सम्राट जहाँगीर ने सम्राट बनने पर इन राज्याज्ञाओं को पुनः जारी नहीं किया। अतः आगरा के प्रमुख जैनों ने १६१० ई० में प्रसिद्ध तपागच्छाचार्य श्रीविजयसेन सूरि को गुजरात में इस संदर्भ में प्रयास करने के लिए एक विज्ञप्ति पत्र भेजा।[५] श्री सूरि अस्वस्थता के कारण नहीं जा सके, लेकिन उन्होंने अपने दो प्रमुख शिष्यों, विवेकहर्ष और उदयहर्ष को जहाँगीर के दरबार में आगरा भेजा था। राजा रामदास के प्रयास से सम्राट जहाँगीर ने उपर्युक्त राजाज्ञाओं को पुनः जारी किया। इस विज्ञप्ति पत्र को कलात्मक रीति से तैयार किया गया था, जिसे दरबारी चित्रकार शालिवाहन ने चित्रित किया था।[६] इसमें राजदरबार और जैनों के सामाजिक एवं धार्मिक जीवन का सुन्दर चित्रण किया गया था।

---

३. सिद्धिचन्द उपाध्याय, **भानुचन्द्रगणिचरित्रम्** मोहनदास दलीचन्द देसाई (संपा०) (कलकत्ता, सिंघी जैन ग्रन्थमाला १९४१) उग्रसेनपुरवर्णनम् पृ० ३।

४. महावीर प्रसाद द्विवेदी 'हीरविजयसूरि' **सरस्वती** (जून १९१२)।

५. विस्तार के लिए डॉ० हीरानन्द शास्त्री **प्राचीन विज्ञप्ति पत्र** (बड़ौदा राज्य प्रेस, १९४२) पृ० १९–४२।

६. एन० सी० मेहता, **स्टडीज इन इंडियन पेंटिंग** (बम्बई, १९२६) पृ० ६९।

इस प्रकार इस विज्ञप्ति पत्र से जैनों की राजनीतिक एवं धार्मिक स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। साथ ही इससे जहाँगीरकालीन आगरा के कुछ प्रमुख जैन सेठ-साहूकारों के नाम भी प्रकाश में आते हैं। इससे सत्रहवीं शताब्दी के जैन व्यापारियों के बारे में जानकारी भी प्राप्त होती है। १७वीं शताब्दी के अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कंपनी के दस्तावेजों में इन व्यापारियों के संबंध में महत्त्वपूर्ण सूचनायें प्राप्त होती हैं।

उपर्युक्त स्रोतों के आधार पर सत्रहवीं शताब्दी के आगरा के कुछ प्रमुख जैन व्यापारियों का विवरण इस प्रकार है :—

१. हीरानंद मुकीम

सम्राट अकबर के शासन के अंतिम वर्षों तथा जहाँगीर के शासन काल के प्रारंभ में आगरा के सेठ हीरानंद शाह अत्यन्त धर्मात्मा एवं धनवान् व्यक्ति थे। इनकी जाति ओसवाल थी। ये हीरे-जवाहरात का व्यापार करते थे तथा अकबर के समय में शाहजादा सलीम के कृपापात्र जौहरी थे।[७] अकबर की मृत्यु के पश्चात् भी ये जहाँगीर के कृपापात्र जौहरी बने रहे। संभवतः इनको जवाहरात की मुकीमी का पद मिला था। इनके पिता का नाम साह कान्हड़ तथा माता का नाम भामनीबहू था।[८] इनके पुत्र का नाम शाह निहालचंद था। इन्होंने १६०४ ई० में सम्मेदशिखर तीर्थ के लिए संघयात्रा की थी। संघ के साथ हीरानन्द सेठ के अनेक हाथी, घोड़े, पैदल तथा तुपकदार थे।[९] शाह हीरानन्द की ओर से पूरे संघ को प्रतिदिन भोज दिया जाता था। संघ लगभग एक वर्ष तक यात्रा करने के पश्चात् वापस आया। इस धार्मिक कार्य से शाह हीरानंद मुकीम की आर्थिक स्थिति का आभास मिलता है। सम्राट् अकबर की मृत्यु (१६०५) के पश्चात् जब जहाँगीर सम्राट् बना, तब भी शाह हीरानंद उनके व्यक्तिगत जौहरी और कृपापात्र बने रहे। सन् १६१० ई० में शाह हीरानंद ने सम्राट जहाँगीर को अपने घर आमंत्रित किया, अपनी हवेली की भारी सजावट की, सम्राट को बहुत मूल्यवान् उपहार दिया और उसको तथा दरबारियों को शानदार

---

७. बनारसीदास, **बनारसी विलास अर्धकथानक समीक्षा सहित,** नाथूराम प्रेमी (संपा०) (बम्बई, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय १९०५) पृ० ४९।

८. पूरनचन्द नाहर संक० **जैनलेख संग्रह** द्वितीय भाग (कलकत्ता १९२७) लेखांक १४५१।

९. अगरचन्द नाहटा 'शाह हीरानन्द तीर्थयात्रा विवरण और सम्मेतशिखर चैत्य परिपाटी' **अनेकान्त** (मई १९५७) पृ० ३००।

दावत दी।[10] इस प्रकार, शाह हीरानन्द मुकीम न केवल एक धनी व्यापारी और धार्मिक व्यक्ति थे, बल्कि सम्राट् जहाँगीर के कृपापात्र भी थे।

इनके पुत्र शाह निहालचन्द्र भी संभवतः हीरे-जवाहरात का ही व्यापार करते थे। यह भी एक धार्मिक व्यक्ति थे। सन् १६११ ई० में जिनचन्द्रसूरि से एक पार्श्व प्रतिमा प्रतिष्ठित करवाई थी।[11] सन् १६१० ई० में आगरा के जैन संघ की ओर से तपागच्छाचार्य विजयसेनसूरि को जो विज्ञप्ति पत्र भेजा गया था, उसमें वहाँ के ८८ श्रावकों तथा संघपतियों के हस्ताक्षर थे। उस सूची के संघपति नीहालु ही शाह हीरानंद मुकीम के पुत्र निहालचंद्र थे।[12]

२. सबलसिंह मोठिया

ये नेमिदास (नेमा) साहू के पुत्र तथा जहाँगीर के शासनकाल में आगरा के एक अति वैभवशाली जैन व्यापारी थे। इन्होंने बनारसीदास को (सन् १६१५–१६ ई. में) आगरा के व्यापार में असफल हो जाने पर साझे में नरोत्तमदास जैन के साथ व्यापार करने के लिये पूर्व की ओर—पटना, बनारस, जौनपुर आदि नगरों की ओर भेजा था[13], क्योंकि वहाँ भी उस समय अच्छी व्यापारिक मण्डियाँ थीं। संभवतः सबलसिंह मोठिया ने इन व्यापारियों, बनारसीदास एवं नरोत्तमदास को आर्थिक सहायता प्रदान की होगी तथा यह भी आभास मिलता है कि सबलसिंह मोठिया की उक्त नगरों में भी व्यापारिक शाखायें रहीं होगी जहाँ बनारसीदास एवं नरोत्तमदास उनके प्रतिनिधि के रूप में गये होंगे। इन लोगों को वहाँ व्यापारिक सफलता मिली थी। यद्यपि नरोत्तमदास वापस आगरा आ गये थे, लेकिन बनारसीदास पिता की बीमारी के कारण आगरा वापस नहीं आ सके थे। नरोत्तमदास का लेखा (साझे का हिसाब) साफ हो गया था लेकिन बनारसीदास की अनुपस्थिति के कारण ऐसा नहीं हो सका। बनारसीदास को सबलसिंह ने इस संदर्भ में एक पत्र भेजा था कि आगरा आकर अपना हिसाब साफ कर लो, बाद में बनारसीदास के आगरा आने पर काफी

---

१०. ज्योतिप्रसाद जैन, **प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएँ** (काशी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रका०, १९७५) पृ० २९०।

११. वही, पृ० २९०।

१२. डॉ० हीरानन्द शास्त्री, **प्राचीन विज्ञप्ति पत्र** (बड़ौदा, राज्य प्रेस, १९४२) पृ० २५।

१३. बनारसीदास' **बनारसी विलास, अर्धकथानक की समीक्षा सहित**, नाथूराम प्रेमी (संपा०) (बम्बई, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय प्रका० १९०५) पृ० ७५।

परेशानियों के बाद उनका हिसाब साफ हो सका था। चूँकि इस संदर्भ में बनारसीदास को सबलसिंह मोठिया की हवेली पर कई बार जाना पड़ा था, इसलिए बनारसीदास ने उनकी हवेली एवं दरबार के शानशौकत का विशेष उल्लेख किया है।[१४] वे लिखते हैं कि साहू जी का दरबार जिस तरह से सुसज्जित था, उस तरह उन्होंने इसके पूर्व नहीं देखा था। साहू जी तकिये के सहारे पड़े हैं, बंदीजन विरद पढ़ रहे है, नृत्यांगनाएँ नृत्य कर रही हैं, भाड़ भी मस्त हैं तथा सेठ जी के सेवक भी मगन हैं।[१५] इस प्रकार बनारसीदास के विवरण से पता चलता है कि सेठ सबलसिंह मोठिया उस समय के एक अतिवैभवशाली सेठ (साहूकार) थे। इसके ही साथ वह एक ऐसे महाजन थे, जो साझेदारों को व्यापार करने के लिए आर्थिक सहायता भी प्रदान करते थे, अर्थात् वह रुपये के लेन-देन का भी कार्य करते थे। यद्यपि इनके द्वारा किया गया कोई धार्मिक कार्य का उल्लेख नहीं मिलता तथापि १६१० ई. में आगरा के जैन संघ की ओर से तपागच्छाचार्य विजयसेनसूरि को जो विज्ञप्ति पत्र भेजा गया था, उसमें संघपति सबल ही सबलसिंह जान पड़ते हैं।[१६]

३. वर्द्धमान कुँवर जी

वर्द्धमान कुंवर जी आगरा नगर के निवासी तथा संघपति की उपाधि से विभूषित थे। ये दलाली का काम करते थे।[१७] एक व्यापारी होने के साथ ही यह धार्मिक व्यक्ति भी थे। सन् १६१८ ई. में बनारसीदास आदि के साथ इन्होंने अहिच्छत्रा (बरेली) एवं हस्तिनापुर (मेरठ) आदि जैन तीर्थों की यात्रा की थी।[१८] सन् १६१० ई. के आगरा विज्ञप्ति पत्र में इनका भी नाम है।[१९]

४. साह बन्दीदास

ये आगरा नगर के निवासी थे तथा जवाहरात का व्यापार करते थे। इनके पिता का नाम दूलहसाह था। इनके बड़े भाई उत्तमचंद जौहरी भी आगरा में निवास करते हुए जवाहरात का व्यापार करते थे। साह बंदीदास जैन कवि बनारसीदास के बहनोई थे तथा मोतीकटरा मुहल्ले में रहकर मोती आदि जवाहरातों का व्यापार करते थे।[२०] सन् १६११ ई. में बनारसीदास कपड़ा, जवाहरात, तेल, घी आदि वस्तुओं को

१४. वही, पृ. ८२। १५. वही, पृ. ८२। १६. **प्राचीन विज्ञप्ति पत्र** पृ. २५।
१७. **प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलायें**, पृ. २९१।
१८. वही, पृ. २९१।
१९. डॉ० हीरानंद शास्त्री, **प्राचीन विज्ञप्ति पत्र**, पृ. २५।
२०. बनारसीदास, **बनारसीविलास अर्धकथानक की समीक्षा सहित**, पृ. ५७।

लेकर व्यापार करने के लिए आगरा गये थे, इस समय साह बंदीदास की सहायता से इनको मोतीकटरे में किराये पर एक मकान मिल सका था।[२१] आगरा-विज्ञप्ति-पत्र में इनके नाम का भी उल्लेख है।[२२]

५. ताराचन्द्र साहू

ये आगरा के धनी श्रावक एवं व्यापारी थे।[२३] इनके अनुज कल्याणमल थे, जो खेराबाद (सीतापुर) के निवासी एवं धनी व्यापारी थे। उस समय खेराबादी कपड़ों की काफी माँग थी। संभवतः कल्याणमल जी कपड़ों का ही व्यापार करते थे, इनके बड़े भाई व्यापार को ध्यान में रखते हुए राजधानी आगरा में जा बसे थे। सेठ कल्याणमल की पुत्री के साथ कविवर बनारसीदास का विवाह हुआ था।[२४]

ताराचंद्र साहू ने बनारसीदास को, जब वे व्यापार में असफल रहे थे, आगरा में लगभग २ महीने तक अपने घर में रखा था। इन्हीं के यहाँ रहकर बनारसीदास ने धरमदास जौहरी के साथ साझे में व्यापार करना शुरु किया था।[२५] सन् १६१० के आगरा विज्ञप्ति पत्र में इनका नाम अंकित है।[२६]

६. खरगसेन

खरगसेन के पिता का नाम मूलदास था। सन् १५५१ ई० में ये नरवर (ग्वालियर) के मुगल उमराव के व्यक्तिगत मोदी थे। उनकी मृत्यु के बाद खरगसेन अपनी माता के साथ अपने ननिहाल (जौनपुर) में आकर रहने लगे। इनके नाना मदनसिंह चिनालिया जौनपुर के नामी जौहरी थे। चूँकि मदनसिंह के कोई पुत्र नहीं था, इसलिए उन्होंने खरगसेन को पुत्र की तरह स्नेह दिया तथा व्यापार करने के लिए प्रोत्साहित किया। इसी संदर्भ में खरगसेन जी ने बंगाल के पठान सुलतान के राज्य में दीवान धन्नाराय के अधीन चार परगनों की पोतदारी की। उनकी मृत्यु के पश्चात् आप जौनपुर लौट आये। सन् १५६९ ई. में इन्होंने आगरा आकर सुन्दरदास पीतिया नामक व्यापारी के साथ साझे में व्यापार किया।[२७] इसमें आपको काफी आय हुई।

---

२१. वही, पृ. ५७।

२२. डॉ. हीरानंद शास्त्री, **प्राचीन विज्ञप्ति पत्र**, पृ. २५।

२३. बनारसीदास, **बनारसी विलास अर्द्धकथानक की समीक्षा सहित**, पृ. ६२।

२४. वही, पृ. ३४। २५. वही, पृ. ६३।

२६. **प्राचीन विज्ञप्ति पत्र**, पृ. २५।

२७. **बनारसीविलास अर्द्धकथानक की समीक्षा सहित**, पृ. ३१।

इसी समय खरगसेन का विवाह मेरठ नगर के सूरदास जी श्रीमाल की कन्या के साथ हुआ। सन् १५७६ ई० में खरगसेन ने आगरा नगर, विपुल धन का अधिकारी होकर, छोड़ दिया। जौनपुर आकर आप वहाँ के प्रसिद्ध धनिक लाला रामदास जी अग्रवाल के साथ साझे में जवाहरात का व्यापार करने लगे।[२८] इन्होंने अपनी पुत्रियों का विवाह आगरा एवं पटना में धनी व्यापारियों के साथ किया। कुछ समय तक खरगसेन इलाहाबाद नगर में शाहजादा दनियाल के सूबेदारी में, जवाहरात के लेन-देन का व्यापार करते रहे। शाहजादा दनियाल द्वारा व्यक्तिगत जवाहरात की माँगों को ये ही पूरा करते थे।[२९] खरगसेन अपने जीवन के अंतिम समय तक जौनपुर में ही रहकर जवाहरात का व्यापार करते रहे। सन् १६१७ ई. में बीमारी के पश्चात् जौनपुर में इनका निधन हो गया।

७. बनारसीदास

कविवर बनारसीदास खरगसेन जौहरी के एकमात्र पुत्र थे। अधिक लाड़ प्यार के कारण बनारसीदास अपने पैतृक व्यवसाय में बराबर असफल होते रहे। इन्होंने कई बार भिन्न-भिन्न स्थानों पर व्यापार किया, लेकिन दुर्भाग्यवश सफलता नहीं मिली। सबलसिंह मोठिया ने पूर्व की ओर बनारस, जौनपुर, पटना, आदि स्थानों पर व्यापार के लिए इनको भेजा था, लेकिन उसमें भी लाभ नहीं मिला। व्यापारी होने के साथ ही आप एक कवि भी थे। इन्होंने अपनी आत्मकथा लिखी है, जिसमें अपने जीवन के पचपन वर्षों की घटना को लिपिबद्ध किया है, इसीलिए उसका नाम "अर्ध कथानक" रखा। इसमें उन्होंने १५८६ ई० से १६४१ ई. तक की घटनाओं का वर्णन किया है। संभवतः हिन्दी भाषा का यह प्रथम आत्मचरित्र है। कवि होने के साथ ही आप एक व्यवहार कुशल व्यक्ति भी थे। जौनपुर के अधिकारी चिनकलीच खाँ से आपकी मित्रता थी, उसको इन्होंने "श्रुतिबोध" आदि ग्रंथ पढ़ाये थे।[३०] बनारसीदास के आत्मचरित्र "अर्ध कथानक" से पता चलता है कि सत्रहवीं शताब्दी में न केवल उत्तरप्रदेश में, बल्कि बिहार और बंगाल में श्रीमाल, ओसवाल, अग्रवाल आदि जातियों के जैन व्यापारी निवास करते थे तथा उनकी समाज एवं शासन में प्रतिष्ठा थी। सम्राटों, सूबेदारों एवं अन्य पदाधिकारियों से इनका विशेष सम्बन्ध बना रहता था। अधिकांश जैन व्यापारी सुशिक्षित होते थे तथा सरलतापूर्वक दूसरे राज्यों की भाषाओं को सीख लेते थे।

---

२८. वही, पृ. ३१। २९. वही, पृ. ३९।

३०. डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन, **प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलायें**, पृ. २९२।

८. धरमदास जौहरी

ये आगरा-निवासी जैन व्यापारी थे। इनके पिता का नाम अमरसी था। संभवतः ये गुजरात के मूल निवासी जान पड़ते हैं, कदाचित् व्यापार को ध्यान में रखते हुए आगरा आ बसे थे।[31] धरमदास बुरे व्यसनों से ग्रस्त था, इसीलिए इसके पिता अमरसी ने इसको बनारसीदास का व्यापारिक साझीदार बना दिया था। इस संदर्भ में अमरसी ने धरमदास जौहरी को ५०० मुद्रायें दी थीं। इस प्रकार बनारसी-दास और धरमदास जौहरी ने मोती, माणिक, मणि, चूना आदि वस्तुओं को खरीदने एवं अच्छे दामों में बेचने का व्यापार किया जिसमें इनको लाभ भी मिला था।[32]

९. संघपति चन्दू

ये आगरा नगर के एक धनी जैन थे। संघपति, जैन समाज की एक विशिष्ट उपाधि होती थी। धनी एवं व्यापारी होने के साथ ही साथ आप एक धार्मिक व्यक्ति भी थे। सन् १६१० ई. के आगरा-संघ के विज्ञप्तिपत्र, जो श्रीविजयसेन सूरि को भेजा गया था, में सूरि जी से संघपति चन्दू द्वारा निर्मित नवीन जिन चैत्य की प्रतिष्ठा हेतु पधारने हेतु नम्र प्रार्थना की गई थी।[33]

१०. तिहुना साहु

ये सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के एक धनी जैन व्यापारी थे। इनकी जाति अग्रवाल थी। इन्होंने आगरा में एक विशाल जिनमंदिर बनवाया था।[34] आगरा के तिहुना साहू के इसी मंदिर में रूपचन्द्र नाम के गुणी विद्वान् १६३५ ई. में आकर ठहरे थे। इनके पांडित्य की प्रशंसा सुनकर बनारसीदास की मण्डली के सभी अध्यात्मप्रेमी उनसे जाकर मिले और विनयपूर्वक उनसे "गोम्मटसार" का प्रवचन कराया था।[35]

---

३१. बनारसीदास, **बनारसीविलास अर्द्धकथानक समीक्षा सहित**, पृ. ६३।

३२. वही, पृ. ६३।

३३. भँवरलाल नाहटा, उदयपुर का सचित्र विज्ञप्तिपत्र, **नागरी प्रचारिणी पत्रिका** १९५२, अंक २–३।

३४. बलभद्र जैन, संपा., **भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ** प्रथम भाग बम्बई, भारतवर्षीय दि० जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी प्रकाशन, १९७५, पृ. ६०।

३५. **प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलायें**, पृ. २९२।

११. जादूसाह

ये आगरा के रहने वाले धनी जैन व्यापारी तथा अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी के दलाल थे।[३६] अंग्रेजों ने इनको आगरा के दरबार से सम्बन्धित व्यापारिक कार्यों को निपटाने के लिए रखा था। इन्होंने इस सन्दर्भ में आगरा में एक मकान बारह सौ मुद्राओं में खरीदा था।[३७] व्यापार के उद्देश्य से इनको सूरत, अहमदाबाद, बुरहानपुर आदि स्थानों की यात्रा करनी पड़ती थी। रुपयों के लेन-देन को लेकर अंग्रेजों का इनसे सम्बन्ध खराब हो गया था, इसलिए इनको दलाली के कार्य से मुक्त कर दिया गया था।[३८] ये महाजनी का भी कार्य करते थे। इनके द्वारा किये किसी धार्मिक कार्य का उल्लेख नहीं मिलता, लेकिन सन् १६१० ई. के आगरा संघ द्वारा भेजे गये विज्ञप्ति-पत्र में इनका नाम आया है।[३९]

१२. कल्याण साह

ये आगरा के रहने वाले धनी जैन व्यापारी थे तथा महाजनी का कार्य करते थे।[४०] ये अंग्रेजों तथा अन्य व्यापारियों को ब्याज पर आर्थिक सहायता करते थे। इस कार्य हेतु इन्होंने आगरा के अतिरिक्त अन्य कई नगरों में अपने प्रतिनिधि नियुक्त किये थे। पटना में भी इसी तरह का प्रतिनिधि रहता था।[४१] इन लोगों को साहू या साह के नाम से जाना जाता था। सर्राफ[४२] के रूप में भी कल्याण साहू प्रसिद्ध थे। सर्राफों में उस समय काफी एकता थी। सभी लोग नियोजित ढंग से कार्य करते थे, यही कारण था कि इन लोगों का व्यापार पूरे देश में अबाध गति से सम्पन्न होता था। सन् १६१० ई. के विज्ञप्तिपत्र में इनका नाम आया है।[४३]

---

३६. विलियम फोस्टर '**इंग्लिश फैक्ट्रीज इन इण्डिया**' द्वितीय भाग, १६२२-२३ (आक्सफोर्ड, १९०८) पृ. २१।

३७. वही, पृ. १४७।

३८. वही, पृ. १४७।

३९. **प्राचीन विज्ञप्तिपत्र** पृ. २५।

४०. विलियम फोस्टर '**इंग्लिश फैक्ट्रीज इन इण्डिया**' प्रथम भाग, १६१८-२१ (आक्सफोर्ड, १९०६) पृ. २४७।

४१. वही, पृ. २४७।

४२. सर्राफ–विभिन्न स्थानों पर प्रचलित मुद्राओं को लेना तथा उनको आवश्यकतानुसार दूसरी मुद्राओं में परिवर्तित करना, यही काम सर्राफ का होता था अर्थात् Mo ey changer.

४३. **प्राचीन वितप्तिपत्र**, पृष्ठ २५।

१३. नाथूसाह

ये आगरा के रहने वाले धनी जैन महाजन थे। अंग्रेजों के साथ व्यापार करने के उद्देश्य से दो या तीन साल तक सूरत (गुजरात) जाकर रहे। अंग्रेजों ने इनको सर्राफ के रूप में मान्यता प्रदान करके पुनः आगरा भेज दिया।[४४] सन् १६१९ ई. में ये आगरा में अंग्रेजों के सर्राफ का कार्य करने लगे। व्यापार के सन्दर्भ में इनको गुजरात के नगरों अहमदाबाद आदि स्थानों पर भी जाना पड़ता था। अक्सर ये सम्राट के साथ अंग्रेजों के प्रतिनिधि के रूप में यात्रा करते थे।[४५] सन् १६१० ई० के विज्ञप्तिपत्र में इनका नाम भी सम्मिलित है।[४६]

१४. भीमजी

ये आगरा के रहने वाले धनी जैन महाजन (बैंकर) थे। इनका घनिष्ठ संबंध प्रसिद्ध जैन व्यापारी वीरजी बोरा से भी था। इन्होंने अंग्रेज कम्पनी की आगरा-शाखा को ३००० रुपये का ऋण सन् १६२८ ई. में दिया था।[४७] ये अक्सर व्यापार के उद्देश्य से आगरा के बाहर अन्य प्रसिद्ध व्यापारिक नगरों में भी जाया करते थे। कुछ समय पश्चात् इन्होंने अंग्रेजों को ऋण पर आर्थिक सहायता देना बन्द कर दिया था तथा वीरजी बोरा के ही समर्थक बने रहे। सन् १६१० ई. के आगरा के विज्ञप्ति-पत्र में इनका नाम सम्मिलित है।[४८]

१५. कासीदास

ये सम्भवतः आगरा के ही रहने वाले धनी जैन व्यापारी थे। ये, उस समय के सबसे धनी जैन व्यापारी वीरजी बोरा, के प्रतिनिधि (वकील) के रूप में आगरा रहते थे। बोरा की व्यापारिक शाखाएँ आगरा, बुरहानपुर, सूरत, गोलकुण्डा आदि स्थानों पर फैली हुई थी। कासीदास जी आगरा में रहकर अंग्रेजों के साथ वीर जी बोरा की ओर से सम्बन्ध बनाये रखते थे तथा दूसरी ओर वीर जी बोरा की ओर से मुगल दरबार से भी मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध कायम रखते थे। व्यापार के सन्दर्भ में, इनको

---

४४. **'इंग्लिश फैक्ट्रीज इन इंडिया'** प्रथम भाग (१६१८-२१) पृष्ठ ९१।

४५. वही, पृष्ठ ९१।

४६. **प्राचीन विज्ञप्तिपत्र**, पृष्ठ २५।

४७. विलियम फोस्टर, **इंग्लिश फैक्ट्रीज इन इण्डिया**, तृतीय भाग १६२४-२९ (आक्सफोर्ड, १९०९) पृष्ठ २७१।

४८. प्राचीन विज्ञप्तिपत्र, पृष्ठ २५।

१६३० ई. में बूँदी के राजा राव रतन से भी मिलना पड़ा था। राजा के मुख्य सलाहकार गंगाराम से भी इनको संपर्क बनाना पड़ा था।[५०] सन् १६१० ई. के आगरा के विज्ञप्तिपत्र में इनका भी नाम आया है।[५१]

१६. गुरुदास

ये आगरा के रहने वाले धनी जैन व्यापारी थे। प्रसिद्ध अंग्रेजों के दलाल जादू के ये सम्बन्धी थे[५२] तथा अंग्रेजों के प्रतिनिधि के रूप में वीर जी बोरा के पास आते जाते थे।[५३] ये एक सम्पन्न महाजन थे तथा ऋणों की वसूली अच्छी तरह से करते थे। संभवतः ये जवाहरात का भी व्यापार करते थे तथा उसकी आपूर्ति करते थे।[५४]

१७. धनजी

ये दिगम्बर-सम्प्रदाय के जैन व्यापारी थे। आगरा में रहकर अंग्रेजी कम्पनी में दलाली का काम करते थे।[५५] अंग्रेज कम्पनी के ईमानदार दलाल के रूप में प्रसिद्ध थे। धनजी कई भारतीय भाषाओं के ज्ञाता थे, अतः अंग्रेजों ने इनकी सेवायें प्राप्त की थी।[५६] इस प्रकार, धनजी में दोहरी योग्यता थी, जिसका अंग्रेजों को लाभ मिलता था। अंग्रेज कम्पनी के ऋृणों को ये वसूल करते थे। इस संदर्भ में इनको लाहौर आदि स्थानों में जाना पड़ता था। आसफ खाँ से इन्होंने अंग्रेजों का बकाया धन तेरह सौ रुपये प्राप्त किया था, जिसको उसने मूँगा खरीदने पर दिया था।[५७] सन् १६२८ ई. में इन्होंने अंग्रेजों के लिए दलाली करने से इंकार कर दिया था, लेकिन उनके भाषिक मार्गदर्शक बने रहे।[५८] सन् १६५८ ई० में नागपुर के एक प्रतिमालेख में इनका नाम संघवी धनजी आया है। जिससे पता चलता है कि इन्होंने

---

४९. विलियम फोस्टर, **इंग्लिश फैक्ट्रीज इन इण्डिया** चतुर्थ भाग १६३०-३३ (आक्सफोर्ड, १९१०), पृष्ठ ९०।

५०. वही, पृष्ठ ९०।

५१. **प्राचीन विज्ञप्तिपत्र**, पृष्ठ २५।

५२. **इंग्लिश फैक्ट्रीज इन इण्डिया** चतुर्थ भाग, १६३०-३४, पृष्ठ ९०।

५३. **इंग्लिश फैक्ट्रीज इन इण्डिया**, तृतीय भाग १६२४-२९, पृष्ठ १९०।

५४. वही, पृष्ठ ८६। ५५. वही, पृष्ठ ३४। ५६. वही, पृ. २२८।

५७. वही, पृ. ९४। ५८. वही, पृ. ४०।

अपने पिता संघवी खांभा के साथ मिलकर उक्त प्रतिमा की प्रतिष्ठा की थी। भट्टारक-सम्प्रदाय के इन्द्रभूषण मुनि ने उक्त मूर्ति की प्रतिष्ठा कराई थी।[५९]

१८. कुँवरपाल सोनपाल

ये दोनों भाई प्रसिद्ध ओसवाल जैन व्यापारी तथा धार्मिक व्यक्ति थे। मुगल सम्राट जहाँगीर के शासन काल (१६१४ ई.) में इनके द्वारा किये गये धार्मिक कार्यों (मूर्तिप्रतिष्ठा, मन्दिर-निर्माण आदि) की सूचना आगरा, मिर्जापुर, लखनऊ तथा पटना के मूर्तिलेखों एवं मन्दिर-प्रशस्तियों से मिलती है। आगरा के पार्श्वनाथ चिंतामणि मन्दिर की प्रशस्ति में इनके परिवार तथा अन्य कार्यों के बारे में विस्तृत जानकारी मिलती है।[६०] इस प्रशस्ति का समय १६१४ ई. है। प्रशस्ति से पता चलता है कि १६१४ ई. में आगरा निवासी कुँवरपाल सोनपाल नामक भाइयों ने वहाँ तीर्थंकर श्री श्रेयांसनाथ जी का मन्दिर बनवाया था, जिसकी प्रतिष्ठा अँचलगच्छ के आचार्य श्री कल्याणसागर ने कराई थी। इस अवसर पर मन्दिर-प्रतिष्ठा के साथ ही ४५० अन्य प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा हुई थी।[६१] इनमें से कुछ प्रतिमाओं के लेख नाहर जी ने अपने लेख संग्रह में दिये हैं। प्रशस्ति से उनके परिवार के लोगों के बारे में प्रकाश पड़ता है। इनके पिता का नाम ऋषभदास था, जो दो भाई थे। भाई का नाम शाह वेमन था। ऋषभदास के कुँवरपाल और सोनपाल दो पुत्र थे। इन लोगों को रूपचन्द, चतुर्भुज, धनपाल और दुलीचन्द नामक चार पुत्र थे।[६२] शाह वेमन के दो पुत्रों, षेतसी और नेतसी का नाम प्रशस्ति में है। ये ओसवाल जाति के लोढ़ा गोत्र के अन्तर्गत आते थे। इनकी माता का नाम रेखश्री था, चूँकि ऋषभदास का उपनाम रेषा था, अतः उनकी पत्नी रेखश्री कहलाई शाह वेमन की स्त्री का नाम शक्तादेवी था। कुंवरपाल सोनपाल जहाँगीर सम्राट् द्वारा सम्मानित थे। उसने इनको सीलदार

---

५९. डॉ. विद्याधर जोहरापुरकर सम्पा० **जैन शिलालेख संग्रह** भाग चार (काशी, भारतीय-ज्ञानपीठ, १९६१) पृ. ४०६।

६०. पूरनचन्द नाहर, संक० **जैनलेख संग्रह** द्वितीय भाग (कलकत्ता, १९२७) लेखांक १४५६

६१. बनारसीदास जैन, कुँवरपाल सोणपाल प्रशस्ति **जैन साहित्य संशोधक** (खण्ड २ अंक १) पृ. २६।

६२. लखनऊ के लेख १५८२ में पुत्र दिया है लेकिन पटना के लेख ३०७ में भाई लिखा है। दोनों लेख एक ही समय सन् १६१४ ई० के हैं। नाहर का लेख संग्रह प्रथम व द्वितीय भाग देखें।

के पद पर नियुक्त किया था।[६३] ये दोनों भाई व्यापार कुशल तथा धार्मिक कार्यों में धन लगाने वाले थे। इन्होंने तीन भवनवाली पौषधशाला[६४] का निर्माण करवाया था। शत्रुंजय, आबू, गिरनार, सम्मेतशिखर आदि तीर्थों की संघ सहित यात्रा करके संघाधिपति की उपाधि प्राप्त की थी।[६५] इनके पास पशुओं का एक समूह था, जिसमें १२५ घोड़े, २५ हाथी आदि थे। इन्होंने दो विशाल जिन चैत्यों का निर्माण करवाया था, जिनमें ऊँचे-ऊँचे चित्र एवं झंडे आदि लगे थे।[६६]

अन्य लेखों से पता चलता है कि इन्होंने मिर्जापुर में भी एक जिन मन्दिर बनवाया था।[६७] पटना में भी इनके द्वारा प्रतिमा-प्रतिष्ठा का उल्लेख मिलता है।[६८] सम्भवतः ये व्यापार को ध्यान में रखते हुए लगभग १६१५ ई. पटना नगर में जा बसे थे। यद्यपि इनका नाम सन् १६१० ई. के आगरा संघ के विज्ञप्तिपत्र में नहीं है, लेकिन इनके चचेरे भाई षेतसी व नेतसी पुत्र शाह वेमन के नाम उसमें है।[६९] इन लोगों ने भी पटना में मूर्ति-प्रतिष्ठा की थी।[७०] अहमदाबाद के एक लेख से पता चलता है कि इनके पुत्र रूपचद की तीन स्त्रियाँ रूपश्री, कोभा तथा केसर अपने पति की मृत्यु पर १६१५ ई. में सती (सागमन-सहगमन) हो गई थी।[७१]

उपर्युक्त तथ्यों से कुछ बातों पर प्रकाश पड़ता है—

(१) कुँवरपाल सोनपाल एक धनी जैन व्यापारी थे इनको संघाधिपति की महान् उपाधि मिली थी।

(२) इन्होंने आगरा, लखनऊ, मिर्जापुर, पटना तथा गुजरात आदि राज्यों की व्यापारिक एवं धार्मिक यात्राएँ की थीं। आगरा-निवासी होकर व्यापार हेतु पटना जा बसे थे।

---

६३. **'भानुचन्दगणिचरित्त'** प्रस्तावना, पृ. २२।

६४. यह एक प्रकार का विश्राम गृह होता है जिसमें जैन यात्री विश्राम करते थे।

६५. 'कुँवरपाल सोनपाल प्रशस्ति', पृ० २८।

६६. वही, पृ. २८।

६७. पूरनचन्द नाहर, **जैन लेख संग्रह**, प्रथम भाग (कलकत्ता, १९१८), लेखांक ४३३।

६८. वही, लेखांक ३०७, ३०८, ३०९।

६९. **प्राचीन विज्ञप्तिपत्र** पृ. २५।

७०. **जैन लेख संग्रह**, प्रथम भाग, लेखांक ३१०, ११।

७१. अगरचन्द नाहटा, सती प्रथा और ओसवाल समाज **ओसवाल नवयुवक** (सितम्बर १९३७) पृ. २८४।

(३) इनके प्ररिवार में बहु विवाह-प्रथा प्रचलित थी तथा स्त्रियों को ससुराल में नया नाम दिया जाता था।

(४) सती प्रथा इस समाज में विद्यमान थी। विशेष रूप से ओसवाल जाति के जैनों में।

१९. संघपति अभयराज एवं जगजीवन

ये आगरा के रहने वाले धनी अग्रवाल जाति के जैन थे। व्यापार इनका मुख्य व्यवसाय था। संघपति अभयराज ने आगरा में एक विशाल जिन मन्दिर बनवाया था।[७२] इनको संघपति की उपाधि से विभूषित किया गया था। इनकी कई पत्नियाँ थीं, इनमें सबसे छोटी मोहनदे से जगजीवन का जन्म हुआ था। जगजीवन एक सम्पन्न जैन के साथ ही साथ राजनीतिक व्यक्ति थे। शाहजहाँ के शासनकाल में पाँचहजारी मंसबदार उवराव जाफर खाँ के जगजीवन दीवान थे। उस समय आगरा के जैनों में कुछ आध्यात्मिक व्यक्ति थे उसमें जगजीवन भी थे। इन्होंने सन् १६४९ ई. में 'बनारसीविलास' का संकलन किया था।[७३]

२०. जगत सेठ के पूर्वज राय उदयचंद

प्रथम जगत सेठ फतहचंद के पूर्वज मूलतः अहमदाबाद के निवासी थे।[७४] उनमें से पदमसी सन् १६२७ ई. में खम्भात जा बसे। इनके दो पुत्र थे—श्रीपति और अमरदत्त। संभवतः दोनों ही जोहरी का कार्य करते थे। शाहजहाँ की विशेष कृपादृष्टि अमरदत्त पर हुई, वह इनको अपने साथ आगरा ले आया। आगरा में अमरदत्त को जवाहरात की मुकीमी का पद मिला,[७५] फिर यह पद उसके बेटों को मिला। इनके दो पुत्र थे—राय उदयचंद और केसरीसिंह। हीरानंद की पुत्री तथा सेठ माणिकचंद की बहन धनबाई का विवाह राय उदयचंद से हुआ। इनके चार पुत्र थे—मित्रसेन, सभाचंद, फतहचंद और रायसिंह। फतहचंद को उनके मामा मानिकचंद जो निःसंतान थे, ने १७०० ई. में गोद ले लिया।[७६] ये उस समय पटना में ही थे और प्रायः व्यापार में मानिकचंद का सहयोग करते थे। सम्राट फर्रुखसियर ने अपने शासन के पाँचवें वर्ष एक फर्मान निकालकर फतहचंद को भी सेठ की उपाधि से विभूषित किया; इसके पूर्व मानिकचंद भी सेठ की उपाधि प्राप्त कर चुके थे। लेकिन, प्रथम जगत सेठ होने का गौरव फतहचंद को ही मिला।[७७]

---

७२. **भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ** प्रथम भाग, पृ. ६०।

७३. परमानंद शास्त्री 'अग्रवालों का जैन संस्कृति में योगदान' **अनेकान्त** (अगस्त १९६७)।

७४. पारसनाथ सिंह, **जगतसेठ** (प्रयाग, भारती भंडार प्रका०, १९५०) पृ० ६७।

७५. वही, पृ० ६७। ७६. वही, पृ० ६७। ७७. वही, पृ० ६८।

२१. मानसिंह जौहरी

ये मूलतः आगरा निवासी थे तथा जैनधर्म का पालन करते हुए जौहरी का कार्य करते थे।[७८] इनका समय औरंगजेब के शासन काल के अन्तर्गत आता है। कविवर द्यानतराय ने १६९३ ई. में 'धर्मविलास' नामक ग्रंथ की रचना की, जिसमें उन्होंने मानसिंह जौहरी के आध्यात्मिक कार्यों का वर्णन करते हुए लिखा है कि आगरा में इस समय अनेक जैन बसे हैं, जिनको धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त है तथा औरंगजेब का शासन है, जिसके शासन में शान्ति-व्यवस्था बनी हुई है। उसने आगे लिखा है कि उस समय आगरा और दिल्ली में जैन धर्मावलम्बी धार्मिक संगठन बनाये गये थे, जिनमें धार्मिक चर्चा होती थी। आगरा में उस समय मानसिंह जौहरी की सैली (या संगठन) प्रसिद्ध थी। इसी प्रकार दिल्ली में सुखानंद की सैली थी।[७९]

२२. शाह वर्द्धमान और उनका परिवार

ये आगरा के रहने वाले थे। जहाँगीर के शासनकाल में सम्पन्न जैनों में इनकी गणना की जाती थी। इनका मुख्य कार्य व्यापार था। ये ओसवाल जाति के गुहाड़ गोत्र के थे। इनके कई पुत्र थे—शाह मानसिंह, रायसिंह, कनकसेन, उग्रसेन तथा ऋषभदास।[८०] इनके सभी पुत्र धन सम्पन्न व्यक्ति थे तथा धार्मिक कार्यों पर धन व्यय करते थे। इन लोगों ने अपने पिता के आदेशानुसार शत्रुंजय तीर्थ पर सहस्रकूट तीर्थ क्षेत्र का १६५३ ई. में निर्माण करवाया। तपागच्छाचार्य हरिविजय सूरि की परम्परा में श्री विनयविजयमुनि ने इसकी प्रतिष्ठा करवाई थी।[८१] उपर्युक्त धार्मिक कार्यों से इनकी सम्पन्नता का आभास मिलता है। सन् १६१० ई. के विज्ञप्तिपत्र में आगरा संघ के श्रावकों एवं संघपतियों की सूची में उल्लिखित शाह वर्द्धमान, इनका ही नाम जान पड़ता है।[८२]

---

७८. द्यानतराय **'धर्मविलास'** (बम्बई, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, १९१४) पृ० २५५।

७९. वही, पृ० २५५।

८०. सुख सम्पतराय भंडारी तथा अन्य **'ओसवाल जाति का इतिहास'** (भानपुरा, इन्दौर, ओसवाल हिस्ट्री पब्लिशिंग हाउस, १९३४) पृ० १३७।

८१. वही, पृ० १३७।

८२. प्राचीन विज्ञप्तिपत्र, पृ० २५।

उपर्युक्त जैन व्यापारियों के कार्य-कलापों पर दृष्टिपात करने से निम्नांकित तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है—

(१) अधिकांश जैन व्यापारी, महाजनी, सर्राफ, दलाली, जवाहरात का व्यापार, कपड़े का व्यापार, तेल, घी एवं अन्य खाद्य-सामग्री का व्यापार करते थे।

(२) विदेशी व्यापारी (अंग्रेज, डच, पुर्तगाली आदि) इनसे व्यापार में सहयोग एवं सहायता लेते थे, क्योंकि सत्रहवीं शताब्दी में इस देश के व्यापार पर जैनों का सफल हस्तक्षेप था; इनके सहयोग के बिना कोई विदेशी व्यापारी सफल नहीं हो सकता था।

चूँकि जैन व्यापारी अपने देश की भाषाओं एवं परम्पराओं से परिचित थे, इसलिए विदेशी व्यापारियों को इनसे विशेष सहायता मिलती थी।

(३) जैन व्यापारियों की सम्पन्नता का अनुमान इस बात से होता है कि शासक वर्ग भी आवश्यकता पड़ने पर उनसे ऋण लेता था।

(४) जैन व्यापारियों की प्रामाणिकता का आकलन इस बात से किया जा सकता है कि धन की रक्षा और विनिमय सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण पदों पर वे शासकों द्वारा नियुक्त किये जाते थे।

(५) जैन व्यापारी बहुत ही व्यवहार कुशल होते थे। इन लोगों ने अथक परिश्रम करके न केवल अपने देश के विभिन्न स्थानों पर व्यापार किया बल्कि विदेशों से भी व्यापार किया। इस सन्दर्भ में इनको तत्कालीन मुगल सम्राटों का भी सहयोग मिला। अकबर, जहाँगीर एवं शाहजहाँ इन जैन व्यापारियों एवं साधुओं से काफी प्रभावित थे तथा इनका सम्मान करते थे यद्यपि औरंगजेब एक कट्टर शासक और धार्मिक असहिष्णुता का पोषक था तथापि उन कठिन परिस्थितियों में भी जैनों ने व्यवहार कुशलता का परिचय देते हुए उससे आज्ञा प्राप्त करके अपने धार्मिक कृत्य किये, संघ निकाले और मन्दिर बनवाये। इसी प्रकार, व्यापार आदि में मुगल सम्राटों का सहयोग प्राप्त करते थे। औरंगजेब के समकालीन जैन कवि द्यानतराय ने औरंग-जेब के शासन काल की प्रशंसा की है तथा लिखा है कि उसके काल में जैनों को धार्मिक स्वतन्त्रता मिली थी। इससे आभास मिलता है कि औरंगजेब के शासन काल में भी जैनों पर विशेष धार्मिक अंकुश नहीं था। यह इस जाति की व्यवहार कुश-लता का परिचायक है।

(६) जैन समाज में धार्मिक विश्वास की जड़ें काफी गहरी थीं। उस समय किसी व्यक्ति की सम्पन्नता का अनुमान उसके द्वारा किये गये धार्मिक कार्यों से लगाया जाता था। अगर किसी व्यक्ति ने तीर्थ यात्रा-संघ निकाला, तो वह 'संघवी' या 'संघपति', यदि कई तीर्थों के लिए संघ निकाला तो 'संघाधिपति' कहलाता था। ये पदवियाँ जैन समाज में सम्पन्नता का परिचायक थीं तथा उनको समाज में सर्वोच्च स्थान प्राप्त होता था। इन सब कार्यों में काफी धन खर्च होता था। प्रायः लगभग सभी जैन व्यापारियों ने धार्मिक कृत्य किये।

इतिहास विभाग
पटना विश्वविद्यालय
पटना, बिहार।

अपराजितपृच्छा में चित्रित सामाजिक दशा

डॉ. जयनारायण पाण्डेय

जैन धर्म, भारत के धर्मों में से एक होते हुए भी, आज भी एक जीवन्त धर्म है। इस धर्म का भारत के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जीवन में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है और अभी भी है। जैन आचार्यों एवं सूरियों ने जिस साहित्य की सर्जना की है; यद्यपि वह प्रधानरूपेण धार्मिक एवं दार्शनिक विषयों से सम्बद्ध है, लेकिन उसके सम्यक् अनुशीलन और परिशीलन से सामाजिक प्रवृत्तियों एवं संस्थाओं के बारे में भी समुचित प्रकाश पड़ता है। प्रस्तुत निबंध में **'अपराजितपृच्छा'** नामक ग्रंथ के आधार पर तत्कालीन सामाजिक-जीवन का चित्रण प्रस्तुत करने का एक विनम्र प्रयत्न कर रहा हूँ। भुवनदेवकृत **अपराजितपृच्छा** वास्तुशास्त्र का एक ग्रंथ है। इस ग्रंथ का रचना काल बारहवीं शताब्दी ई. से तेरहवीं शताब्दी ई. के पूर्वार्द्ध के मध्य माना गया है।[1] इस ग्रंथ में प्राप्य राजकीय उपाधियों के आधार पर यह संभावना की गई है कि इसकी रचना गुजरात अथवा राजस्थान के क्षेत्र में की गई होगी।[2] इसीलिए यह भी कहा गया है कि ग्रंथ मुख्यरूप से तत्कालीन पश्चिम भारत के जन-जीवन के बारे में ही प्रधानरूपेण प्रकाश डालता है। इस ग्रंथ का सम्यक् अनुशीलन होना अभी शेष है। यद्यपि विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने विशिष्ट अनु-संधानों के सन्दर्भ में तथा शोध-प्रबंधों में इसके कतिपय पक्षों का विश्लेषण किया है।

विवेच्य ग्रंथ के रचनाकाल तक भारत के राजनीतिक जीवन में सामन्त प्रथा का लगभग पूर्ण विकास हो चुका था। भारत के इतिहास में सामन्तवाद के बारे में सर्वप्रथम उल्लेखनीय कार्य करने का श्रेय प्रोफेसर रामशरण शर्मा को है, जिन्होंने चतुर्थ शताब्दी ई. से बारहवीं शताब्दी ई. के मध्य उत्तर भारत में सामन्त प्रथा का अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण विश्लेषण अपने ग्रंथ **इन्डियन फ्यूडलिज्म** : ३००–१२०० ई. (कलकत्ता १९६५) में किया है। प्रोफेसर शर्मा की विचार पद्धति समकालीन रूसी विद्वान् एल. बी. ए. अलायेफ से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। प्रोफेसर दीनेश चन्द्र

---

१. मांकड़, पी. ए. **अपराजितपृच्छा की भूमिका**, बड़ौदा (१९५०) : XI

२. अग्रवाल, वासुदेवशरण, ''इन्ट्रोडक्शन टु अपराजितपृच्छा''
जर्नल ऑव यू.पी. हिस्टारिकल सोसाइटी, वाल्यूम XXIV-XXV (1950-51) p. 290

सरकार की अध्यक्षता में लगभग इसी समय कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास विभाग के उच्च शोध संस्थान में 'प्राचीन भारत में सामन्तवाद' विषय पर एक गोष्ठी (सेमिनार) का आयोजन किया गया। इस गोष्ठी की कार्यवाही का प्रकाशन डा. दीनेश चन्द्र सरकार के सम्पादन में **लैण्ड सिस्टम एन्ड फ्यूडलिज्म इन एंश्येन्ट इंडिया** (कलकत्ता, १९६६) नाम से किया गया है। इस ग्रंथ के विद्वान् सम्पादक सरकार भारत में सामंतवाद का अस्तित्व नहीं मानते हैं।[3]

सामन्त-प्रणाली एवं जाति प्रथा—अपराजितपृच्छा में सामन्त प्रणाली के बारे में अपेक्षाकृत एक विस्तृत झलक देखने को मिलती है तथा इसका प्रभाव तत्कालीन वैचारिक जगत में अन्य क्षेत्रों में भी देखने को मिलता है। लेकिन **अपराजितपृच्छा** में प्राप्त साक्ष्यों के विवेचन के पूर्व 'सामन्त' शब्द के बारे में किंचित् विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा। कौटिल्य ने अपने **अर्थशास्त्र** में सामन्त शब्द का व्यवहार पड़ोसी राजा के अर्थ में किया है।[४] अशोक के कतिपय शिलाप्रज्ञापनों में भी इस शब्द का इसी उपर्युक्त अर्थ में प्रयोग किया गया है; उदाहरणार्थ कालसी (2·5), धौली (2·2) तथा जौगड़ा (2·2) शिलाप्रज्ञापनों में।[५] मनु एवं याज्ञवल्क्य की स्मृतियों में इस शब्द का प्रयोग एक भिन्न-अर्थ में किया गया है। यहाँ पर सामंत शब्द समीपस्थ भूस्वामी के अर्थ में आया है।[६] स्मृतियों के टीकाकारों ने भी सामंत शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग किया है। अश्वघोष के बुद्धचरित में इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग अधीनस्थ करद शासक के अर्थ में मिलता है। साहित्यिक एवं अभिलेखीय साक्ष्यों के समवेत प्रमाणों से यही प्रतीत होता है कि गुप्तकाल (२५० ई. से ५५० ई.) और उसके उपरान्त इस शब्द का प्रयोग अधीनस्थ शासक के अर्थ में होने लगता है कालान्तर में इस शब्द का व्यापक अर्थ में प्रयोग तो सामन्त के अर्थ में ही होता रहा लेकिन संकुचित और विशिष्ट परिप्रेक्ष्य में इस शब्द का प्रयोग सामन्तों के वर्ग विशेष के अर्थ में होने लगा था।[७]

---

३. सरकार डी. सी. **लैण्ड सिस्टम एन्ड फ्यूडलिज्म इन एन्श्येन्ट इंडिया** (कलकत्ता 1966) पृ. 57–62 एवं 124–126 वे सामंतवाद शब्द के स्थान पर जमींदारी (लैण्डलॉडिज्म) शब्द के प्रयोग के पक्ष में है।

४. कांगले, **कौटिल्यीय अर्थशास्त्र** ए स्टडी, (भाग 111) बम्बई, 1965, पृ. 250.

५. पाण्डेय, राजबली, **अशोक के अभिलेख**।

६. शर्मा, रामशरण, पार्श्वोद्धरित, 1965 पृष्ठ 24।

७. अग्रवाल वासुदेवशरण, **हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन** (पटना, 1953) परिशिष्ट सं० २।

अपराजित पृच्छा में सामन्तों का वर्गीकरण इस प्रकार मिलता है[८]—

पद नाम	ग्रामसंख्या
१. महामंडलेश्वर	१,००,०००
२. माण्डलिक	५०,०००
३. महासामन्त	२०,०००
४. सामन्त	१०,०००
५. लघु सामन्त	५,०००
६. चतुरंशिक	१,०००

इसके पश्चात् ५०, ३०, ३, २ तथा एक ग्राम वाले सामन्तों का स्थान था। सरसरी तौर पर देखने से तो यह क्रम विभाजन एक सैद्धान्तिक विवेचन मात्र लगता है जिसकी वास्तविकता से कोई सरोकार नहीं था। लेकिन विचारणीय बात यह है कि **अपराजितपृच्छा** वास्तुशास्त्र से सम्बद्ध एक कृति है। उसमें वर्णित स्थिति यथार्थ के अत्यन्त निकट मानी जा सकती है।

सामन्तवादी प्रवृत्ति का परोक्ष रूप से प्रभाव सामाजिक जीवन पर भी परि-लक्षित होता है। अश्वलक्षण शालानामाशीतितं सूत्र में (८० : ७–१३ श्लोक) अश्वों का वर्गीकरण चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के आधार पर किया गया है।[९]

इस दृष्टि से यह वर्गीकरण अनोखा कहा जा सकता है, क्योंकि अन्यत्र मानवीय गुणों का आरोपण पशुओं पर नहीं किया गया है। प्रत्युत पशुओं के शारी-रिक सौष्ठव का उपयोग मनुष्यों के शारीर-गठन के प्रसंग में अनेकशः हुआ है। अश्वों का वर्गीकरण विप्र, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र (विप्रक्षत्रियविट्शूद्राः) इन चार कोटियों में किया गया है।[१०] यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि ऐसा क्यों किया गया है? अथवा क्या वर्ण व्यवस्था ने समाज के हर क्षेत्र को इतनी बुरी तरह से जकड़ लिया था कि भुवनदेव जैसे कृती एवं सूरि ने भी अनजाने ही इसी शब्दावली का प्रयोग किया है? क्या समाज के विचारवान् और चिंतनशील लोग वर्ण व्यवस्था के

---

८. यादव, बृजनाथ सिंह **सोसाइटी एन्ड कल्चर इन नादर्न इंडिया** (इलाहाबाद १९७३) पृ० १४९ एवं १५१।

९. मांकड़ पी० ए० पार्श्वोद्धरित (१९५०) पृ० २०१।

१०. अपराजितपृच्छा (सं. मांकड) (बड़ौदा १९५०) पृ० २०१ सूत्र ८०; श्लोक १४।

प्रति अपनी स्वीकृति का प्रकाशन कर रहे थे? कारण जो भी रहे हों, इस साक्ष्य का किंचित् उल्लेख असंगत न होगा। विप्रजाति अश्व उसे कहा है जो अत्यन्त द्रुतगामी, स्वामी या सवार के सवारी करने पर प्रसन्न होने वाला तथा प्रज्ञाचक्षु हो।[११] क्षत्रिय संज्ञक अश्व को अत्यन्त संवेदनशील, सवार को पहचानने वाला तथा अन्य व्यक्ति को लंगी मार कर गिरा देने वाला, संग्रामदुर्भर तथा कामातुर एवं शूर कहा गया है।[१२] स्थिरासन, स्थिरकाय तथा मधुर शब्द करने वाले अश्व को वैश्य संज्ञा दी गई है।[१३] शूद्र संज्ञक अश्व को निकृष्ट कोटि का माना गया है। जो जलाशय में प्रवेश करने से डरता हो, कर्कश स्वर में हिनहिनता हो, एवं क्षणातुर एवं क्षणभर में स्वस्थ होने वाला हो।[१४] इन चारों वर्गों में भिन्न गुणों अश्वों को प्रकृति जातक[१५] कहा गया है।

अपराजितपृच्छा में चित्रित सामाजिक स्थिति के विभिन्न पक्षों का अध्ययन गम्भीर अनुसन्धान की अपेक्षा रखता है। आशा करनी चाहिए कि भविष्य में विद्वान् अनुसन्धित्सुओं का ध्यान इस ओर अवश्य जायेगा।

प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश

११. अपराजितपृच्छा—पार्श्वोद्धरित सूत्र ८०; श्लोक संख्या ४–६।
१२. अपराजितपृच्छा, सूत्र ८०; श्लोक ७–८, १३. वही, सूत्र ८०; श्लोक ९–११।
१४. वही, सूत्र ८०; श्लोक ११–१३, १५. वही, सूत्र ८०; श्लोक १३–१४।

जैन पुराणों में वर्णित प्राचीन भारतीय आभूषण

डॉ. देवीप्रसाद मिश्र

पुराण भारतीय सांस्कृतिक इतिहास के अजस्र स्रोत हैं। वस्तुतः पुराणों को "भारतीय संस्कृति के विश्वकोश" की संज्ञा दी जा सकती है। पुराण साहित्य भारतीय संस्कृति की वैदिक और जैन धाराओं में समान रूप से उपलब्ध होता है। "इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृह्येत्" की प्रेरणा से जहाँ वैदिक परम्पराओं में अष्टादश तथा अनेक उपपुराणों की रचना हुई, वहीं जैन परम्परा में तिरसठ शलाका महापुरुषों के जीवन चरित को आधार बनाकर अनेक पुराण लिखे गये।

जैन पुराणों की रचना प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत तथा विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं में हुई है। अष्टादश पुराणों की तरह यहाँ पुराणों की संख्या सीमित नहीं की गई है। इस कारण शताधिक संख्या में जैन पुराण लिखे गये।

जैन पुराणकारों ने प्रायः किसी एक या अधिक शलाका-पुरुषों के चरित्र को आधार बनाकर अपने ग्रन्थ की रचना की, साथ ही उन्होंने पारम्परिक पुराणों की तरह भारत के सांस्कृतिक इतिहास की बहुमूल्य सामग्री को अपने ग्रन्थों में निबद्ध किया है। इस दृष्टि से जैन पुराण भारतीय संस्कृति की अमूल्य निधि हैं।

जैनपुराणों के उद्भव एवं विकास में तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक परिस्थितियाँ क्रियाशील थीं। पारम्परिक पुराणों के आधार पर जैनियों ने रामायण, महाभारत के पात्रों एवं कथाओं से अपने पुराणों की रचना की और उसमें जैन सिद्धान्तों, धार्मिक एवं दार्शनिक तत्त्वों तथा विधियों का समावेश किया है।

जैनपुराणों का रचनाकाल ज्ञात है। ये ग्रन्थ छठी शती ई. से अट्ठारहवीं शती ई. तक विभिन्न भाषाओं में लिखे गये। प्रारम्भिक एवं आधारभूत जैनपुराणों का समय सातवीं शती ई. से दशवीं शती ई. के मध्य है। संस्कृत में विरचित जैनपुराणों में अधोलिखित आभूषणों के बारे में साक्ष्य मिलते हैं।

आभूषण धारण करना भी वस्त्र के समान समृद्धि एवं सुखी जीवन का परिचायक है। इसके अतिरिक्त वस्त्राभूषण से संस्कृति भी प्रभावित होती है। सिकदार

के अनुसार वस्त्र निर्माण कला के आविष्कार के साथ-साथ आभूषण का भी प्रयोग भारतीय सभ्यता के विकास के साथ प्रारम्भ हुआ।[1] जैनपुराणों में शारीरिक सौन्दर्य की अभिवृद्धि के लिए आभूषण की उपादेयता प्रतिपादित की गई है। महापुराण में उल्लिखित है कि कुलवती नारियाँ अलंकार धारण करती थी[2], किन्तु विधवा स्त्रियाँ आभूषणों का परित्याग कर देती थीं।[3] इसी ग्रन्थ में आभूषण से अलंकृत होने के लिए अलंकार-गृह[4] और श्रीगृह[5] का वर्णन है। महापुराण में ही वर्णित है कि नूपुर, बाजूबन्द, रुचिक, अंगद (अनन्त), करधनी, हार एवं मुकुटादि आभूषण भूषणाङ्ग नाम के कल्पवृक्ष द्वारा उपलब्ध होते थे।[6] प्राचीनकाल में आभूषण एवं प्रसाधन-सामग्री वृक्षों से प्राप्त होने के उल्लेख मिलते हैं। शकुन्तला की विदाई के शुभावसर पर वृक्षों ने उसके लिए वस्त्र, आभूषण एवं प्रसाधन सामग्री प्रदान की थी।[7]

आभूषण बनाने के उपादान

जैनपुराणों में आपाद-मस्तक आभूषणों के उल्लेख एवं विवरण प्राप्त होते हैं। यह विवरण पारम्परिक वर्णक, समसामयिक तथा काल्पनिक तीनों प्रकार का है। जैन पुराणों में वर्णित है कि आभूषण का निर्माण मणियों, स्वर्ण, रजत आदि से होता था। महापुराण में उल्लिखित है कि अग्नि में स्वर्ण को तपाकर शुद्ध किया जाता था और इससे आभूषण को बनाते थे।[8] रत्नजटित स्वर्णाभूषण को रत्नाभूषण कहते हैं। समुद्र में महामणि के बढ़ने का भी उल्लेख मिलता है।[9] जैनपुराणों में विभिन्न प्रकार की मणियों का वर्णन है जो निम्नलिखित हैं—चन्द्रकान्तमणि[10], सूर्यकान्तमणि,[11] हीरा[12], वैदूर्यमणि[13], कौस्तुभमणि[14], मोती[15], वज्र (हीरा)[16], इन्द्रमणि[17], (इन्द्रनील मणि) इसके दो भेद होते हैं—महाइन्द्रमणि (हल्के गहरे नीले रंग की तथा इन्द्रनीलमणि[18] (हल्के नीले रंग की); प्रवाल[19], गोमुख मणि[20], मुक्ता[21], स्फटिक

---

१. जे. सी. सिकदार—स्टडीज इन द भगवती-सूत्र, मुजफ्फरपुर १९६४, पृ. २४१।
२. महा, ६२।२९। ३. वही, ६८।२२५। ४. वही, ६३।४६१।
५. वही, ६३।४५८। ६. महा, ९।४१। ७. अभिज्ञानशाकुन्तल, ४।५।
८. महा, ६१।१२४। ९. वही, ६३।४१५। १०. हरिवंश, २।७।
११. वही, २।८। १२. वही, २।१०। १३. वही, २।१०।
१४. वही, ६२।५४। १५. वही, २।१०, महा ६८।६७६।
१६. पद्म, ८०।७५, महा ३५।४२। १७. महा, ५८।८६, पद्म, ८०।७५, हरिवंश, ७।७२।
१८. हरिवंश, २।५४। १९. महा, १२।४४, ३५।२३४। २०. वही, १४।१४।
२१. वही, ७।२३१, १५।८१; हरिवंश, ७।७३।

मणि[२२], मरकत मणि[२३], पद्मरागमणि[२४], जातञ्जन[२५](कृष्णमणि), पद्मराग[६] (कालमणि), हैम[२७](पीतमणि) आदि आभूषण बनाने के लिए उक्त मणियों का प्रयोग करते थे।

आभूषणों के प्रकार एवं स्वरूप

नर-नारी दोनों ही आभूषण-प्रेमी होते थे। इनके आभूषणों में प्रायः साम्यता है। कुण्डल, हार, अंगद, वलय, मुद्रिकादि आभूषण स्त्री-पुरुष दोनों ही धारण करते थे। शिखामणि, किरीट एवं मुकुट पुरुषों के प्रमुख आभूषण थे। शरीर के अंगानुसार पृथक्-पृथक् आभूषण धारण किया करते थे। इनका विस्तृत विवरण निम्न प्रकार है—

(अ) शिरोभूषण—सिर को विभूषित करने वाले आभरणों में प्रमुख मुकुट, किरीट, सीमन्तकमणि, छत्र, शेखर, चूणामणि, पट्ट आदि हैं। महापुराण के अनुसार सिन्दूर से तिलक भी लगाते थे।[२८]

१. किरीट—[२९]चक्रवर्ती एवं बड़े सम्राट् ही इसको धारण करते थे। इसका निर्माण स्वर्ण से होता था। यह प्रभावशाली सम्राटों की महत्ता का सूचक था।

२. किरीटी[३०]—महापुराण में इसका वर्णन है। स्वर्ण और मणियों द्वारा किरीटी निर्मित होती थी। किरीट से यह छोटा होता था। स्त्री-पुरुष दोनों ही इसको धारण करते थे।

३. चूड़ामणि[३१]—पद्मपुराण में चूड़ामणि के लिए मूर्ध्निरत्न का प्रयोग मिलता है[३२]। राजाओं एवं सामन्तों द्वारा इसका प्रयोग किया जाता था। चूड़ामणि के मध्य में मणि का होना अनिवार्य था। महापुराण में चूड़ामणि के साथ चूड़ारत्न भी व्यवहृत हुआ है।[३३] इन दोनों में अलंकरण की दृष्टि से साम्यता थी किन्तु भेद मात्र

---

२२. वही, १३।१५४, पद्म, ८०।७५। २३. वही, १३।१३८; हरिवंश, २।१०।
२४. वही, १३।१३६, वही २।९। २५. हरिवंश, ७।७।
२६. हरिवंश, ७।७२। २७. वही, ७।७२। २८. महा, ६८।२०५।
२९. वही, ६८।६५०; ११।१३३; पद्म, ११८।४७; तुलनीय--रघुवंश, १०।७५।
३०. वही, ३।७८। ३१. पद्म, ३६।७; महा, १।४४, ४।९४, १४।८, हरिवंश, ११।१३।
३२. वही, ७१।६५।
३३. महा, २९।१६७; तुलनीय कुमारसम्भव, ६।८१; रघुवंश, १७।२८।

नाम का है। साधारणतया दोनों शब्द पर्यायवाची हैं। यह सिर में पहनने का गहना था।

४. मुकुट[३४]—राजा और सामन्त दोनों के ही सिर का आभूषण था। किरीट की अपेक्षा इसका मूल्य कम होता था। तीर्थंकरों के मुकुट धारण करने का उल्लेख जैनग्रन्थों में मिलता है। राजाओं के पंच चिह्नों में से यह भी था। निःसंदेह ही मुकुट का प्राचीनकाल में महत्त्व अत्यधिक था। विशेषतः इसका प्रचलन राजपरिवारों में था।

५. मौलि[३५]—डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार केशों के ऊपर के गोल स्वर्णपट्ट को मौलि कहते हैं।[३६] रत्न-किरणों से जगमगाने वाले, स्वर्णसूत्र में परि-वेष्टित एवं मालाओं से युक्त मौलि का उल्लेख पद्मपुराण में उपलब्ध है। किरीट से इसका स्थान नीचा प्रतीत होता है, किन्तु सिर के अलंकारों में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान था।

६. सीमान्तक मणि[३७]—स्त्रियाँ अपनी माँग में इसको धारण करती थीं। आज भी इसका प्रचलन माँग-टीका के नाम से है।

७. उत्तंस[३८]—किरीट एवं मुकुट से भी यह उत्तम कोटि का होता था। तीर्थंकर इसको धारण किया करते थे। सभी प्रकार के मुकुटों से इसमें सुन्दरता अधिक होती थी। इसका प्रयोग विशेषतः धार्मिक नेता ही करते थे। इसका आकार किरीट एवं मुकुट से लघु होता था, परन्तु मूल्य इनसे अधिक होता था।

८. कुन्तली[३९]—किरीट के साथ ही इसका उल्लेख मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि कुन्तली आकार में किरीट से बड़ी होती थी। कलगी के रूप में इसको केश में लगाते थे। किरीट के साथ ही इसको भी धारण किया जाता था। इसका प्रयोग स्त्री-पुरुष दोनों ही किया करते थे। जनसाधारण में इसका प्रचलन नहीं था। इसके धारण करने वालों के व्यक्तित्व में कई गुनी वृद्धि हो जाती थी। अपनी समृद्धि एवं प्रभुता के प्रदर्शनार्थ स्त्रियाँ इसको धारण करती थीं।

---

३४. वही, ३।९१, ३।१३०, ५।४; ९।४१, १०।१२६; पद्म, ८५।१०७, हरिवंश, ४१।३६ तुलनीय—रघुवंश, ९।१३।

३५. पद्म, ७१।७, ११।३२७; महा, ९।१८९; तुलनीय—रघुवंश, १३।५९।

३६. वासुदेवशरण अग्रवाल—हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. २१९।

३७. पद्म, ८।७०। ३८. महा, १४।७। ३९. वही, ३।७८।

९. पट्ट[४०]—बृहत्संहिता[४१] में बराहमिहिर ने पट्ट का स्वर्ण-निर्मित होना उल्लेख किया है। इसी स्थल पर इसके निम्नलिखित पाँच प्रकारों का भी वर्णन है—१. राजपट्ट (तीन शिखाएँ), २. महिषीपट्ट (तीन शिखाएँ), ३. युवराजपट्ट (तीन शिखाएँ), ४. सेनापतिपट्ट (एक शिखा), ५. प्रसादपट्ट (शिखा विहीन)। शिखा से तात्पर्य कलगी से है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि यह स्वर्ण का ही होता था और पगड़ी के ऊपर इसको बाँधा जाता था[४२]। आजकल भी विवाह के शुभावसरों पर पगड़ी के ऊपर पट्ट (कलगी) बाँधते हैं।

(ब) कर्णाभूषण—कानों में आभूषण धारण करने का प्रचलन प्राचीनकाल से चला आ रहा है। स्त्री-पुरुष दोनों के ही कानों में छिद्र होते थे और इसको दोनों धारण करते थे। कुण्डल, अवतंस, तालपत्रिका, बालियाँ आदि कर्णाभूषण में परिगणित होते हैं। इसके लिए कर्णाभूषण[४३] एवं कर्णाभरण[४४] शब्द प्रयुक्त हैं।

१. कुण्डल[४५]—यह कानों में धारण किया जाने वाला सामान्य आभूषण था। अमरकोश के अनुसार कानों को लपेटकर इसको धारण करते थे[४६]। महापुराण में वर्णित है कि कुण्डल कपोल तक लटकते थे[४७]। पद्मपुराण में उल्लिखित है कि शरीर के मात्र हिलने से कुण्डल भी हिलने लगता था[४८]। रत्न या मणि जटित होने के कारण कुण्डल के अनेक नाम भेद जैन पुराणों में मिलते हैं—मणिकुण्डल, रत्नकुण्डल, मकराकृतकुण्डल, कुण्डली, मकरांकित कुण्डल[४९]। इसका उल्लेख समराइच्चकहा[५०], यशस्तिलक[५१], अजन्ता की चित्र-कला[५२] तथा हम्मीर महाकाव्य[५३] में भी उपलब्ध है।

---

४०. महा, १६।२३३; ४१. बृहत्संहिता, ४८।२४।

४२. नेमिचन्द्र शास्त्री—आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० २१०।

४३. पद्म, ३।१०२; ४४. वही, १०३।९४।

४५. पद्म, ११८।४७; महा, ३।७८, १५।१८९, १६।३३; ३३।१२४; ७२।१०७, हरिवंश, ७।८९। ४६. कुण्डलम् कर्णवेष्टनम्।–अमरकोष, २.६.१०३।

४७. रत्नकुण्डलयुग्मेन गण्डपर्यन्तचुम्बिना।—महा, १५।१८९।

४८. चंचलो मणिकुण्डलः।—पद्म, ७१।१३।

४९. महा, ३।७८, ३।१०२, ४।१७७, १६।१३३, ९।१९०; ३३।१२४।

५०. समराइच्चकहा, २, पृ० १००; ५१. यशस्तिलक, पृ० ३६७।

५२. वासुदेवशरण अग्रवाल—हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, फलक २०, चित्र ७८।

५३. दशरथ शर्मा—अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० २६३।

२. **अवतंस**[५४]–पद्मपुराण में इसे चंचल (चंचलावतंसक) वर्णित किया गया है। अधिकांशतः यह पुष्प एवं कोमल पत्तों से निर्मित किया जाता था। बाण भट्ट ने हर्ष-चरित में कान के दो अलंकार अवतंस (जो प्रायः पुष्पों से निर्मित किया जाता था) एवं कुण्डल का उल्लेख किया है[५५]।

३. **तालपत्रिका**[५६]—कान में धारण करने का आभूषण होता था। इसे पुरुष अपने एक कान में धारण करते थे। इसको महाकान्ति वाली वर्णित किया गया है।

४. **बालिक**[५७]—स्त्रियाँ अपने कानों में बालियाँ धारण करती थीं। सम्भवतः ये पुष्प-निर्मित होती थीं।

(स) कण्ठाभूषण—स्त्री-पुरुष दोनों ही कण्ठाभरण का प्रयोग करते थे। इसके निर्माण में मुक्ता और स्वर्ण का ही प्रयोग होता था। इससे भारतीय आर्थिक समृद्धि की सूचना मिलती थी और यह भारतीय स्वर्णकारों की शिल्प कुशलता का भी परिचायक था। इस प्रकार के आभूषणों में यष्टि, हार तथा रत्नावली आदि प्रमुख हैं।

१. **यष्टि (मौली)**—इस आभूषण के पाँच प्रकार—१. शीर्षक, २. उपशीर्षक, ३. प्रकाण्ड, ४. अवघाटक और ५. तरल प्रबन्ध महापुराण में वर्णित हैं[५८]।

i. **शीर्षक**–जिसके मध्य में एक स्थूल मोती होता है उसे शीर्षक कहते हैं[५९]।

ii. **उपशीर्षक**—जिसके मध्य में क्रमानुसार बढ़ते हुए आकार के क्रमशः तीन मोती होते हैं वह उपशीर्षक कहलाता है[६०]।

iii. **प्रकाण्ड**—वह प्रकाण्ड कहलाता है जिसके मध्य में क्रमानुसार बढ़ते हुए आकार के क्रमशः पाँच मोती लगे हों[६१]।

iv. **अवघाटक**—जिसके मध्य में एक बड़ा मणि लगा हो और उसके दोनों ओर क्रमानुसार घटते हुए आकार के छोटे-छोटे मोती हों, उसे अवघाटक कहते हैं[६२]।

---

५४. पद्म, ३।३, ७१।६; तुलनीय रघुवंश, १३।४९।

५५. वासुदेवशरण अग्रवाल—वही, पृ० १४७।

५६. पद्म, ७१।१२। ५७. वही, ८।७१। ५८. महा, १६।४७।

५९. महा, १६।५२। ६०. महा, १६।५२।

६१. महा, १६।५३। ६२. महा, १६।५३।

v. **तरलप्रबन्ध**—जिसमें सर्वत्र एक समान मोती लगे हुए हों, वह तरल प्रबन्ध कहलाता है[६३]।

उपर्युक्त पाँचों प्रकार की यष्टियों के मणिमध्या तथा शुद्धा भेदानुसार दो विभेद और मिलते हैं[६४]।

(क) मणिमध्या यष्टि—जिसके मध्य में मणि प्रयुक्त हुई हो। उसे मणिमध्या यष्टि कहते हैं। मणिमध्या यष्टि को सूत्र और एकावली भी कहते हैं। यदि मणि-मध्या यष्टि विभिन्न प्रकार की मणियों से निर्मित की गई हो तो यह रत्नावली कहलाती है। जिस मणिमध्या यष्टि को किसी निश्चित प्रमाण वाले सुवर्ण, मणि-माणिक्य और मोतियों के मध्य अन्तर देकर गूँथा जाता है उसको अपवर्तिका कहते हैं[६५]। अमरकोष में मोतियों की एक ही माला को एकावली की संज्ञा दी गई है[६६]। सफेद मोती को मणिमध्या के रूप में लगाकर एकावली बनाने का उल्लेख मिलता है[६७]।

(ख) शुद्धा यष्टि—जिस यष्टि के मध्य में मणि नहीं लगाई जाती है, उसे शुद्धा यष्टि कहते हैं[६८]।

२. हार[६९]—महापुराण के अनुसार हार लड़ियों के समूह को कहते हैं[७०]। हार में स्वच्छ रत्न का प्रयोग करते थे और ये कान्तिमान् होते थे। माला भी हार कहलाती है। मुक्ता-निर्मित माला मुक्ताहार कहलाती थी। हार मोती या रत्न से गुंथित किये जाते थे। लड़ियों की संख्या के न्यूनाधिक होने से हार के ग्यारह प्रकार होते थे[७१]।

१. इन्द्रच्छन्द हार—जिसमें १००८ लड़ियाँ होती थीं, उसे इन्द्रच्छन्द हार कहते थे। यह हार सर्वोत्कृष्ट होता था। इस हार को इन्द्र, जिनेन्द्र देव एवं चक्रवर्ती सम्राट् ही धारण करते थे[७२]।

---

६३. महा, १६।५४।

६४. महा, १६।४९।

६५. महा, १६।५०–५१।

६६. अमरकोष, २.६, १०६।

६७. वही, २१६।१५५।

६८. महा, १६।४९।

६९. पद्म, ३।२७७, ७१।२, ८५।१०७, ८८।३१, १०३।९४; महा, ३।२७, ३।१५६, १६।५८, ६३।४३४; हरिवंश, ७।८७।

७०. हारो यष्टिकलापः स्यात्।—महा १६।५५।

७१. महा, १६।५५।

७२. महा, १६।५६।

२. विजयच्छन्द हार—जिसमें ५०४ लड़ियाँ होती थीं उसे विजयच्छन्द हार की संज्ञा दी जाती थी। इस हार का प्रयोग अर्धचक्रवर्ती और बलभद्र आदि पुरुषों द्वारा किया जाता था[७३]। सौन्दर्य की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण हार होता था।

३. हार—जिस हार में १०८ लड़ियाँ होती थीं, वह हार कहलाता था[७४]।

४. देवच्छन्द हार—वह हार होता था, जिसमें मोतियों की ८१ लड़ियाँ होती थीं[७५]।

५. अर्द्धहार—चौसठ लड़ियों के समूह वाले हार को अर्द्धहार की संज्ञा दी गई है[७६]।

६. रश्मिकलाप हार—इसमें ५४ लड़ियाँ होती थी एवं इसकी मोतियों से अपूर्व आभा निःसरित होती थी। अतः यह नाम सार्थक प्रतीत होता है[७७]।

७. गुच्छहार—बत्तीस लड़ियों के समूह को गुच्छहार कहा गया है[७८]।

८. नक्षत्रमाला हार—सत्ताइस लड़ियों वाले मौक्तिक हार को नक्षत्रमाला हार कहते हैं। इस हार के मोती अश्वनी, भरणी आदि नक्षत्रावली की शोभा का उपहास करते थे[७९]। इस हार की आकृति भी नक्षत्रमाला के सदृश होती थी।

९. अर्द्धगुच्छ हार मुक्ता की चौबीस लड़ियों का हार अर्द्धगुच्छ-हार कहलाता था[८०]।

१०. माणव हार—इस हार में मोती की बीस लड़ियाँ होती थीं।[८१]

११. अर्द्धमाणव हार—वह हार अर्द्धमाणव कहलाता था, जिसमें मुक्ता की दस लड़ियाँ होती थीं[८२]। यदि अर्द्धमाणव हार के मध्य में मणि लगा हो तो उसे फलक हार कहते थे। रत्नजटित स्वर्ण के पाँच फलक वाला फलकहार ही मणि-सोपान कहलाता था। यदि फलकहार में मात्र तीन स्वर्णफलक होते थे तो वह सोपान होता था[८३]।

---

७३. महा, १६।५७।

७४. महा, १६।५८, हरिवंश, ७।८९।

७५. महा, १५।५८।

७६. महा, १६।५८।

७७. महा, १५।५९।

७८. महा, १६।५९।

७९. महा, १६।६०।

८०. महा, १६।६१।

८१. विंशत्या माणवाह्वयः।—महा, १६।६१।

८२. भवेन्मौक्तियष्टीनां तदर्द्धेनार्द्धमाणवः।—महा, १६।६१।

८३. महा, १६।६५-६६।

यदि हार के इन ग्यारह भेदों में प्रत्येक भेद के साथ यष्टि के पाँच प्रकार—शीर्षक, उपशीर्षक, अवघाटक, प्रकाण्ड एवं तरल प्रबन्ध को भी सम्मिलित कर लिया जाय तो इसके ५५ उप-भेद हो जाते हैं। इनके निम्नांकित नाम हैं—

१. शीर्षक इन्द्रच्छन्द, २. शीर्षक विजयच्छन्द, ३. शीर्षक हार, ४. शीर्षक देवच्छन्द, ५. शीर्षक अर्द्धहार, ६. शीर्षक रश्मिकलाप, ७. शीर्षक गुच्छ, ८. शीर्षक नक्षत्रमाला, ९. शीर्षक अर्द्धगुच्छ, १०. शीर्षक माणव, ११. शीर्षक अर्द्धमाणव, १२. उप-शीर्षक इन्द्रच्छन्द, १३. उपशीर्षक विजयच्छन्द, १४. उप-शीर्षक हार, १५. उप-शीर्षक गुच्छ, १६. उप-शीर्षक नक्षत्र माला, १७. उप-शीर्षक देवच्छन्द १८. उप-शीर्षक अर्द्धहार, १९. उप-शीर्षक रश्मिकलाप, २०. उप-शीर्षक अर्द्धगुच्छ, २१. उप-शीर्षक माणव, २२. उप-शीर्षक अर्द्धमाणव, २३. अवघाटक इन्द्रच्छन्द, २४. अवघाटक विजयच्छन्द, २५. अवघाटक हार, २६. अवघाटक देवच्छन्द, २७. अवघाटक अर्द्धहार, २८. अवघाटक रश्मिकलाप, २९. अवघाटक गुच्छ, ३०. अवघाटक नक्षत्रमाला, ३१. अवघाटक अर्द्ध-गुच्छ, ३२. अवघाटक माणव, ३३. अवघाटक अर्द्धमाणव, ३४. प्रकाण्डक इन्द्रच्छन्द, ३५. प्रकाण्डक विजयच्छन्द, ३६. प्रकाण्डक हार, ३७. प्रकाण्डक देवच्छन्द, ३८. प्रकाण्डक अर्द्धहार, ३९. प्रकाण्डक रश्मिकलाप, ४०. प्रकाण्डक गुच्छ, ४१. प्रकाण्डक नक्षत्रमाला, ४२. प्रकाण्डक अर्द्धगुच्छ, ४३. प्रकाण्डक माणवक, ४४. प्रकाण्डक अर्द्धमाणव, ४५. तरल प्रबन्ध इन्द्रच्छन्द, ४६. तरल प्रबन्ध विजयच्छन्द, ४७. तरल प्रबन्ध हार, ४८. तरल प्रबन्ध देवच्छन्द, ४९. तरल प्रबन्ध अर्द्धहार ५०. तरल प्रबन्ध रश्मिकलाप, ५१. तरल प्रबन्ध गुच्छ, ५२. तरल प्रबन्ध नक्षत्रमाला, ५३. तरल प्रबन्ध अर्द्धगुच्छ, ५४. तरल प्रबन्ध माणव, ५५. तरल प्रबन्ध अर्द्धमाणव[८४]।

डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री के अनुसार, १. इन्द्रच्छन्द, २. विजयच्छन्द, ३. देवच्छन्द, ४. रश्मिकलाप, ५. गुच्छ, ६. नक्षत्रमाला, ७. अर्द्धगुच्छ, ८. माणव, ९. अर्द्धमाणव, १० इन्द्रच्छन्द माणव, ११. विजयच्छन्द माणव आदि यष्टि के ग्यारह भेद हैं। इन्हें शीर्षक, उप-शीर्षक, अवघाटक, प्रकाण्डक तथा तरल प्रबन्ध आदि भेदों में विभक्त करने पर इनकी संख्या ५५ होती है[८५]। डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री का मत संगत नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि उपर्युक्त ग्यारह कथित भेद यष्टि के नहीं, बल्कि हार के हैं। महापुराण में हार के ग्यारह भेद निम्नलिखित हैं—१. इन्द्रच्छन्द, २. विजयच्छन्द,

---

८४. महा, १६।६३-६४। ८५. नेमिचन्द्र शास्त्री—आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० २१६।

३. हार, ४. देवच्छन्द, ५. अर्द्धहार, ६. रश्मिकलाप, ७. गुच्छ, ८. नक्षत्रमाला, ९. अर्द्धगुच्छ, १०. माणव, ११. अर्द्धमाणव[८६]। महापुराण में वर्णित है कि इन्द्रच्छन्द आदि हारों के मध्य में जब मणि लगी होती है तब उनके नामों के साथ माणव शब्द संयुक्त हो जाता है। इस प्रकार इनके नाम इन्द्रच्छन्द माणव, विजयच्छन्द माणव, हारमाणव, देवच्छन्द माणव आदि हो जाते हैं[८७]। उपर्युक्त पुराण के अनुसार ये सभी हार की कोटि में आते हैं। किन्तु नेमिचन्द्र शास्त्री ने इसी इन्द्रच्छन्द माणव और विजयच्छन्द माणव की परिगणना यष्टि के ग्यारह भेदों के अन्तर्गत की है।

३. कण्ठ के अन्य आभूषण

गले में धारण करने वाले अन्य आभूषणों के निम्नांकित उल्लेख जैन-पुराणों में द्रष्टव्य हैं—कण्ठमालिका[८८] (स्त्री-पुरुष दोनों धारण करते थे), कण्ठाभरण[८९] (पुरुषों का आभूषण), स्रक्[९०] (फूल, स्वर्ण, मुक्ता एवं रत्न से निर्मित), काञ्चन सूत्र[९१] (सुवर्ण या रत्नयुक्त), ग्रैवेयक[९२], हारलता[९३], हारवल्ली[९४], हारवल्लरी[९५], मणिहार[९६], हाटक[९७], मुक्ताहार[९८], कण्ठिका[९९], कण्ठिकेवास[१००] (लाख की बनी हुई कण्ठी होती थी जिसकी परिगणना निम्न कोटि में होती थी) आदि।

(द) कराभूषण—हाथ में धारण करने वाले आभूषणों में अंगद, केयूर, वलय, कटक एवं मुद्रिका आदि प्रमुख हैं। स्त्री-पुरुष दोनों ही इन आभूषणों का प्रयोग करते थे। केवल इनमें यही अन्तर रहता था कि पुरुष वर्ग के आभूषण सादे और स्त्री वर्ग के आभूषणों में घुंघरू आदि लगे होते थे।

१. अंगद[१०१]—इसे भुजाओं पर बाँधा जाता था। इसको स्त्री-पुरुष दोनों बाँधते थे। अंगद के समान केयूर का प्रयोग जैन-ग्रन्थों में वर्णित है। अमरकोषकार ने अंगद और केयूर को एक-दूसरे का पर्याय माना है। क्षीरस्वामी ने केयूर और अंगद की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है कि 'के बाहूशीर्षे यौति केयूरम्' अर्थात् जो

---

८६. महा, १६।५५-६१। ८७. महा, १६।६२। ८८. महा, ६।८।
८९. वही, १५।१९३; हरिवंश, ४७।३८। ९०. पद्म, ३।२७७, ८८।३१।
९१. वही, ३३।१८३, महा, २९।१६७। ९२. महा, २९।१६७; हरिवंश, ११।३३।
९३. वही, १५।१९२। ९४. वही, १५।१९३। ९५. वही, १५।१९४।
९६. वही, १४।११। ९७. पद्म, १००।२५। ९८. महा, १५।८१।
९९. वही, ९।१०५। १००. वही, १।६९।
१०१. महा, ५।२५७, ९।४१, १४।१२, १५।१९९, हरिवंश, ११।१४।

भुजा के ऊपरी छोर को सुशोभित करे उसे केयूर कहते हैं और 'अंगं दयते अंगदम्' अर्थात् जो अंग को निपीड़ित करे वह अंगद होता है[१०२]।

२. केयूर[१०३]—स्त्री-पुरुष दोनों ही अपनी भुजाओं पर केयूर (अंगद या केयूर) धारण करते थे[१०४]। केयूर स्वर्ण एवं रजत के बनते थे। जिस पर लोग अपने स्तर के अनुसार मणियाँ भी जड़वाते थे। हेम केयूर का भी वर्णन कई स्थलों पर हुआ है। केयूर में नोक भी होती थी[१०५]। भर्तृहरि ने केयूर का प्रयोग पुरुषों के अलंकार के अन्तर्गत किया है[१०६]।

३. मुद्रिका—हाथ की अंगुली में धारण करने का आभूषण मुद्रिका है। इसका प्रयोग स्त्री-पुरुष समान रूप से करते हैं। प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में स्वर्ण-जटित, रत्नजटित, पशु-पक्षी, देवता-मनुष्य एवं नामोत्कीर्ण मुद्रिका का उल्लेख है[१०७]। पद्मपुराण में अंगूठी के लिए उर्मिका शब्द प्रयुक्त हुआ है[१०८]। त्रिषष्टि-शलाका पुरुषचरित में स्त्री के आभूषण के रूप में अंगूठी का वर्णन है[१०९]।

४. कटक[११०]—प्राचीन काल से हाथ में स्वर्ण, रजत, हाथी दाँत एवं शंख-निर्मित कटक धारण करने का प्रचलन था। इसका प्रयोग स्त्री-पुरुष दोनों ही करते थे। रत्नजटित चमकीले कड़े के लिए दिव्य कटक शब्द का प्रयोग महापुराण में हुआ है[१११]। हर्षचरित में कटक और केयूर दोनों का वर्णन आया है[११२]। वासुदेवशरण

---

१०२. द्रष्टव्य, गोकुलचन्द्र जैन—यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १४७।

१०३. महा. ६८।६५२, ३।१५७, ९।४१, १५।१९९, हरिवंश, ७।८९, पद्म ३।२, ३।१९०, ८।४१५, ११।३२८, ८५।१०७, ८८।३१ रघुवंश, ७.५०।

१०४. नरेन्द्र देव सिंह—भारतीय संस्कृति का इतिहास, पृ० ११५।

१०५. रघुवंश, ७।५०। १०६. भर्तृहरिशतक, २.१९।

१०७. हरिवंश, ४९।११, महा, ७।२३५, ४७।२१९, ५९।१६७, ६८।३६७।

१०८. पद्म, ३३।१३१, तुलनीय रघुवंश, ६-१८।

१०९. ए० के० मजूमदार—चालुक्याज ऑफ गुजरात, पृ० ३५९ पर उद्धृत।

११०. पद्म ३।३; हरिवंश, ११।११; महा, ७।२३५, १४।१२, १६।२३६, तुलनीय मालविकाग्निमित्रम्, अंक २, पृ० २८६।

१११. महा, २९।१६७।

११२. वासुदेवशरण अग्रवाल, हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १७६।

अग्रवाल ने कटक-कदम्ब (पैदल सिपाही) की व्याख्या में बताया है कि सम्भवतः कटक (कड़ा) धारण करने के कारण ही उन्हें कटक-कदम्ब कहा जाता था[११३]।

(य) कटि-आभूषण—कटि आभूषणों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। काञ्ची, मेखला, रसना, दाम, कटिसूत्र आदि की गणना कटि आभूषणों में होती है।[११४]

१. काञ्ची—जैन पुराणों में कटिवस्त्र से सटाकर धारण किए जाने वाले आभूषण हेतु काञ्ची शब्द का प्रयोग हुआ है। काञ्ची चौड़ी पट्टी की स्वर्ण-निर्मित होती थी। इसमें मणियों, रत्नों एवं घुँघरुओं का भी प्रयोग होता था[११५]।

२. मेखला[११६]—यह कटि में धारण किया जाने वाला आभूषण था। स्त्री-पुरुष दोनों मेखला धारण करते थे। इसकी चौड़ाई पतली होती थी। सादी कनक मेखला एवं रत्नजटित मेखला या मणि मेखला होती थी[११७]।

३. रसना[११८]—यह भी काञ्ची एवं मेखला की भाँति कमर में धारण करने का आभूषण था। रसना भी चौड़ाई में पतली होती थी। इसमें घुँघरू लगने के कारण ध्वनि होती है। अमरकोष में काञ्ची, मेखला एवं रसना पर्यायवाची अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। इनको स्त्रियाँ कटि में धारण करती थीं[११९]।

४. दाम—यह कमर में धारण करने का आभूषण था। दाम कई प्रकार के होते थे। काञ्चीदाम, मुक्तादाम, मेखलादाम एवं किंकिणीयुक्त मणिमयदाम आदि प्रमुख हैं[१२०]।

५. कटिसूत्र—इसको स्त्री-पुरुष दोनों कटि में धारण करते थे[१२१]।

---

११३. वही, पृ० १३१। ११४. अमरकोष २।६।१०८।

११५. पद्म, ८।७२, महा, ७।१२९, १२।१९, तुलनीय ऋतुसंहार, ६।७।

११६. पद्म, ७१।६५, महा, १५।२३, तुलनीय रघुवंश, १०.८; कुमारसम्भव, ८.२६।

११७. हरिवंश, २।३५।

११८. महा, १५।२०३, तुलनीय रघुवंश, ८.५८, उत्तरमेघ, ३, ऋतुसंहार, ३.३, कुमारसम्भव ७-६१।

११९. स्त्रीकट्यां मेखला काञ्ची सप्तकी रसना तथा।—अमरकोष २।६।१०८।

१२०. महा, ४।१८४, ८।१३, ११।१२१, १४।१३।

१२१. वही, १३।६९, १६।१९, हरिवंश, ७।८९, ११।१४।

(र) पादाभूषण—नूपुर, तुलाकोटि, गोमुख मणि आदि की गणना प्रमुख पादाभूषणों में होती थी। यह नारियों का आभूषण होता था।

१. नूपुर[१२२]—इस आभूषण को स्त्रियाँ पैरों में धारण करती थीं। नूपुर में घुंघरू लगने के कारण मधुर ध्वनि निकलती थी। मणिनूपुर, शिञ्जितनूपुर, भास्वत-कलानूपुर आदि चार प्रकार के नूपुरों का वर्णन मिलता है[१२३]।

२. तुलाकोटि[१२४]—तुला अर्थात् तराजू की डण्डी के सदृश आभूषण के दोनों किनारे किञ्चित् घनाकार होने के कारण ही इसका नाम तुलाकोटि पड़ा। इसका उल्लेख बाणभट्ट ने हर्षचरित में किया है[१२५]।

३. गोमुखमणि—इस प्रकार के मणियुक्त आभूषण को गोमुखमणि की संज्ञा प्रदान की गई है। इसका आकार गाय के मुख के समान होता था[१२६]।

प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद, उत्तर-प्रदेश।

---

१२२. हरिवंश, १४।१४, महा, ६।६३, १६।२३७, पद्म २७।३२, तुलनीय रघुवंश, १३.२३।
१२३. कुमारसम्भव, १.३४, ऋतुसंहार, ४.४, विक्रमोर्वशीयं, ३।१५।
१२४. महा, ९।४१; नेमिचन्द्र, आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० २२२।
१२५. द्रष्टव्य, गोकुलचन्द्र जैन—यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १५१।
१२६. महा, १४।१४।

जैनयोग, आधुनिक संत्रास एवं मनोविज्ञान

डॉ. मंगला

योग आध्यात्मिक विकास की प्रक्रिया है, जिसका मूल भारत के सुदूर इतिहास में छिपा हुआ है। जहाँ तक जैनयोग का सम्बन्ध है, पर्याप्त प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि उसके प्रारम्भ की नींव भगवान् महावीर से भी पूर्व ऋषभदेव के काल में निहित है।

जैन आगमों में योग पद मानसिक, वाचिक एवं शारीरिक क्रियाओं के लिए प्रयुक्त हुआ है,[1] ये वे क्रियाएँ हैं, जो एक प्रकार से बंधन का ही कारण हैं। स्पष्ट है कि यह अर्थ योग के प्रचलित अर्थ से एवं पातंजलयोग के अर्थ से अत्यन्त भिन्न है; क्योंकि पातंजलयोग के अनुसार मुक्ति की ओर ले जाने वाले मानसिक व्यापारों का निरोध एवं उस निरोध में सहायक होने वाले साधन योग हैं।[2] पातंजलयोग के इस अर्थ के साथ साम्य रखनेवाले शब्दों को जैन आगमों में खोजा जा सकता है, जैसे कि अयोग, संवर, निर्जरा, तप आदि। आगे चलकर हरिभद्रसूरि, हेमचन्द्राचार्य जैसे आचार्यों ने इस अर्थ में अर्थात् योग साधना के अर्थ में योग शब्द को भी प्रचलित किया है। यहाँ इसी अर्थ में योग शब्द का प्रयोग किया जा रहा है। योग के सामान्य अर्थ से जैन विचारधारा पातंजलयोग से सहमत होती हुई भी अपनी तत्त्वमीमासीय मान्यता के कारण उससे भिन्नता भी रखती है। जहाँ पातंजलयोग के अनुसार चित्त प्रकृति का ही एक उत्पादन है, अतः पुरुष-आत्मा से भिन्न है और पुरुष से भिन्न होने के कारण ज्ञान, आनंद जैसी उसकी वृत्तियों का, परिणमनों का निरोध पुरुष की अपनी स्वरूपावस्थिति के लिए उसी परिणमन का, जो कि कषायों से या कर्मों से उत्पन्न आत्मिक परिणमन है और जिसे हम वैभाषिक परिणमन भी कह सकते है, निरोध अनिवार्य है और चूँकि जैनयोग के अनुसार ज्ञान, आनन्द जैसे गुण आत्मा के निजी गुण है अतः आत्मा की अपनी स्वरूपावस्थिति के लिए उन गुणों का निरोध नहीं, परन्तु उनका चरम शुद्ध विकास आवश्यक है।

जैनयोग के अनुसार योग-साधना की प्राथमिक शर्त सम्यग्दर्शन है, जिसके आधार पर ज्ञान एवं चरित्र की सम्यक्‌ता निर्धारित होती है। सम्यग्दर्शन अपने सूक्ष्मरूप में आत्मप्रतीति या आत्मस्वरूप की ओर उन्मुखता है एवं स्थूल रूप में या

अपने व्यावहारिक रूप में जीवादि पदार्थों का यथार्थ रूप से निश्चय करने की रुचि है। यहाँ ध्यान देने योग्य है कि आत्मस्वरूप की प्रतीति में न केवल आत्मा के अस्तित्व में विश्वास, परन्तु ज्ञान दर्शनादि गुणों से युक्त आत्मा में विश्वास निहित है, और यहीं पर जैनयोग पातंजलयोग से अपनी भिन्नता स्थापित करता है और वह उसकी तुलना में योग के लक्ष्य के रूप में सद्-चित् आनन्द रूप आत्मस्वरूप को स्वीकार कर योग के लिए अधिक विधेयात्मक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से अधिक सुसंगत आधार प्रस्तुत करता है।

जहाँ तक योग की प्रक्रिया का सम्बन्ध है, पातंजलयोग यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि के रूप में योग की सुव्यवस्थित एवं क्रमबद्ध रूपरेखा प्रस्तुत करता है। वह सामाजिक संदर्भ में उत्पन्न होनेवाले विकर्षणों को दूर करने के लिए यम और नियम की, स्थूल शरीर से उत्पन्न होने वाले विकर्षणों को दूर करने के लिए आसन एवं प्राणायाम की, ऐन्द्रिय विषयों से उत्पन्न होने वाले विकर्षणों को दूर करने के लिए प्रत्याहार की, विकारों को, संस्कारों को, भूतकाल की घटनाओं से बंधे रहने की, एवं भविष्य के स्वप्नों में लीन होने की वृत्ति जैसे अनेक मानसिक विकर्षणों को दूर करने के लिए धारणा, ध्यान तथा समाधि की अवधारणा का विवेचन करता है। इन सभी तत्त्वों से साम्य रखनेवाले तत्त्व हमें जैन आगमों एवं जैन प्राचीन ग्रन्थों में भी प्राप्त होते हैं, जिन पर हम आगे संक्षिप्त रूप से विचार करेंगे।

व्रत (यम)—जैन विचारधारा ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह को व्रत के रूप में मान्यता दी है। अहिंसा समस्त प्राणियों के विषय में आत्मवत् भाव या साम्यभाव है एवं तदनुकूल आचरण है। सत्य मन, वचन और कर्म की एकरूपता में एवं वचन की प्रामाणिकता में निहित है। अस्तेय न दिए हुए दूसरों की किसी भी वस्तु को ग्रहण न करना है। ब्रह्मचर्य अपने सामान्य अर्थ में आत्मा के शुद्ध स्वरूप की ओर गति करना है एवं अपने विशेष अर्थ में कामभोगों से विरत होना है। अपरिग्रह अपने अमूर्त्त रूप में संग्रह का त्याग है। जैनयोग के अनुसार सभी व्रतों में अहिंसा का प्रमुख स्थान है, अन्य व्रत उसके लिए हैं या उसके ही विभिन्न रूप हैं। इन व्रतों का आंशिक पालन अणुव्रत है एवं पूर्णतः पालन महाव्रत है। यहाँ यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि सर्वप्रथम गृहस्थों के लिए अणुव्रतों का उल्लेख करने वाले योगसूत्र से पहले वैदिक परम्परा में भिक्षु या संन्यासी के इन व्रतों का उल्लेख गृहस्थ के लिए इस रूप में नहीं हुआ है[3] यद्यपि पातंजल योगसूत्र में यम और महाव्रत में सीमानिरपेक्षता के आधारपर भेद-रेखा खींची गयी है[4] फिर भी उसमें महाव्रतों की ओर ले जाने वाले

अणुव्रतों का स्पष्ट रूप नहीं मिलता है, जैसा कि हम जैनयोग के अणुव्रतों के स्वरूप में, उसके अतिचारों में, तथा उसके गुणव्रत एवं शिक्षाव्रत जैसे सहायक व्रतों में पाते हैं। इस प्रकार अणुव्रतों की देन जैनयोग की अपनी विशेषता है।

पातंजलयोग शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान के रूप में नियम का उल्लेख करता है। इन सभी तत्त्वों का विस्तृत विवरण आगमों में है। यद्यपि जैनयोग सृष्टिकर्ता, कर्मफलनियन्ता, साधकों के विघ्नों के निवारणकर्ता ईश्वर की भक्ति को एवं उसके निमित्त किये गये कर्मफलत्याग को मान्यता नहीं देता है परन्तु वह अरिहन्त एवं सिद्धों के प्रति की जानेवाली श्रद्धा एवं भक्ति को इसलिए मान्यता देता है कि उनके स्मरण से साधक अपनी सुषुप्त शक्ति को स्वयं जागृत कर सके।

आसन—दशाश्रुतस्कन्ध में श्रमण के लिए एकमासिकी, द्विमासिकी, त्रिमासिकी आदि जिन बारह प्रतिमाओं का उल्लेख है, उनमें आसनों का भी उल्लेख प्राप्त होता है जैसे कि प्रथम सप्तरात्रिन्दिवा नामक आठवीं प्रतिमा में सात रात-दिन तक उपवास-पूर्वक नगर के बाहर जाकर उत्तानासन और निषिद्यासन में स्थित होकर ध्यान करने का विधान है तो नवम प्रतिमा को दण्डासन, लगुड़ासन, अथवा उत्कटुकासन में स्थित होकर संपादित करने का विधान है।[५] उत्तराध्ययन सूत्र में इन्हें स्थान पद से सम्बोधित किया गया।[६] आसन के संदर्भ में कायोत्सर्ग मुद्रा को भी विशेष स्थान मिला है, जिसे पद्मासन या सुखासन में दोनों हाथों को या तो घुटनों पर टिकाकर या बायीं हथेली रखकर संपादित किया जाता है।

आसनों से शरीर को साधा जाता है तो प्राणायाम से प्राण को। मैडम ब्लावटेस्की के अनुसार प्राण एक शक्ति है, जो विद्युदाकर्षणरूप परमाणुओं से मनुष्य के प्राणमय शरीर का निर्माण करती है[७] इस शरीर के विद्युत्कणों में प्रकाश शक्ति और उस शक्ति का दूसरा रूप उष्णताशक्ति अन्तर्निहित है। इस संदर्भ में विचार करें तो जैन तैजस शरीर की अवधारणा प्राणमय शरीर से अत्यधिक साम्य रखती है, ऐसा प्रतीत होता है। ग्रहण किये हुये अन्न का पाचन, शारीरिक कान्ति, दीप्ति तथा स्थूल शरीर से बाहर निकलकर दूसरे पदार्थों को भस्म या अनुगृहीत करना आदि तैजसशरीर के कार्य हैं। जैन विचारणा की दृष्टि से प्राण एक दर्जा है, जो कि मन, वचन, श्वास, इन्द्रिय एवं शरीर आदि की गतिविधियों में सहयोगी एवं सक्रिय होने के कारण तदनुकूल प्रकारों में विभक्त है, जैसे कि मन-बल-प्राण, वचन-बल-प्राण आदि। यद्यपि आवश्यकनिर्युक्ति में श्वास के दीर्घ निरोध का या कहें, दीर्घ कुम्भक का आकस्मिक मरण की संभावना की दृष्टि से निषेध किया गया है परन्तु सूक्ष्म आश्वास

की प्रक्रिया को मान्यता दी गयी है।[८] कायोत्सर्ग की विधि को एवं आवश्यकनिर्युक्ति के इस कथन को देखकर कि धर्मध्यान और शुक्लध्यान के समय श्वास को मंद करना चाहिये,[९] कहा जा सकता है कि जैनयोग ने भी मन की शान्ति के लिए प्राणायाम को कुछ सीमा तक स्वीकार किया था।

पातंजलयोग के अनुसार प्रत्याहार, चित्त की अनुगामी बनी हुई इन्द्रियों का अपने आप विषयों से विरत होना है। प्रत्याहार के इस स्वरूप को जैनयोगीय प्रति-संलीनता के प्रकारों में अर्थात् इन्द्रिय प्रतिसंलीनता एवं कषाय प्रतिसंलीनता[१०] में खोजा जा सकता है। श्रोत्र आदि इन्द्रियों के विषय प्रचार को रोकना और प्राप्त शब्दादि विषयों में राग-द्वेष रहित होना इन्द्रिय प्रतिसंलीनता है, तथा क्रोध, मान, माया एवं लोभ के उदय को असफल करना कषाय प्रतिसंलीनता है। जैनयोग के अनुसार द्वितीय के अभाव में प्रथम प्रतिसंलीनता का कोई मूल्य नहीं है, दूसरे शब्दों में राग-द्वेष आदि विकारों की शान्ति के प्रकाश में ही इन्द्रियों की विषयविमुखता को साधना के रूप में देखा जा सकता है। स्पष्ट कहा गया है कि आँखों के सामने आते हुये रूप और कानों में पड़ते हुये शब्द आदि विषयों का परिहार शक्य नहीं है, ऐसे प्रसंगों में साधक राग-द्वेष से दूर रहे।[११] अनावश्यक रूप से होने वाले शक्ति के व्यय को टालने के लिए जहाँ इन्द्रिय-निग्रह आवश्यक है, वहाँ भी इन्द्रिय-निग्रह की निष्पत्ति रागद्वेष की शान्ति में होनी चाहिये और ऐसा इन्द्रिय-निग्रह साधना के लिए उचित है, अन्यथा वह एक छल, दमन या उपशमन है और ऐसे उपशमन को जैनयोग मान्यता नहीं देता है, यह उसके गुणस्थान की प्रक्रिया से अत्यन्त स्पष्ट होता है।

पातञ्जलयोगीय धारणा, ध्यान एवं समाधि का विस्तृत क्षेत्र जैनयोग के ध्यान में समाविष्ट हो जाता है। ध्यान की प्रक्रिया द्वारा साधी गयी मन की एकाग्रता में चैतन्य शक्ति को जागृत रखने का प्रयत्न किया जाता है।

जैनयोग के स्वरूप को समझने के बाद उसकी उपयोगिता को समझने के लिए मानव मन के संत्रास को भी समझना होगा।

वैज्ञानिक, तकनीकी और बौद्धिक जानकारी के चरम विकास के कारण एक ओर मानव के ज्ञान कोष में और उसकी सुख-सुविधाओं में अभूतपूर्व बृद्धि हुयी है तो दूसरी ओर मानव की बढ़ती हुयी महत्वाकांक्षाओं, प्रतिस्पर्धाओं एवं तृष्णाओं के कारण उसकी अशान्त, विशिष्ट एवं तनावपूर्ण अवस्था में भी अभूतपूर्व बृद्धि हुयी है। भौतिक सुविधा और आर्थिक समृद्धि की अपरिमित बृद्धि मानव की मानसिक असंतुष्टि

की खाई को पाट नहीं सकी है। प्रतिदित बढ़ती हुयीं अनिद्रा की बीमारियाँ, मनोविकृतियाँ, नैतिक मूल्यों का विरोध करने की वृत्तियाँ एवं ध्वंसात्मक प्रवृत्तियाँ आदि ऐसे तथ्य हैं, जो उपर्युक्त कथन की पुष्टि करते हैं।

इस बढ़ते हुये मानसिक संत्रास का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी है कि आज का मनुष्य वर्तमान सभ्यता की जटिलता के कारण न तो अपनी इच्छाओं को सहज रूप से अभिव्यक्त कर उनकी पूर्ति कर सकता है और न वह अपनी बढ़ती हुयी आकांक्षाओं से मुक्ति ही प्राप्त कर सकता है। भीतर वासनाओं का तूफान और ऊपर तथाकथित सभ्यता का आवरण, इन दोनों के संघर्ष में मानव स्वयं ही खण्डित हो रहा है। आज का मानव समाज जिस सरल, साफ एवं स्वाभाविक जीवनपद्धति को खो चुका है, उसे वह मूल प्रवृत्तियों और वासनाओं के शोधन, उदात्तीकरण एवं निराकरण की विधि के द्वारा स्थानापन्न नहीं कर सका है। एक गहरी रिक्तता एवं संघर्षों से भरी द्वन्द्वात्मकता मानव की दुर्भाग्यपूर्ण गाथा है।

क्या भारतीय योग की पद्धति विशेषतः जैनयोग पद्धति मानव को इस दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति से मुक्ति दिला सकती है और यदि वह दिला सकती है तो उसकी पद्धति क्या है ? एवं क्या वह पद्धति मनोवैज्ञानिक सन्दर्भ में उचित है ?

योग की साधना पद्धतियों का मूलभूत लक्ष्य मानवीय चेतना को विक्षेपों, विक्षोभों एवं तनावों से मुक्तकर निराकुल अवस्था की ओर ले जाना है। संक्षेप में निराकुल स्थिति की प्राप्ति योग की व्यावहारिक उपलब्धि है। मानव मन की विक्षुब्ध स्थिति के और उसकी मानसिक विकृति के लक्षणों में प्रगट होने वाली मूल बीमारी उसकी बढ़ती हुयी असीम इच्छा या आकांक्षा है एवं उसकी पूर्ति के प्रयत्नों में उत्पन्न होने वाली दोहरी मानसिकता है। योग पद्धति विवेक पर आधारित संयम और संतोष की तकनीक के द्वारा आकांक्षाओं को निर्मूल कर चित्त में निराकुलता की स्थिति उत्पन्न करती है। यहाँ यह प्रश्न खड़ा होता कि क्या यह संयम दमन नहीं है और यदि दमन है तो योग मानसिक तनाव के लिए स्थायी समाधान नहीं प्रस्तुत कर सकता, क्योंकि मनोविज्ञान के अनुसार दमित तत्त्व अधिक विकृत हो जाते हैं। मनोविज्ञान के अनुसार विशेषतः मनोवैज्ञानिक डॉ. फ्रायड के अनुसार चित्त के परिणामों, संवेगों एवं भावों के मूल में निहित प्रधान शक्ति कामशक्ति (लिबिडो) है, जो अपने विशेष रूप में अर्थात् प्रेरणा के रूप में एक प्रकार की सहचर की कामना है और अपने सामान्य रूप में पदार्थ या व्यक्ति को आत्मगत करने की लालसा है।

पितृप्रेम, मातृप्रेम, भगवत्भक्ति, वैषयिक आसक्ति, क्रोध, ईर्ष्या, मात्सर्य, विकर्षण आदि सभी भाव एवं संवेग इसी शक्ति की अभिव्यक्तियाँ हैं तथा भूख, प्यास और मैथुनेच्छा आदि मूल प्रवृत्तियाँ जब बार बार उत्पन्न होती हुयी इच्छाओं के रूप में क्रमशः दृढ़ ग्रन्थि का आकार ग्रहण कर लेती है तो वासनायें कहलाती हैं। ये वासनायें अपने स्वभाव से व्यक्ति की सभी क्रियाओं को वासित-रंजित करती हैं। इनके द्वारा काम की अभिव्यक्ति एवं वृद्धि भी होती रहती है। वासनायें अपनी पूर्ति चाहती हैं तथा वासनाओं की पूर्ति के प्रयत्नों के प्रसंग में उत्पन्न होने वाली अनुकूल एवं प्रतिकूल अनुभूतियाँ हैं, जो संवेग है, अपनी अभिव्यक्ति चाहती हैं। परन्तु बाह्य परिस्थितियों की प्रतिकूलता एवं नैतिक अहं के द्वारा उन्हें न दी जाने वाली सामाजिक मान्यता, उन्हें पूर्ण एवं अभिव्यक्त होने की आज्ञा नहीं देती।

इस प्रकार इन दो तत्त्वों का संघर्ष तनाव उत्पन्न करता है। वे वासनायें या उन संवेगों के आवेग अपनी पूर्ति एवं अभिव्यक्ति के अभाव में अवरुद्ध होकर अचेतन मन का मूक भाग बन जाते हैं। वहाँ ये दमित वासनायें नष्ट नहीं होतीं, परन्तु अधिक सूक्ष्म एवं छद्मरूप में व्यक्त होने के लिए अवसर खोजती हैं। ये अहेतुक उद्वेग, चिन्ताकुलता, प्रत्यग्गमन, स्वप्न, दिवास्वप्न, सामान्य व्यवहार में होने वाली त्रुटियाँ, विस्मृतियाँ आदि अनेक व्यवहारों में व्यक्त होती हैं तथा वे अनेक शारीरिक बीमारियों एवं मानसिक विकृतियों को जन्म देती हैं एवं अशान्ति की एक लम्बी परम्परा को बनाये रखती हैं।

योग मानव के सांसारिक व्यवहारों का विश्लेषण कर उनमें निहित प्रेरक तत्त्व के रूप से कामतत्त्व की, जिसे वह राग कहता है, खोज करता है परन्तु योग की खोज मनोविज्ञान की खोज का भी अतिक्रमण करती है, जब वह व्यवहारों के मूल प्रेरक तत्त्व के रूप में एक अधिक सूक्ष्म तत्त्व अविद्या को स्वीकार करती है। यह अविद्या आत्मभिन्न सभी पर पदार्थों में स्व को खोजने की वृत्ति है। यह वह मिथ्यादृष्टि है जो जैनयोग की दृष्टि में नित्य, स्वतन्त्र चित् तत्त्व के रूप में स्वयं के अस्तित्व के बोध का अभाव है या कहें स्वयं के यथार्थ स्वरूप का विपरीत बोध है। योग की दृष्टि में यह दुराग्रह या विपरीत बोध पर पदार्थ को आत्मगत करने वाले काम को, राग को जन्म देता है। इस प्रकार जैन योग डॉ. फ्रायड से कुछ सीमा तक सहमत है और कुछ सीमा तक असहमत भी। योग मिथ्यादृष्टि या अविद्या के विपरीत तत्त्व विवेकख्याति की या मात्र दृष्टा होने की स्व की शक्ति की भी खोज करता है जिसे जैनयोग आत्मशक्ति मानते हैं। यही शक्ति संयम को दमन से अलग करती है।

मनोविज्ञान के अनुसार मनोविश्लेषण वह रेचन प्रक्रिया है, जो चित्त के अज्ञान-अचेतन स्तर की ग्रन्थियों, संवेगों और भावों को ज्ञान-चेतन स्तर पर लाकर उनसे उत्पन्न तनावों को दूर करती है। प्रारम्भ में रोगी को सम्मोहित कर, उसे निर्देश देकर उसके दमित अज्ञात संवेगों को ज्ञात कर इस प्रक्रिया को क्रियान्वित किया जाता था। परन्तु फ्रायड ने मनोविश्लेषण के रूप में स्वतन्त्र साहचर्य पद्धति का अन्वेषण किया, जिसमें रोगी को सुखासन में लिटाकर स्वतन्त्रता दी जाती है कि वह (रोगी) उसके अपने मन में जो कुछ भी आये, उसे कहता जाये। उसे न केवल अपनी कहानी को प्रत्युत उसके मन में आने वाले सभी चित्रों अथवा प्रतिरूपों को एवं स्मृति चिह्नों को उद्घाटित करने के लिए प्रेरणा दी जाती है। इससे अवदमित कांक्षायें प्रगट होती हैं और भावों का रेचन हो जाता है।

योग के अनुसार भी इस रेचन की प्रक्रिया को दो विधाओं से क्रियान्वित किया जा सकता है। जहाँ तक दमित वासनाओं का सम्बन्ध है, योग के अनुसार शवासन जैसे आसनों को सम्पादित कर अचेतन के संस्कारों को पूरी तरह से उभरने का अवसर दिया जा सकता है और उसके बाद द्रष्टा की तटस्थ चित् शक्ति के तले उन्हें ज्ञान बनाकर उनका रेचन किया जा सकता है। इसका स्पष्ट रूप पातंजल योग की प्रत्याहार की तथा संयम की प्रक्रिया में एवं बौद्धयोग के कायानुपश्यना और चित्तानुपश्यना की प्रक्रिया में खोजा जा सकता है, उसी प्रकार जैनयोग में ध्यान के माध्यम से की जाने वाली उदीरणा की प्रक्रिया में हमें रेचन क्रिया के सूक्ष्म बीज मिलते हैं।

जहाँ तक उभरते हुए संवेगों के रेचन का प्रश्न है, योग के अनुसार उनका बिना दमन किए, रेचन किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में उभरते हुए संवेगों के क्षणों में ही बिना उनको रोके, मानसिक तल पर उन्हें प्रस्फुटित होने का अवसर देकर द्रष्टा की तटस्थ शक्ति या स्वपर में भेद करने वाली विवेक-बुद्धि के तले उन्हें प्रकाशित कर उनका निराकरण किया जा सकता है। इस प्रक्रिया में जो चित् शक्ति संवेगों के माध्यम से अधिक भावात्मक बनकर बाह्योन्मुखी होकर प्रवाहित होना चाहती थी उसे विवेक के माध्यम से ज्ञानात्मक बनाकर अन्तर्मुखी किया जाता है। मनोविज्ञान के अनुसार उभरते हुए संवेगों को जब नैतिक अहं की शक्ति या हेय उपादेय की बुद्धि नियमित या अवरुद्ध करती है तो दमन घटित होता है जब कि योग के अनुसार संवेगों के उभरते हुए क्षणों में नैतिक अहं को भी अतिक्रान्त करने

वाले द्रष्टा की तटस्थ आध्यात्मिक विवेक शक्ति जागृत रहे तो संयम या संवेगों का निराकरण घटित होता है।

निराकरण की प्रक्रिया में योग के अन्य अंग भी महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकते हैं। योग के अनुसार चूँकि संवेगों का भौतिक एवं मानसिक दोनों ही आयाम है, अतः उनके निराकरण में आसन एवं प्राणायाम की प्रक्रिया भी कुछ सीमा तक सहायक हो सकती है। आसन एवं प्राणायाम में साधी गयी शरीर की एवं श्वास-प्रश्वास की सन्तुलित स्थिति संवेगों के भौतिक पक्ष का निराकरण करने में सहायता कर सकती है। योग जेम्सलैंग के इस सिद्धान्त से कुछ सीमा तक सहमत हो सकता है कि उत्तेजक तत्त्व के परिज्ञान के पश्चात् ही शरीर में कुछ परिवर्तन होते हैं और उन परिवर्तनों का भाव ही संवेग है। जैम्सलैंग के सिद्धान्त के अनुसार सामान्य ज्ञान का अनुकरण कर हम कहते हैं कि हमारा धन खो गया है, हमें दुःख होता है और हम रो पड़ते हैं। हमें भालू से भेंट होती है, हम डर जाते हैं और हम भागते हैं। प्रतिद्वन्द्वि हमारा अपमान करता है, हमें क्रोध होता है और उसे पीटते हैं। इस प्रकार का अनुक्रम त्रुटिपूर्ण है—अधिक बौद्धिक कथन यह है कि हम रोते हैं इसी से हमें दुःख होता है, हम पीटते हैं अतः क्रुद्ध हो जाते हैं, हम काँपते हैं और डर जाते हैं।[१२] परन्तु योग जैम्सलैंग के समान संवेगों को मात्र शारीरिक परिवर्तनों के रूप में ही व्याख्यायित नहीं कर सकता, क्योंकि उसकी दृष्टि में संवेगों के पूर्ण निराकरण के लिए चित् शक्ति को, जो अपने अन्तिम स्वरूप में राग-विराग से मुक्त है, विकसित एवं जागृत करने की आवश्यकता है। बौद्धयोग में समत्व और विपश्यना दोनों ही पद्धतियों में स्वीकार की गयी सजगता (स्मृति) की आवश्यकता तथा जैन योग में 'जाणई पासई' की साधना उपर्युक्त तथ्य पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं।

उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यह नहीं है कि योग उचित वासनाओं की पूर्ति को स्थान नहीं देता। वह जैविक आवश्यकताओं की उचित पूर्ति को स्थान देता है और यह तथ्य जैनयोग के अणुव्रतों से स्पष्ट होता है। वस्तुतः भारतीय योग के पीछे जो मूलभूत आध्यात्मिक दृष्टि है, वह जैविक मूल्यों की अस्वीकृति नहीं है, परन्तु जैविक मूल्यों के ऊपर आध्यात्मिक मूल्यों को प्रतिष्ठित करने की दृष्टि है, जैसे कि स्वयं अध्यात्म अधि + आत्म शब्द से सूचित होता है।

वस्तुतः योग की साधना विवेक पर आधारित अनाशक्ति की साधना है, और अनाशक्ति का भाव एवं उसी प्रकार विवेक पर आधारित संयम, दमन नहीं हो सकता।

पाद टिप्पणियाँ

१ तिविहे जोगे पण्णत्ते तंजहा मणजोगे, वइ जोगे कायजोगे ।–ठाणांगसू स्था० ३, ३०१, सू० १२४ ।

२. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।—पातंजलयोगसूत्र १।२ तथा, द्रष्टुस्वरूपावस्थितिहेतुश्चित्तनिवृत्ति-निरोधो योगः ।—योगवार्तिक १।२ ।

३. It my also be pointed out that in the Brahmanical tradition, these vows for mendicantle were nowhere prescribed for a householder till perhaps yogasastra first of all thought of having small vuows (anuvratas) for the househalder.–Dayanand Bhargava, Jaina Ethics P. 104.

४. जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ।—योगसूत्र २।३१ ।

५. ………एवं दोच्चा सत्तराइंदियायान्वि । नवरं दंडायनियस्स वा लंगडसाइस्स वा कुडुयस्स वा वाणं णइत्तग्……… ।—दशाश्रुतस्कन्ध भिक्षु प्रतिमावर्णन ७:९ ।

६. वाणा वीरासणाईया जीवस्स उ सुहाविहा ।
उग्गा जहा धरिज्जन्ति कायकिलेसं तमाहियं ।।–उत्तराध्ययन ३०।२७ ।

७. कल्याण, साधनांक पृ. ४०६ ।

८. उस्सासं न निरुंभइ, आभिग्गाहिओ वि किमु उ चिट्ठाउ सज्जमरणं निरोहे सुहुमुस्सासं तु झयणाए ।—आ० नि० १५०५ ।
ताव सुहुमाणुपाणु धम्मं सुक्कं च झाइज्जा ।—आ० नि० १४९५ ।

१०. ····पडिसंलीणया चउव्विहा पण्णत्ता तंजहा—इंदियपडिसंलीणया कसायपडिसंलीणया···· ।
—औपपातिकसूत्र तपोधिकार सूत्र ३० ।

११. ण सक्का ण सोउं सद्दा सोयविसयमागया ।
रागदोसा उ जे तत्थ तं भिक्खू परिवज्जए ।।
ण सक्का रूवमद्दट्टुं चक्खू विसयमागयं ।
रागदोसा उ जे तत्थ तं भिक्खू परिवज्जए ।।—आचारचूलिका विमुक्ति अध्ययन ।

१२. अर्जुन चौबे, सामान्य मनोविज्ञान, प्र० खं० पृ० ४०१-१४ ।

दर्शन विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी, उत्तर प्रदेश

जैन शिक्षा : उद्देश्य एवं विधियाँ

डॉ. श्रीमती सुनीता जैन

जैन दृष्टि से शिक्षा का उद्देश्य मानव व्यक्तित्व का समग्र विकास माना गया है। समग्र विकास से अभिप्राय उसके अन्तरंग एवं बाह्य सभी गुणों का विकास है। व्यक्तित्व के चरम विकास की स्थिति को ही जैन दर्शन में मोक्ष कहा गया है।[1] मोक्ष की अवस्था को प्राप्त व्यक्तित्व में दर्शन, ज्ञान, शक्ति और सुख पूर्ण रूप से विकास को प्राप्त हो जाते हैं, और उनमें किसी भी कारण कमी होने की सम्भावना नहीं रहती। इसीलिए उसे 'सिद्ध' कहा गया है। इससे पूर्व की स्थिति में 'अरहन्त' के भी दर्शन, ज्ञान, शक्ति और सुख का समग्र विकास हो चुकता है। कुछ औपाधिक प्रवृत्तियाँ सम्बद्ध रहने के कारण वह 'सिद्ध' नहीं माना जाता। किन्तु उसका सिद्ध होना निश्चित रहता है। व्यक्तित्व के समग्र विकास के लिए तीन कारण बताये गये हैं।[2]

(१) सम्यग्दर्शन।

(२) सम्यग्ज्ञान।

(३) सम्यक्चरित्र।

ये तीनों मिलकर ही व्यक्तित्व विकास के साधक हैं, पृथक्-पृथक् नहीं। इसीलिए इन तीनों को 'मार्ग' कहा गया है।

इस बात को समझाने के लिए जैन साहित्य में सुन्दर उदाहरण[3] प्राप्त होते हैं।

जैसे कहीं चारों ओर से आग लगी हो और उसके बीच में एक अन्धा और एक पंगु मौजूद हों वे दोनों ही अपनी जान से हाथ धो देंगे। अन्धा रास्ता ज्ञात न होने के कारण भाग कर भी बाहर नहीं निकल पायेगा और पंगु देखते-देखते जल जायेगा पर यदि दोनों मिलकर कार्य करें अन्धा पंगु को अपने कन्धे पर उठा ले और पंगु रास्ता बताता जाये तो दोनों ही बाहर निकल सकते हैं। यहाँ अन्धा चरित्र

---

१. बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः।—तत्त्वार्थसूत्र १०।२।

२. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।—तत्त्वार्थसूत्र १।१।

३. अकलंक—तत्त्वार्थवार्तिक भाग १।—भारतीय ज्ञानपीठ काशी।

का प्रतीक है और पंगु ज्ञान का अर्थात् ज्ञान और चरित्र अलग-अलग रहकर व्यक्ति का समग्र विकास नहीं कर सकते। इनके साथ एक शर्त और है, वह है सम्यग्दर्शन की। सम्यग्दर्शन न हो तो ज्ञान और चरित्र भी बेकार हैं। सम्यग्दर्शन का अर्थ है मूल तत्त्वों का सही बोध। सम्यक् तत्त्वबोध के बिना ज्ञान और चरित्र सम्यक् नहीं हो सकते।

इन तीनों को इस प्रकार समझा जा सकता है—

१. मूल तत्त्वों का सही बोध।

२. तत्त्वों की सही सैद्धान्तिक जानकारी।

३. वस्तु तत्त्वों का प्रायोगिक ज्ञान।

शिक्षा विधियाँ

शिक्षा के इस महान् उद्देश्य की प्राप्ति के लिए जैन वाङ्मय में शिक्षा विषय, शिक्षा विधि, शिक्षा के माध्यम, गुरु एवं शिष्य का स्वरूप और शिक्षा संस्थाओं एवं शिक्षा केन्द्रों के बारे में अत्यन्त व्यवस्थित और विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदि ग्रन्थों में इनका विस्तार से विश्लेषण किया गया है। यहाँ पर केवल शिक्षा विधि के बारे में ही मैं कुछ कहूंगी।

शिक्षा के सम्पूर्ण विषय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र के अन्तर्गत समाहित हो जाते हैं। इन तीनों को सम्मिलित रूप से मोक्ष का मार्ग कहा गया है। जो तत्त्व जिस रूप में अवस्थित हैं, उनका ठीक उसी रूप में बोध होना, उनका प्रामाणिक रूप से सविवरण ज्ञान होना तथा व्यावहारिक रूप में उन्हें जीवन में उतारना, यह इनका तात्पर्यार्थ है। इसके लिए तत्त्वार्थसूत्रकार ने दो विधियाँ बतायी हैं—

१. निसर्ग, २. अधिगम।

निसर्गविधि[४]

निसर्ग का अर्थ है स्वभाव। स्वयंप्रज्ञ व्यक्ति को गुरु और आचार्य द्वारा शिक्षा प्राप्त करने की अपेक्षा नहीं रहती। जीवन के विकासक्रम से वे स्वतः ही ज्ञान विज्ञान के विभिन्न विषयों को सीखते जाते हैं। तत्त्वों का सम्यक् बोध वे स्वतः प्राप्त करते हैं। उनका जीवन ही उनकी प्रयोगशाला होता है। सम्यक् बोध और सम्यक् ज्ञान की उपलब्धियों को वे जीवन की प्रयोगशाला में उतार कर सम्यक् चरित्र को उपलब्ध करते हैं। यह निसर्गविधि है।

---

४. निसर्गः स्वभाव इत्यर्थः। यद् बाह्योपदेशादृते प्रादुर्भवति तन्नैसर्गिकम्।—सर्वार्थसिद्धिः १.३।

अधिगम विधि[५]

अधिगम का अर्थ है पदार्थ का ज्ञान। दूसरों के उपदेशपूर्वक पदार्थों का जो ज्ञान होता है वह अधिगमज कहलाता है।

इस विधि के द्वारा प्रतिभावान् तथा अल्पप्रतिभा युक्त सभी प्रकार के व्यक्ति तत्त्वज्ञान प्राप्त करते हैं। यही तत्त्वज्ञान सम्यग्दर्शन का कारण बनता है।

निसर्ग विधि में प्रज्ञावान् व्यक्ति की प्रज्ञा का स्फुरण स्वतः होता है, किन्तु अधिगम विधि में गुरु का होना अनिवार्य है। गुरु से जीवन और जगत् के तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करना यही अधिगम विधि है।

निक्षेप विधि[६]

लोक में या शास्त्र में जितना शब्द व्यवहार होता है, वह कहाँ किस अपेक्षा से किया जा रहा है, इसका ज्ञान निक्षेप विधि के द्वारा होता है। एक ही शब्द के विभिन्न प्रसंगों में भिन्न-भिन्न अर्थ हो सकते हैं। इन अर्थों का निर्धारण और ज्ञान निक्षेप विधि द्वारा किया जाता है। अनिश्चय की स्थिति से निकालकर निश्चय में पहुँचाना निक्षेप है। निक्षेप विधि के चार भेद हैं—१. नाम, २. स्थापना, ३. द्रव्य, ४. भाव।

१. नाम विक्षेप[७]

व्युत्पत्ति की अपेक्षा किये बिना संकेत मात्र के लिए किसी व्यक्ति या वस्तु का नामकरण करना नाम निक्षेप विधि के अन्तर्गत आता है। जैसे किसी व्यक्ति का नाम हाथीसिंह रख दिया। नाम निक्षेप विधि ज्ञान प्राप्ति का प्रथम चरण है।

२. स्थापना निक्षेप

वास्तविक वस्तु की प्रतिकृति, मूर्ति, चित्र आदि बनाकर अथवा उसका आकार बिना बनाये ही किसी वस्तु में उसकी स्थापना करके उस मूल वस्तु का ज्ञान कराना स्थापना निक्षेप विधि है। इसके दो भेद हैं[८]—

(क) सद्भावस्थापना, (ख) असद्भावस्थापना।

---

५. अधिगमोऽर्थावबोधः। यत्परोपदेशपूर्वकं जीवाद्यधिगमनिमित्तं तदुत्तरम्।—सर्वार्थसिद्धिः १.३।

६. संशये विपर्यये अनध्यवसाये वा स्थितं तेभ्योऽपसार्य निश्चये क्षिपतीति निक्षेपः।
—धवला भाग ४।१.३.१।२।६।

७. अतद्गुणे वस्तुनि संव्यवहारार्थं पुरुषकारान्नियुज्यमानं संज्ञा कर्म नाम।
—सर्वार्थसिद्धिः १.५।

८. सद्भावेतरभेदेन द्विधा तत्त्वाधिरोपतः।—श्लोकवार्तिक २.१.५।

(क) सद्भावस्थापना का अर्थ है मूल वस्तु या उसकी प्रतिकृति यह प्रतिकृति काष्ठ, मृत्तिका, पाषाण, दाँत, सींग आदि की बनाई जा सकती है। इस प्रकार की प्रतिकृति बनाकर उस वस्तु या व्यक्ति का जो ज्ञान कराया जाता है, वह सद्भावस्थापना विधि है।

(ख) असद्भावस्थापना में वस्तु की यथार्थ प्रतिकृति नहीं बनायी जाती प्रत्युत् किसी भी आकार की वस्तु में मूल वस्तु की स्थापना कर दी जाती है। जैसे शतरंज के मोहरों में राजा, वजीर, प्यादे, हाथी आदि की स्थापना कर ली जाती है।

षट्खंडागम, धवला तथा श्लोकवार्तिक आदि में इनका विस्तार से वर्णन किया गया है।

३. द्रव्य निक्षेप[९]

वर्तमान से पूर्व अर्थात् भूत एवं बाद की स्थिति को ध्यान में रखते हुए वस्तु का ज्ञान कराना द्रव्य निक्षेप विधि है। इस विधि के भी आगम और नो आगम दो भेद हैं। नो आगम के भी तीन भेद हैं।

४. भाव निक्षेप[१०]

वर्तमान स्थिति को ध्यान में रखकर वस्तु स्वरूप का ज्ञान कराना भाव निक्षेप विधि है। इसके भी आगम और नो आगम ऐसे दो भेद हैं।

प्रमाण विधि[११]

संशय आदि से रहित वस्तु का पूर्णरूप से ज्ञान कराना प्रमाण विधि है।

जैन आचार्यों ने प्रमाण का विस्तृत विवेचन किया है। जीव और जगत् का पूर्ण एवं प्रामाणिक ज्ञान इस विधि के द्वारा प्राप्त किया जाता है।

सम्यग्ज्ञान को ही प्रमाण के अन्तर्गत माना है। मिथ्याज्ञान प्रमाणाभास हो सकते हैं, प्रमाण नहीं। प्रमाण विधि के दो भेद हैं—

(क) प्रत्यक्ष, (ख) परोक्ष।

प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं—(१) सांव्यवहारिक या इन्द्रियप्रत्यक्ष (२) पारमार्थिक या सकलप्रत्यक्ष।

---

९. यद्भाविपरिणामप्राप्तिं प्रति योग्यतामादधानं तद्द्रव्यमित्युच्यते अथवा अतद्भावं वा द्रव्यमित्युच्यते। —तत्त्वार्थवार्तिक १.५।

१०. वर्तमानतत्पर्यायोपलक्षितं द्रव्यं भावः।—सर्वार्थसिद्धिः १.५।

११. प्रकर्षेण मानं प्रमाणम्, सकलादेशीत्यर्थः।—धवला भाग ९, ४.१.४५।१६६।१।

परोक्ष के पाँच भेद हैं—(१) स्मृति (२) प्रत्यभिज्ञान (३) तर्क (४) अनुमान (५) आगम।

जैन आचार्यों ने इनका विस्तार से वर्णन किया है।[12]

नयविधि

इस विधि के द्वारा वस्तुस्वरूप का आंशिक विश्लेषण करके ज्ञान कराया जाता है। नय के मूलतः दो भेद हैं—

(१) द्रव्यार्थिक, (२) पर्यायार्थिक।

इन दोनों के भी निम्नलिखित सात भेद हैं—

१. नैगम—अनिष्पन्न अर्थ में संकल्पमात्र को ग्रहण करना।

२. संग्रह—भेद सहित सब पर्यायों को अपनी जाति के अविरोध द्वारा एक मानकर सामान्य से सबको ग्रहण करना। जैसे घट कहने से सभी प्रकार के घटों का ग्रहण हो जाता है।[13]

३. व्यवहार—संग्रहनय के द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थों का विधिपूर्वक अवहरण या भेद करना। जैसे घट के स्वर्णघट, रजतघट, मृत्तिकाघट आदि भेद।[14]

४. ऋजुसूत्र—वर्तमान पर्याय मात्र को ग्रहण करना।[15]

५. शब्दनय–शब्द प्रयोगों में आने वाले दोषों को दूर करके तदनुसार अर्थ भेद की कल्पना करना।[16]

६. समभिरूढ़—शब्द भेद के अनुसार अर्थ भेद की कल्पना करना।[17]

७. एवंभूत—शब्द से फलित होने वाले अर्थ के घटित होने पर ही उसको उस रूप में मानना।[18]

---

१२. द्रष्टव्य—परीक्षामुख, प्रमेयरत्नमाला, प्रमेयकमलमार्तण्ड, प्रमाणनयतत्वालोकालंकार, प्रमाणमीमांसा आदि।

१३. स्वजात्यविरोधेनैकध्यनुपानीय पर्यायानाक्रान्तभेदानविशेषेण समस्तग्रहणात्संग्रहः।

१४. संग्रहनयाक्षिप्तानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं व्यवहारः।

१५. ऋजु प्रगुणं सूत्रयति तन्त्रयतीति ऋजुसूत्रः।

१६. लिंगसंख्यासाधनादिव्यभिचारनिवृत्तिपरः शब्दनयः।

१७. नानार्थसमभिरोहणात् समभिरूढ़ः।

१८. येनात्मनाभूतस्तेनैवाध्यवसाययतीति एवम्भूतः।—टि. १३ से १८ सर्वार्थसिद्धिः १.७।

अनुयोगद्वार विधि[१९]—तत्त्वों का विस्तृत ज्ञान प्राप्त करने के लिए अनुयोग द्वार विधि बतायी गयी है। इसके निम्नलिखित छह भेद हैं।

(१) निर्देश—वस्तु के नाम का कथन करना।

(२) स्वामित्व—वस्तु के स्वामी का कथन करना।

(३) साधन—जिन साधनों से वस्तु बनी है, उसका कथन करना।

(४) अधिकरण—वस्तु के आधार का कथन करना।

(५) स्थिति—वस्तु के काल का कथन करना।

(६) विधान—वस्तु के भेदों का कथन करना।

प्ररूपण विधि[२०]—प्ररूपण के निम्नलिखित आठ भेद हैं—

(१) सत्—अस्तित्व कथन करके समझाना।

(२) संख्या—भेदों की गणना करके समझाना।

(३) क्षेत्र—वर्तमान काल विषयक निवास को ध्यान में रखकर समझाना।

(४) स्पर्शन—त्रिकाल विषयक निवास को ध्यान में रखकर समझाना।

(५) काल—समयावधि को ध्यान में रखकर समझाना।

(६) अन्तर—समय के अन्तर को ध्यान में रखकर समझाना।

(७) भाव—भावों का कथन करके समझाना।

(८) अल्पबहुत्व—एक दूसरे की अपेक्षा न्यूनाधिक का ज्ञान करके समझाना।

स्वाध्याय विधि[२१]

विशिष्ट ज्ञान प्राप्ति के लिए स्वाध्याय विधि का उपयोग किया जाता था। इसके निम्नलिखित पाँच भेद बताये गये हैं—

(१) वाचना—ग्रंथ, उसके अर्थ या दोनों का निर्दोष रीति से पाठ करना वाचना है।

(२) पृच्छना—शंका को दूर करने के लिए या विशेष निर्णय करने के लिए पृच्छा करना—पृच्छना है।

---

१९. निर्देशः स्वरूपाभिधानम्। स्वामित्वमाधिपत्यम्। साधनमुत्पत्तिनिमित्तम्। करणमधिष्ठानम्। स्थितिः कालपरिच्छेदः। विधानं प्रकारः।—सर्वार्थसिद्धिः १।७

२०. सदित्यस्तित्वनिर्देशः। संख्या भेदगणना। क्षेत्रं निवासोवर्तमानकालविषयः। तदेव स्पर्शनं त्रिकालगोचरम्। कालो द्विविधः मुख्यो व्यावहारिकश्च। अन्तरं विरहकालः। भावः औपशमिकादिलक्षणः। अल्पबहुत्वमन्योन्यापेक्षया विशेषप्रतिपत्तिः।—सर्वार्थसिद्धिः १।८

२१. वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः।—तत्त्वार्थसूत्र ९।२५।

(३) **अनुप्रेक्षा**—पढ़े हुए पाठ का मन से अभ्यास करना अर्थात् उनका पुनः-पुनः मन से विचार करते रहना अनुप्रेक्षा है।

(४) **आम्नाय**—जो पाठ पढ़ा है उसका शुद्धतापूर्वक पुनः-पुनः उच्चारण करना आम्नाय है।

(५ **धर्मोपदेश**—धर्म कथा करना धर्मोपदेश है।

स्वाध्याय विधि का उपयोग प्रज्ञा में अतिशय लाने के लिए, अध्यवसाय को प्रशस्त करने के लिए, परम संवेग के लिए, तप में वृद्धि करने के लिए तथा अविचारों में विशुद्धि लाने आदि के लिए किया जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गूढ़ से गूढ़ विषय को भी इस रूप में प्रस्तुत किया जाता था कि शिष्य उसे भली प्रकार हृदयंगम कर सके। इसके लिए विषय वस्तु को सूत्र रूप में कहा जाता था, क्योंकि उस युग में सम्पूर्ण शिक्षा मौखिक और स्मृति के आधार पर चलती थी। इसी कारण प्रारम्भिक साहित्य सूत्र रूप में मिलता है।

कभी-कभी विषयवस्तु को गेय रूप में भी प्रस्तुत किया जाता था जिससे उसे कण्ठस्थ किया जा सके। कथाओं के माध्यम से भी विषयवस्तु को कहा जाता था जिससे उन प्रसंगों के साथ मूल वस्तुतत्त्व को याद रखा जा सके।

इन्हीं पद्धतियों का विभिन्न रूपों में विकास हुआ। जैसे सूत्र की व्याख्या की गई जिसे वार्तिक कहा गया। वार्तिक के बाद टीका और वृत्ति लिखी गई। निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि नामक विशेष विवरण तैयार किए गए।

जैन शिक्षा विधि की एक विशेषता यह भी रही है कि जैन आचार्यों ने मुख्य रूप से सदा लोक भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाया। उन्हीं भाषाओं को साहित्यिक स्वरूप देकर उनमें ग्रंथों की रचना की। इन भाषाओं को जनसामान्य की भाषा होने के कारण प्राकृत कहा गया तथा विभिन्न क्षेत्रों के अनुसार इनके अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री आदि नाम दिए गये। बाद में यही भाषाएँ अपभ्रंश हुईं और कन्नड़, तमिल, तेलुगु, राजस्थानी, गुजराती, मराठी, मगही, मैथिली, भोजपुरी आदि के रूप में विकसित हुईं।

संस्कृत को भी जैन शिक्षकों ने शिक्षा के माध्यम के रूप में अपनाया तथा संस्कृत में विभिन्न विषयों पर अनेक ग्रंथों की रचना की।

जैन बाला विश्राम,
आरा, बिहार।

Jaina Path of Education

Dr. B. K. Khadabadi

Education aims at equipping man with the art of living—living a successful life. In ancient and medieval India education and religion were closely related, or rather, religion also played the role of educating its followers. Jainism has been no exception to this fact. Therefore, Jainism can be said to have had its own influence on the educational system and values of India, more particularly of the ancient and medieval period.

A characteristic feature of the Hindu system of education in ancient days was its Gurukula system : The teacher's house itself was the school, the higher educational institute and the hostel—all in one. The four Vedas, the six Aṅgas, the eighteen Dharmaśāstras, logic, grammar, lexicography, economics, sociology, law (Cāṇakya), medicine, astrology etc.—all these subjects were taught in the course of seven or eight years. Later with the retention of the Gurukula system, places of pilgrimage also developed as centres of education. Gradually in places like Takṣaśila educational centres of University level and model came up. Some Agrahāras turned up to be small centres of education. Some pontiffs of the Hindu maṭhas took considerable interest in and helped the cause of education. Such work, in varied ways and by many pontiffs, is going on even to this day.

As we enter and peep into the early Buddhist sphere of education, we are struck with a peculiarity that imparting of education took place mostly in the monasteries and it was meant for the newly initiated monks. But later on, outsiders too began to be admitted into these monasteries and non-Buddhist subjects too came to be introduced for them. As a result of such gesture, in due course of time there appeared Universities of international fame like Nālandā, Valabhī and Vikramaśilā. Soon these Universities earned a name as educational centres of high order amongst the seekers of knowledge even from foreign countries, particularly from those in Middle and East Asia. But later all these, unfortunately, fell pray to the reckless plunder and arson of the

Muslim invaders. Then with the later Buddhism, its hold on education in India too disappeared. But the present excavated part of the great Nālandā University very well speaks to the visitor today of its old grand scale of planning and facilities provided therein.

Now coming to the sphere of education falling within the compass of early Jainism, what we find conspicuously is that no Jaina University like that in Takṣaśilā or Nālandā, nor other centres of education of those models, came into existence. The reason for this is not far seek. The great vow of *Aparigraha* (non-possession) appears to have been at the root of this phenomenon. According to this vow the Jaina monk cannot own or possess any property of any kind; and because of this strict injunction, there did not at all exist Jaina monasteries in those days. Even keeping books with oneself was considered as breach of the vow of *Aparigraha*. This led also to the loss of considerable part of the scriptural knowledge on the part of the early Jaina monks.

The Jaina Ācāryas, in the early period, kept on always wandering and camping as per the dictum 'one night at the village, five nights in the town (or city) and ten nights in the wood' :

"ग्रामे एकरात्रं नगरे पञ्चरात्रं अटव्यां दश रात्रं"

and they spent most of their time in observing their vows and practising penances. It was at the time of delivering sermons to their laity that they used to educate them. Each Ācārya had his own interesting and effective method in this regard. Moreover as the Jaina Ācārya wandered about according to the dictum cited above, he kept on imparting religious education to his monk-pupil, who, with previous permission, had accepted him as his teacher. Such instruction was given punctually and systematically in the manner of the mother-bird tenderly and punctually feeding its young ones :

"जहा से दिया-पोय एवं ते सिस्सा दिया य राओ य अणुपुव्वेण वाइय ।"

(Āyāra, I-6-3, Calcutta ed. 1967).

Such monk-pupil, after initiation, used to be with his teacher for 12 years and during this period he could amass almost the entire scriptural knowledge. Then the young monk, with his teacher's permission, used to go on wandering independently and according to the rules of the Saṅgha. Scholars opine that such system was in vogue from 500 B. C. to 100 A. D.

Then during the first half of the 1st Century A. D., there began to appear here and there caityas or basadis introduced and maintained by the lay community; and according to Dr. J. P. Jain, from the 3rd Century A. D. the Jaina monks began to stay in such *caityas*, and during the period between the 5th and 6th centuries A. D. there distinctly appeared two categories viz., *Vanavāsī* and *Caityavāsī* among them. Later on, gradually, the *Caityvvāsī* monks began to teach the children of the laity also in addition to their own monk-pupils who lived along with them. That new course of instruction could have been : exposition of the *Aṇuvratas*, *Śikṣāvratas* and *Guṇavratas*; bad effects of *Saptavyasana*, exemplification of *Puṇya* and *Pāpa*, elucidation of the path leading to liberation etc. The *Caityavāsī* monks, as years passed on, may have also commenced to impart general education of the primary stage to the children of the round about laity. Later some members of the lay community also may have started Primary Schools or Pāṭhaśālas. It is reasonably presumed that such primary education commenced with a salutatory sentence like 'ओं णमो सिद्धाणं।' the corrupt form of which viz., 'ओ नामासीधं' it is said, was available till the 20th century A. D. in numerous schools of Northern India.

We have already noted that during the period between the 5th and 6th centuries A. D., there appeared among the Jaina Ācāryas two categories viz., *Vanavāsī* and *Caityavāīī*. Almost during this very period, there set in the *Bhaṭṭāraka* tradition among the Digambaras. These *Bhaṭṭārakas* converted many Jaina Maṭhas (monasteries) into mini centres of religious education. It is possible that subjects like lexicography, grammar, mathematics, astrology etc. were also studied in such centres. Because numerous manuscripts of works on these subjects, besides those on religion, philosophy etc., are found even to this day systematically preserved in these maṭhas. It is also interesting to note that the *Bhaṭṭāraka* tradition is still alive in places like Latur, Pratapgad, Śravanabelagola, Moodbidri, Kolhapur etc.

An important outcome of the educational work conducted and carried over by the *Caityavāsīs* and the *Bhaṭṭārakas* etc. is that there appeared, in due course of time and under their care, manuscript libraries of varied sizes and contents. Some of them later developed into eminent libraries called *Śāstrabhaṇḍāras*. Important works of secular nature too were preserved in them. Some scholars hold that the

idea of Public Library is a Jaina one, and that the earliest *Grantha-bhāṇḍāra* (*Śāstrabhāṇḍāra*) is found is Rajastan. This tradition of Jaina Manuscript Library has come down all along to this day. Such Libraries at Jaisalmer, Patna, Arrah, Moodbidri, Kolhapur etc., have earned the value of a national asset and attract scholars from abroad too.

From this brief survey of the educational aspect of early and medieval Jainism, we gather the following points : The Jaina teachers imparted religious education to their monk-pupils regularly and directly, and to the laity through sermons. Later the *Caityas* or *basadis* also served as schools of general type of primary education, in addition to to religious education, for the children of the laity of the surrounding areas. Pāṭhaśālas were also run by some members of the lay community. The *Bhaṭṭāraka* tradition developed in their maṭhas mini centres of education, religious as well as partly general. Later, gradually, there appeared manuscript libraries in some of the basadis and maṭhas. The general type of education, however, did not make much progress so as to enter into its higher order. The reason for such state of affairs, as Dr. Altekar observes, is that the Jaina community, mostly belonging to the merchant class, did not think much about higher education for their children. They mostly trained their children in their own family business and later accomodated them therein alone. This tendency can be seen among some Jaina merchants even to this day.

Though the Jaina teachers did not build outstanding educational centres like Takṣaśila and Nālandā, the work done by them in the field of social education or mass-education is unique. Well equipped with the vast scriptural and general knowledge, bearing pure thinking and conduct, always wandering about as a model for other young monks and the pious laity, every Jaina teacher was almost a moving mini University. His sermon was a powerful means of mass-education ; the religious story (*dharma-kathā*) in the sermon was an effective medium of such education; and narration of such story in an interesting and entertaining manner was a wholesome method followed by him. Thus through various stories, the constituent (individual and social) virtues of the *Śrāvaka-dharma* and other ethical principles were imprinted on the minds of the masses. In order to keep away the common people from the seven vices (*Saptavyasana*), many Jaina teachers have told numerous interesting stories, which we can read even today in the rich Jaina narrative litera-

ture in different languages and of different periods. Thus religious or ethical instruction in an entertaining manner is the secret of successful social education or mass-education achieved by the Jaina Ācāryas. During the reigns of some of the Kadamba, Gaṅga, Cālukya and Rāṣṭrakūṭa rulers, the Jaina teachers have successfully carried out such mass-education in Karnatak. This is also true of Rajastan and Gujarat under their favourable rulers. The cumulative effect of such education in these provinces could be seen in the fact that the virtues of regard for *Ahiṁsā* etc. in general and vegetarianism in particular were nurtured by most of the people of those and later days-including the present days to some extent—in these regions. Moreover some scholars think that the percolation of the principle of *Ahiṁsā* to the very root of Gandhiji's mind is the later fruit of such age-long education by Jainism.

Another interesting factor in the educational values of Jainism is that in the day-to-day practice itself of the *Śrāvaka-dharma* by the members of the lay community is found the carrying out of some important educational principles. *Dāna* (gift), *Śīla* (protection of minor vows), *Upavāsa* (observance of fast) and *Pūjā* (worship) are the four constituents of the layman's way of pious life ; and they play a very important role in his total life. The gift of *śāstra* (books) of *jñāna* (knowledge) is one of the four facets of *Dāna* (gift), the first constituent of the *Śrāvakadharma*. *Śāstradāna* means to provide the right person with the right book (or books, the vehicles of knowledge) at the right time. The educational importance of this aspect of gift can be illustrated from a gesture of an eminent historical personage of medieval Karnatak ; when printing was unknown, with a beneficial motive of augmenting interest in (religious) literature, in 973 A. D. The great pious lady Attimabbe wife of general Nāgadeva (under the Western Cālukyas) got prepared 1000 copies of Ponna's *Śāntipurāṇa* and distributed them to the deserving ones. The worth and strength of this *Śāstradāna* is seen even today among numerous well-to-do members of the Jaina community extending a helping hand towards publication of worthy books, encouragement to scholars in their pursuits, liberal donations to educational institutions etc. A number of educational trusts have come up out of this motive in different parts of the country.

Moreover of the six duties to be carried out daily by the Śrāvaka, viz., *Pūjā* (worship, prayer etc.) *Vārtā* (the exercise of honest lively-

hood), *Dāna* (alms giving), *Svādhyāya* (self study of scriptural and other religious works), *Saṁyama* (practising self-restraint and observing vows) and Tapa (penances like Pratikramaṇa etc.), *Svādhyāya* represents an important educational tenet in the sense that it makes the layman or laywoman indulge in an ideal type of self-study daily. This can be explained just by merely enumerating the constituent parts of the act of *Svādhyāya* : *Vācanā* (reading), *Praśna* (questioning), *Parivartanā* (reception, revision), *Anuprekṣā* (meditating and reflecting) and *Dharma-kathā* (listening to or relating religious story). Hence, there would be no exaggeration if it is remarked that the way of life prescribed by Jainism for the pious lay man and lay woman, represents a perenial stress on self-education on the part of each member in the community.

Then we must take into account a very important contribution of the Jaina Ācāryas to the cause of education in general : Though the Jaina teachers did not build great educational institutes, they have composed and left for posterity a great number of treatises on many different subjects which have been serving as valuable means of higher education for the last several centuries. Their contribution to the disciplines of metaphysics, ethics, logic, philosophy, poetry, grammar, lexicography is considered as excellent and, at times, unparallelled. The work of Kundakunda, Umāsvāti; Vaṭṭakera, Siddhasena, Haribhadra, Jinasena, Udyotana, Somadeva, Hemacandra etc. are accepted as valuable gems in the syllabi of several modern universities in India and abroad. Moreover, the Jaina *Syādvāda* (Doctrine of Seven-fold Predication) has been estimated to be a rare asset of Indian thinking. Similarly it is the Jaina teachers and monks who, with devoted efforts, cultivated and gave literary status to the South Indian languages like Kannada, Tamil and Telugu. This historical phenomenon also contains an important educational principle viz., effective instruction through the medium of the mother tongue, which was practised first by Mahāvīra-Svāmi himself.

Lastly coming to the modern days, the Jaina community as a whole has been adjusting to the needs of the time. Its members have been paying sufficient attention to the educational needs of their children from their very early age and educating them in the various branches of learning both in India and abroad. Wealthy and pious members, as usual, have extended their helping hand towards building

numerous educational institutions which are open for all. Institutes like the Syādvāda Mahāvidyālaya (Varanasi), The P. V. Research Institute (Varanasi), The Vaiśāli Research Institute (Bihar) etc. sprang up and are exclusively devoted to the Jainogical and Prakrit Studies. Indological institutes like Bhāratiya Jainapith, L.D. Institute of Indology (Ahmedabad), the Bhāratīya Vidyā Bhavan (Bombay), the Orintal Institute (Baroda) etc. also are contributing Considerably to the cause of Jaina studies. Individuals as well as members with collective gesture have come forward to set chairs in Universities for Jaina studies in different parts of the country. The U. G. C. and some of the state Govts too have recently recognised the value of the Jaina and Prakrit studies. The Jaina Ācāryas also are trodding progressive path of education. Besides their usual routine of imparting religious and ethical education through their sermons to the masses wherever they stay or move, they are also playing the role of the main spirit behind building notable educational centres, were education in varied branches is to be imparted in accordance with the Jaina ideals. For example, Kothaḷī (Karnatak), Kumboj (Maharashtra) etc. represent pri nary and secondary stage of such education. The Jaina Viśva Bhāratī at Ladnun (Rajastan) has already developed into a virtual University with these ideals, where fresh interpretation of doctrines like Anekāntavāda and new experiments in scriptural teachings are going on. Another centre of these ideals and high stature viz., Ādarśa Mahāvīra Vidyāpīṭha. is said to come up soon somewhere near Ahmedabad. At Veerāyatan (Bihar) is coming up fast a unique institute with such ideals and novel experiments in the teachings of the Jina.

This brief critical survey of the Jaina path of education from the early period to the modern days, discloses some important educational principles and values which also indicate the contribution of Jainism to the field of education in India in general. They can be enumerated as follows :

(i) Carefull presevation of ancient works of lerning.

(ii) Effective education through the mother-tongue.

(iii) Mass education through sermons delivered in an interesting manner.

(iv) Self-education as a part of the daily routine of an individual—And

(v) Ahiṁsā. Aparigrha and Anekāntavāda for social health.

Select Bibliography

1. Education in Ancient India, A. S. Altekar, Varanasi, 1953.
2. Jaina Saurces of the History of India, J. P. Jain, Delhi, 1964.
3. Jaina Yoga, R. Williams, London, 1963.
4. Bharatīya Saṁskṛti meṁ Jainadharma kā Yogadāna, H. L. Jain, Bhopal, 1962.
5. Medieval Jainism, B. A. Saletore, Bombay, 1938.
6. Jainism and Karnatak Culture, S. R. Sharma, Dharwad, 1940.
7. Jainism in Rajasthan, K. C. Jain, Sholapur, 1963.
8. Āyāraṅgasutta, Calcutta, 1967.
9. Ratnakaraṇḍaka Śrāvakācāra, Bijnore, 1931.
10. Vaddārādhane, Ed. D. L. Narasimhachar, Mysore, 1935.
11. Vaḍḍārādhane : a Study, B. K. Khadabadi, Dharwad, 1979.
12. Jaina Viśva Bhāratī Samācāra Darśana. Muni Shri Rajendraji, Ladnun, 1980.

Department of Jainology,
Karnataka University,
Dharwad, Karnataka

जैन धर्म-दर्शन और विज्ञान

स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात्किंवृत्तचिद्विधिः ।
सप्तभङ्गनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः ॥

—आप्तमीमांसा ।

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण ।
अन्तेन जयति जैनीनीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी ॥

—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ।

Anekānta and Problem of Meaning

Prof. S. M. Shaha

Introduction

The doctrine of Anekānta is the heart of Jaina ontology, epistemology and logic. It claims the inderminateness of reality, its knowledge and verbal expression. If reality is infinitely manifold, logically, there must be infinite ways of intellectually cognizing it and verbally expressing its infinite aspects. This presupposition enables one to harmonize various apparently contradictory descriptions of reality. And therefore, the doctrine of Anekānta may serve as a beacon in studying the semantic, logical and epistemological problem of the meaning of 'Meaning.'

Four types of Meaning

In India, the various school of Philosophy, including those of the Sanskrit grammarians and rhetoricians have devoted much thought to the linguistic problem of meaning and have evolved different theories to explain the semantic aspect of language. As to the meaning it is supposed that a word or a sentence may convey the primary or metaphorical or suggested meaning. In addition to these three types of meaning, some Mīmāṁsakas, Naiyāyikas and rhetoricians postulate the tātparya or sentence-meaning as the fourth type. Some consider it to be independent of the first three while others associate it with one of them. Out of these four kinds of meaning, namely the primary, metaphorical, suggested and purposive, the suggested and purposive are severally indeterminate, relative, and hence anekantic in nature. But increase of primary and secondary meanings the principle of indeterminateness or anekānta involves in selecting one between them while interpreting a given statement.

Suggested meaning

Of all the four types the suggestive meaning is the most indeterminate. It depends on a number of contextual factors such as time, place, occasion, the intension, intonation, gestures etc. of a speaker and the intellectual capacity, mental frame, mood etc. of a listener or spectator. It varies from context to context. Unlike the primary and

secondary meanings it includes various socio-cultural meanings and even emotive meaning also. It is well known how numerous meanings may be evoked in the minds of different persons by the stock example, 'गतोऽस्तम् अर्कः', that is, 'the sun set.' Though the grammarians, scientists logicians and philosophers interested more in the accuracy, precision, clarity and objectivity in the use of words prefer lexical or primary meaning to the suggested one, the very indeterminate and infinite potency of the latter has rendered it more competent than the former for experiences. Because it is only through the power of connoting meanings that can not be expressed directly that the language may convey philosophical truths. In his 'Introduction to Metaphysics' Bergson says[1] : "Language is incapable of apprehending and expressing reality. But language may be used in another way, not to represent, but to bring the hearer to a point where he himself may transcend language and pass to incommunicable insight. It is a dialectical ladder which, when we have ascended, may be kicked away." This insight intuition can not be expressed directly by words, but they can be communicated through the power of suggestion.

Tātparyavṛtti or sentence meaning

Thus from the foregoing, the anekantic nature of suggested meaning becomes obvious. The same may be asserted in respect of even Tātparya-vṛtti or sentence-meaning. There is difference of approach between the abhihitānvaya theory of sentence meaning advocated by Bhātta school of Mīmāṁsā and anvitābhidhāna theory of sentence-meaning propounded by Prābhākara school of Mīmāṁsā. The former holds that the unitary meaning of a sentence is indirectly conveyed through the recollection of the meaning of the words that comprise it while the latter takes the view that the unitary meaning directly arises from the collection of the words.[2]

We neednot enter further into the controversy. Here it strikes to state that those who like Abhinavagupta, Mammaṭa, Viśvanātha etc. refer to tātparya as a separate vṛtti or function of words hold that the intention of a speaker, or the general purport of the utterance is obviously to give a united purposeful sentence-meaning. Here the dependence of meaning on the intention of a speaker (i.e., what he intends to be understood by a listener), or a general purport of the sentence involves the element of anekānta or indeterminateness. Because

so far as the intention of a speaker is concerned it is associated with different psychological contexts. It is possible for the same sign to belong to different psychological contexts ; a word may mean different things in different cases. Even the same thing can be examined from different angles without exhausting its characters ; but from the linguistic point of view we are only concerned with so much of the thing as required to elucidate what the speaker intended the listener to understand.[3] Even though what is in the mind of the speaker at the time of the utterence is something subjective, and not capable of being put to an objective anlalysis, the idea intended to be conveyed to the listener by the speaker could be determined to a great extent with the help of contexual factors.[4] Thus, as in the case of suggested meaning the dependence on contextual factors while interpreting the sentence-meaning is indicative of anekantic element in tātparyavṛtti. It is true that the Mīmāṁsakas even use the term tātparya for the purport of a passage dealing with a particular topic, and refer to six lingas by which it could be obtained objectively without any reference to the speaker or author. But in our opinion whether the real purport of the passage is identical with or different from the intention of the speaker or author, the very dependence of interpretation on the contextual factors such as six lingas as consistency in meaning between the introduction and conclusion (upakramopasaṁhārau) etc. is indicative of anekantic nature of the tātparyavṛtti or sentence-meaning.

Primary and Secondary or Metaphorical Meaning

Now let us examine the anekantic aspect of primary and secondary or metaphorical meanings. We restrict our query to the domain of philosophy only and that also particularship to the Mīmāṁsā, vedānta and Jaina systems.

Mīmāṁsā

The Mīmāṁsā devides the Veda into two parts : Vidhi and Arthavāda. Vidhi refers to the supra-mundane affairs and has to be interpreted literally, that is in the primary sense ; while the Arthavāda part roughly refers to the matters of ordinary experience. It has no logical system. It merely reiterates facts otherwise already known. Its purpose is to flatter a man into the doing of good actions or to frighten him out of evil ones. Taken independently the Arthavāda has no use.

It ought to be interpreted liberally, that is, in secondary, metaphorical or figurative sense. Thus Mīmāṁsā lays down canons of interpretation in connection with determining what portion falls under these two heads namely, Vidhi and Arthavāda, that is, the primary and secondary meanings respectively. It holds that only vidhis or injunctions are directly authoritative ; for, they teach us what to do and what not to do. Sentences which merely state something are of no use ; for, nobody gains thereby anything. Hence all the arthavādas are authoritative only in so far as they form a unitary passage with commond sentences. For example, the arthavāda, 'vāyu is a swift deity' forms a unitary passage with the injuction, 'one who wants prosperity should touch a goat relatingt o vāyu', because taken independently the arthavāda has no use, while taken as a corroborative statement of the injunction, it praises the god vāyu and suggests that a rite in connection with god is highly praisaworthy.[5]

Thus according to the Mīmāṁsakas action is the guiding principle of interpreting a particular word or sentence and ascribing to it a primary or secondary meaning. In this respect they equally attach importance to contextual fectors as well as a purport also. Even they maintain that an action consists of parts ; and words corresponding to them may be divided into parts if necessary to express their idea. consequently it follows that not only the meaning but even form of a word may also be indeterminate in nature. For example, the word 'svāhā' may be divided into sva, ā, hā meaning "(sva) the soul, (ā) leading to or associated with (hā, 'an exclamation of satisfaction) satisfaction." Hence it expresses the satisfaction of the soul with action, with result that it can eontinue to act. Similarly, if we divide the word dāna into parts,—d, ā, na—the meaning would be "(d) sacrifice (ā) associated with (na) the senses of knowledge;" and it would signify "the sacrifice or proper function of the senses of knowledge," and the idea becomes different from that of a "gift."[6] These examples illustrate one of the mīmāṁsic methods of interpretation which ascribes a special meaning to a common word by dividing it according to the context, purpose and purport. This indicates the indeterminate or anekantic aspect of their concept of meaning. The canons of interpretation laid down by the Mīmāṁsakas are of great value not only to those who want to understand the veda aright but to all who are engaged in the work of finding out the exact import of fixed texts like legal codes.[7]

Advaita-vedānta

In my article "Bādarāyaṇa and the Doctrine of Anekānta," I have discussed in details the anekantic basis of Bādarāyaṇa's philosophy. Here I may point out that his flexible usage of the primary and secondary meanings while interpreting upaniṣadic passages and there by reconciling even cotradictory philosophical views is one more dimension of his anekantic philosophy. In the Brahmasūtra he uses the terms mukhya, pradhāna etc. for denoting the primary meaning while terms such as Bhākta[8], Gauṇa or Gauṇī[9], arthavāda[10] in the sense of sencondary meaning. Thus, for example, in a sūtra चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद् व्यपदेशो· भाक् तद्भावभावित्वात्[11] he contends that the mention of these words (birth and death) with relation to moving and stationary bodies is in a primary sense while it is to be taken in a secondary sense with referenee to the individual souls in habitating them. The very idea that meaning of a particular statement may either be primary or secondary according to the intention of the author as well as the context indicates its indeterminate or relative nature. We may cite one more example. In the aphorism 'गौण्यसम्भवात्'[12], Bādarāyaṇa says, "If it be argued that the "seeing" is in a secondary sense, we say, not so, owing to the use of the word self." The sāṁkhya wants to ascribe "seeing" figuratively to the insentinent pradhāna which is referred to by the word Existence and supposed to be the primardial cause of universe. Bādarāyaṇa objects it by discarding the secondary meaning of "seeing" in favour of primary meaning and thereby he asserts that not pradhāna (i.e. prakṛti) but Brahman is the cause of universe.

From Bādarāyaṇa when we come to Śaṅkara we find that Śaṅkara uses the concept of primary and secondary meanings enormusly and exuberantly while interpreting the aphorisms of the Brahmasūtra. For secondary meaning he employs the following terms or forms :—

गुणवाद[13], गुणानुवाद[14], गुणवृत्ति[15], गुणविधि[16], गुणविधान[17], गौण[18], गौणत्व[19], गौणी[20], गौणीकल्पना[21], गौणार्थ[22], गौणवृत्ति[23], गौणबुद्धि[24], भाक्त[25] or भक्त, उपचार[26], औपचारिक[27], उपचारदर्शन[28], अमुख्य[29], लक्षणा[30], लक्षणावृत्ति[31], लक्षणाश्रय[32], लक्षणार्थोपलब्धि[33], लाक्षणिक[34], लाक्षणिकत्वसिद्धि[35], अर्थवाद[36], अर्थवादकल्पित[37], अर्थवादमात्र[38] etc. while in the context of the primary meaning the terms or forms occurring are :—मुख्य[39], मुख्यत्व[40], मुख्यार्थ[41], मुख्यसंभव[42], मुख्यार्थत्वोपपत्ति[43] etc. For example, Śaṅkara while commenting on the aphorism

परं जैमिनिर्मुख्यत्वात्[44], contends that according to Jaimini the primary meaning of the term paraṁ is the Supreme Brahman and the secondary meaning is the inferior Brahman. He further adds that between the primary and secondary meaning one readily understand the primary alone. Again while commenting on the aphorism चराचरव्यपाश्रयस्तु....[45] Śaṅkara argues that the words birth and death with regard to the individual souls, are used figuratively while primarily in the context of material bodies inhabitating them. Thus, Śaṅkara's interpretation of the aphorisms of the Brahmasūtra, in the light of primary and secondary meanings is indicative of an anekantic element involved in them. In passing, we may add that the Advaita Vedānta school following Śaṅkara has thoroughly developed the concept of purport and primary as well as secondary meaning while interpreting the Upaniṣdic Mahāvākyas such as 'That thou art' etc. For example. Vedantins like Sureśvara, Vācaspati, Vidyānāraṇya, Prakashātman, Dharmaraja, Madhusūdana consider the Mahāvākyas as 'That thou art' to be the purport of the Upaniṣads. They further make distinction between the primary and secondary meaning and try to interpret Mahāvākyas by ascribing either of it to them. Thus, Sureśvara applies Lakṣaṇā to the Mahāvākya 'That thou art' while Dharmarāja rejects it.[46] We need not enter into further details here. The very sharp differences in the interpretations of Mahāvākyas suggest the indeterminate or anekantic nature of meaning in general.

Finally, we turn our attention to the treatment of the primary and secondary meanings in the Jaina philosophy.

Jainism

The Jaina logicians, rhetoricians, grammarians and philosophers have been discussing different aspects of meaning right from the early centuries of Christian era. For example, in the epistemic and logical theories of Nayavāda, Syādvāda or Saptabhaṅgī, Nikṣepa etc. deal with the problem of knowledge and meaning thoroughly. The concept of Śabdanaya and arthanaya is indicative of their linguistic views applied to epistemology. Even to present the brief outline of these multifarious endeavours is beyond the scope of this paper. How ever, we shall precisely discuss Kundakunda's position with regard to the primary and secondary meaning.

Kundakunda's treatment

Kundakunda in his monumental philosophical work Samayasāra elucidates the empirical self from the empirical standpoint and the transcendental self from the transcendental standpoint. Since the empirical standpoint deals with the impure, accidental, pervert, superimposed and unreal condition of the mundane soul, its statement may yeild the figurative, metaphorical and secondary meaning. Again, since this accidental impurity is caused by the material body, the physical qualities like color, touch, smell, taste, form etc. are superimposed on or transfered to the self ; and conequently all non-self qualities are figuratively affirmed of the self.[47]

Thus, for example, Kundakunda contends that from the empirical standpoint the self and body are certainaly one and by lauding the holy body of Arhat one may think that the Arhat is lauded and adored. But from the transcendental or real standpoint, the qualities of body are not found in the perfect soul. He who lauds the attributes of the perfect soul, really lauds the perfect soul.[84] For, just as admiring the the city can never become admiration of the king, so by lauding the qualities of body the attributes of perfect soul are never lauded.[49] Again from the practical standpoint the remark is made of (king's) military forces, "the king has gone out," (although not) the king only out also his military forces are gone out with him.[50] Common people, seeing some one looted in the way, say, "the way is looted", but no way whatsoever is really looted.[51] Similarly, seeing the karmic matter in the soul it has been said from the empirical standpoint, "this colour etc. is of the soul".[52]

From a few examples cited above it is obvious that kundakunda's statements of practical or empirical standpoint may suggest the secondary meaning while his statements of transcendental or real standpoint may convey the primary or 'real' meaning.

It is needless to say that his doctrine of standpoints is the corollary of the theory of anekānta or indeterminateness.

Conclusion

To conclude, we may observe that a word or a sentence may possess multivalance, multilevels and multi-dimensions of meaning. Like the manifold, indeterminate and realtive reality its knowledge

as well as verbal expression may also be manifold, indeterminate and relative. It is for our practical purpose only that we fix meaning of a particular word or sentence according to the context, the intention of the speaker, the general purport and so on. However, meaning is as inexhaustible as reality itself !

Abbreviations

BS Brahmasūtra of Bādarāyaṇa

BS SB Brahmasūtra of Bādarāyaṇa with Śaṅkara's Bhāṣya.

ITM Indian Theories of Meaning. by K. Kunjuni Rājā, Adyar Library and Research Centre, Adyar, Madras, 1963.

SS Samayasāra of Kundakunda, English translation with commentary by J. L. Jaini, Ajitashram, Lucknow, 1930.

RRAD Revelation and Reason in Advaita Vedānta, by K. Satchidananda Murty, Motilal Banarasidas, Reprint, 1974.

EOIH The Essentials of Indian Philosophy, M. Hiriyanna, Allen & Unwin, 1969 7th impression.

MĪMĀṀSĀ : Mīmāṁsā, by N. V. Thadani, Bharat Research Institute, Delhi, 1952.

References

1. ITM, p. 293.
2. Ibid, p. 194.
3. Ibid, p. 182.
4. Ibid
5. RRAD, p. 68.
6. Mīmāṁsā, p. 273.
7. EOIP, p. 140.
8. BS, II, 3. 15.
9. BS, I. 1. 6.
10. BS, III. 4. 2.
11. BS, II. 2. 15.
12. BS, I. 1. 6.
13. BSSB. I. 3. 3; III. 1.7; 3.42.
14. Ibid, I. 3. 33.

15. Ibid, I. 1. 6.
16. Ibid, III. 3.19, 56, 58.
17. Ibid, III. 3. 19.
18. Ibid, I. 1.4, 6, 7. 22, II. 3.3. 5, 7. 4.1, 2, 3, III. 1.4, 25. 2.3, IV. 1.3, 12.
19. Ibid, I. 1.6, 7, II. 3.5, 7.
20. Ibid, IV. 3.8.
21. Ibid, I. 1.7.
22. Ibid,
23. Ibid,
24. Ibid,
25. Ibid, II. 3.15.
26. Ibid,
27. Ibid,
28. Ibid, I. 1.5.
29. Ibid, I. 1.7, 8, 12
30. Ibid, III. 1.22, 2.21, 3.7, 9, 4.20, IV. 1.68, 2.1.
31. Ibid, III. 3.9.
32. Ibid, I. 4.11
33. Ibid, III. 3.30
34. Ibid, II. 4.19, III. 1.10, 6.
35. Ibid, II. 4.17
36. Ibid, I. 3.32, 33, III. 3.38, 4.2, 3.38; 4.2 4.28 4.31.
37. Ibid, I. 1.7
38. Ibid, III. 3.42, 49.
39. Ibid. I. 1.4, 5, 6, 8, II. 3.29, 43, III. 1.7, 3.6, IV 1.3, 1.3 etc.
40. Ibid. I. 1.6, 14, 4.9, II. 3.5, 4.17, IV. 3.12 etc.
41. Ibid I. 1.26.
42. Ibid I. 1.22
43. Ibid III. 1.24
44. Ibid IV. 3.12
45. Ibid II. 3.16.
46. RRAD, p. 94.
47. SS. verse 61.
48. Ibid, verses 31-35.

49. Ibid, verse 35.
50. Ibid, verse 52.
51. Ibid, verse 63.
52. Ibid verse 64.

Centre of Advanced Study in Sanskrit,
University of Poona,
Poona, Maharastra

Works on anupreksā in Kannaḍa Literature

Sri Shubha Chandra

जिनधर्मावासमादत्तु
अमळ विनयदागारमादत्तु
पद्मासननिर्पा····पद्ममादत्तु
अतिविशद यशोधाममादत्तु
विद्याधनजन्मस्थानमादत्तु
असमतरळगंभीर सद्गेहमादत्तु एनिसल्के
इंतुळ्ळ नाना महिमेयोळेसेगुं चारु कर्णाटदेशं ॥

This is a Kannaḍa inscription which says about the distinguished qualities of Karṇāṭa Country[1].

It was an abode of the Jina-Dharma,
It was a mine of pure discipline,
It was the *temple* of one who is in *Padmāsana*
It was the dwelling place of fame which is exceedingly bright,
It was the birth place of lore and wealth,
It was the worthy house of matchless splendid dignity,
Thus distinguished in various glories was the beautiful Karṇāta country.

According to this inscription the very first greatness of Karnāṭaka is that it was an abode of *Jina-Dharma*. I think, this single inscription is enough for us to give a clear picture of Jainism in Karnāṭaka. It is quite natural that Jainas wrote in Kannaḍa because Karnāṭaka was the birth place of lore as we know from the above inscription. Jainas contribution to Kannaḍa literature is very rich both in quality and quantity. "The earliest cultivators of Kannaḍa language for literary purpose were Jainas. The oldest works of any extent and value that have come down to us are all from the pen of the Jainas. The period of Jaina predominance in the literary field may justly be called the *Augustan Age* of Kannaḍa literature. The beauty and the high polish of the Kannaḍa language are almost entirely due to the Jaina authors of an earlier period

1. Epigraphia carnatica, Vol. VIII, Soraba No. 261

who by writing works in chaste and dignified language have raised the literary excellence of Kannaḍa to a high standard............ Almost all the works useful for the study of the Kannaḍa language, such as those on poetics, prosody, grammar and laxicons etc. have been written by the Jainas"[2].

Jaina poets have written in Kannaḍa not only independent works on *Prathamānuyoga* but also commentaries on ancient authoritative Prakrit and Sanskrit Jaināgama works. A few Kannaḍa poets have written independent works on *anupreksā* and also commentaries to Prakrit and Sanskrit *anupreksa works*.

Anupreksā

The Sanskrit term *anupreksā*, when it is used in Kannaḍa becomes *anuprekṣe*.. Dr. A. N. Upadhye in his introduction to '*Kārtikeyānupreks..*' has discussed beautifully the etymology and meaning of the word *anupreksā*. This term has come from the root '*īkṣ*' with the prepositions '*anu*' and '*pra*', meaning, to ponder, to reflect, to think repeatedly. The *anuprekṣhās* are in general, topics of meditation or for reflection, twelve in number, and embrace a wide range of subjects particularly covering all principles and cardinal teachings of Jainism.[3] "They are in the nature of reflections on the fundamental facts of life, and remind the devotee of the teachings of the master on the subject of rebirth, Karma and its distruction, equanimity and self control, the glory of the law and the final goal. They are no doubt designed to develop the contemplative faculty of *Yogin* and may be called the starting Point of *dhyāna*. But they have also a great moral significance in as much as they are meant to develop purity of thoughts and sincerity in the practice of religion."[4]

In Kannaḍa Literature

Jaina Poets in their Kannaḍa Kāvyas as a rule write on anupreksā either in short or in long, depending on the context. If the Kāvya is a small one then the poet atleast mentions the word *anupreksā*.

2. R. Narasimhācārya, 'Karnāṭaka Kavicarite' introduction, Vol. III, 1929.
3. A. N. Upadhye, 'Kārtikeyānupreksā', Introduction, pp. 6-7.
4. K. K. Handiqui, 'Yaśastilaka and Indian culture' p. 293.

We have, in Kannaḍa literature, two poets who have written independent major works on *anupreksā*. They are Bandhuvarma and Vijayaṇṇa.

Bandhuvarma and his works

Bandhuvarma (A. D. 1200) gives no information, except his clan, about his personal details at any point in his works. He has written two major works namely '*Jīvasaṁbodhane*' and '*Harivaṁśābhyudaya*'. *Jīvasaṁbodhane* is the first work in Kannaḍa which is solely devoted to *anupreksās*. *Harivaṁśābhyudaya* deals with the life of Tīrthaṅkara Nemiṇātha. Also their is a work called '*Satidharmasāra*' in Bandhuvarma's name, which deals with the duties of Jaina women. But there is controversy regarding the authorship of this work. The term 'varma' (वर्म) in his name makes our mind to suspect whether he comes from a Kṣatriya class. But in the colophon of '*Jivasaṁbodhane*' the Poet says that it was composed by *Bandhuvarma* who was a नुत वैश्योत्तम. By this we can say that he comes from the merchant class.

Jīvasaṁbodhane'[5]

Bandhuvarma's Jīvasaṁbodhane' is the fiirst work in Kannaḍa which is fully devoted to deal with *anupreksās*. The name of his work itself is very different from other *anupreksā* works. This is an address to the souls which are in sorrow because of Knowledgelessness. This work is in *campu* style. There are in total 558 verses and also prose rendering of the same number. The noticable point here is that each verse has a prose part which almost explains what is said in the previous verse. In some places the poet says after the verse that the above verse was like a *sūtra* and it could not be understood without special exposition. Then he explains it in simple language (Ex. PP. 122-20, 216-8). Sometimes his prose looks abridged summary of the corresponding previous verses; and at some places they explain the meaning of the verse with different examples and some other places give more informations.

There is one significant feature in *Bandhuvarma's* '*Jīvasombodhane*'. He narrates most suitable stories to illustrate *anupreksās*. So for I have not come across any work of this nature either in Prakrit or in Sanskrit. We know *anupreksā* is a dogmatic subject. But *Bandhuvarma* has made

5. Ed. by. H. Shesha Aingar, Madras, 1955

this work worth reading by using appropriate similies and metaphors drawn from different walks of public life. His fluent language, intimate way of addressing the Jīva and the lucid arguments make the reader to read his work repeatedly. Sometimes he, appears to be talkative, but never he bores his readers. His usage of *deśī* words and popular proverbs are very touching and they appeal the comman man's mind. He argues with *jīva* logically as if the *jīva* is before him. He advises *jīva* as teacher or an elder, requests him as a friend, takes him to task as a very intimate person and this style is very rare in literature.

By giving suitable stories he has made his work a very good *Kathākośa* also. A detailed study of his work shows that he was indebted to Jaṭasiṁhanandi, Hariṣeṇa, Pampa, Ranna, Śāntināha, Nāgacandra, Nayasena and others for the stories he has narrated.

The table given below shows how sensible he is in selecting the stories for *anuprekṣās*.

Anuprekṣā	*Story*
1. Adhruvānuprekṣā	Sagaracakravartī
2. Aśaraṇānuprekṣā	Caṇḍakauśika
3. Ekatvānuprekṣā	Varāṅg
4. Anyatvānuprekṣā	Rāvaṇa
5. Saṁsārānuprekṣā	Vasantatilakā
6. Lokānuprekṣā	Sukumāra
7. Aśucitvānuprekṣā	Suhhauma Rāja
8. Āsravānuprekṣā :	
i. For Krodha	Dīpāyana
ii. For māna	Bāhubali
iii. For māyā	Puṣpadanta
iv. For lobha	Paṭahasta
9. Samvarānuprekṣā	Nāgilagāvuṇḍa
10. Nirjarānuprekṣā	Suvarṇabhadra
11. Bodhidurlabhānuprekṣā	Dhanyakumāra
12. Dharmānuprekṣā :	
i. For dāna	Somila
ii. For pūjā	Dhanapati
iii. For śīla	Prabhāvatī
iv. For vrata	Nāgadatta

Vijayanna and his work

Vijayanna (A. D. 1448) gives some information about himself in his work. He was not only a poet but also, like many other Jaina poets, was an ascetic. He wrote his work *'Dvādaśānuprekṣe'* at the request of Devabhūpa of Honnabandi, for the benefit of people. He composed his work in *Śāntinātha* temple at *Ammenabhāvi*, seven miles from Dharwar in Karnāṭaka. He was a pupil of *Pārśvakīrti muni.*

There are in total 1362 verses in *Sāngatga* metre and they are divided into 12 chapters. Depending on the context, to justify the particular *anuprekṣā* the poet refers to one or more than one story in one or two verses or in 3-4 lines in prose. The table given below shows the relevancy of the illustrated stories :

Anuprekṣā	*Story refered*
1. Adhruvānuprekṣā	(i) Cova, (ii) Nāgaśrī
2. Anyatvānuprekṣā	(i) Baladeva and Vāsudeva
3. Aśucitvānuprekṣā	(i) Rāvana
4. Āsravānuprekṣā	(i) Subhauma, (ii) Amitāriśakti, (iii) Amṛtamati
5. Dharmānuprekṣā	(i) Rāvana (ii) Pāṇḍavas (iii) Baka (iv) Cārudatta (v) Brahmadatta (vi) Śrimati and Vajrajangha (vii) Śriṣeṇa (viii) Danḍaka (ix) Vṛṣabhaṣena (x) Kauṇḍeśa (xi) Manḍuka (xii) Prabhāvati

Minor Works

1. *Dvādaśānuprekṣe* of *Bālacandra muni*

There is an anuprekṣā work by Bālacandramuni. Kannada inscriptions praise his name as Adhyātmi Bālacandra (1176 A. D.). He is one of the significant commentators in Kannada. He has written commentaries on *Pañcāstikāyasāra*, *Pravacanasāra*, *Samayasāra*, *Mokṣaprābhrita* and *Tatvārthasūtra*. In his *Dvādaśānuprekṣe*, there are 14 verses (vṛttas) and each verse ends with the word *'Jineśwarā'*. The poet himself has named these verses as *'jinaguṇa-stavanañgaḷ'*. This work is also called *Jina-stuti*.

2. *Kalyāṇakīrtī's Anuprekṣe*

Kalyāṇakīrti (A. D. 1439) has written *Jñānacandrābhyudaya*, *Kāmanakathe*, *Cinmaya-cintāmaṇi*, *Nāgakumāra-carite*, *Tatvabhedāṣṭaka*, *Ānanda-kandali*, and *anuprekṣe* in Kannaḍa and *Jina-yajna-phalodaya*, *Yaśodhara-carita* and a work on medicine in Sanskrit.

There are 76 verses in Kalyāṇakīrtī's *anuprekṣe*. He says that he wrote this *anuprekṣe* for boys to read and so he stands first among the poets who wrote children's literature. He is influenced by *Kundakunda's Bārasa*-aṇuvekkhā and has brought its meaning into Kannaḍa.

Two more *anuprekṣā* works have come to my notice. They are yet in the manuscript stage. The manuscripts of these works are in the library of Jainadharmaśāla, Moodabidre and a microfilm of it is in the microfilm library of Institute of Kannaḍa studies, Mysore University. Both these *anuprekṣā* works have thirteen verses each. No information about the author and other things could be known from the manuscripts.

Commentaries

(i) Vīranandi (c. A. D. 1153) in the 10th chapter of his Ācārasāra' has written on *anuprekṣā* in 12 Sanskrit verses in Śārdūla-vikrīdita metre. Vīranandi has written an auto-commentary on *ācārasāra* in Kannaḍa. Though ācārasāra is not yet published with Kannaḍa commentary, the *anuprekṣā* part of it has come to light. This part has some how entered into some of the manuscripts of *Bandhu-varma's 'Jīva-Saṁbodhane'*. In '*Jīvasaṁbodhane*' at the beginning of each anuprekṣā there is a corresponding *vṛtta* with commentary as an introduction which is taken from Ācārasāra, In the printed text of '*Jīvasombodhane*' we have got vṛttas with Kannaḍa commentary.

(ii) We have manuscripts of Kannaḍa Commentary on Kunda-kunda's Bārasa-aṇuvekkhā'. Dr. A. N. Upādhye had made a mention of one such manuscript in his introduction to '*Kārtikeyānuprekṣā*' (P. 21). This Ms. is in the *Laxmīsena Maṭha*, Kolhāpur. But he has not mentioned the name of the commentator.

(iii) I have seen a paper-manuscript of *Bārasa-aṇuvekkhā's* commentary in Kannaḍa in the manuscript library of Bāhuvali Āśrama near Kolhāpur. There are 90 gāhās in this Ms. and there is no mention the commentator.

(iv) A Palm-leaf Ms. is there with Dr. M. D. Vasantharāj in Mysore and the text is identical with Bāhubali Āśrama paper Ms. Dr. M. D. Vasantharaj's Ms. is an incomplete one and also does not give any details about the commentator.

(iv) In the Ms. Library of Jaina Mutha, Humca, there is a paper-manuscript of a commentary on Bārasa-aṇuvekkhā (No. H. 1818). In the colophon it is said, that the commentary was written in soft-Kannaḍa (मृदु कन्नड) by Śāntikītyārya. A microfilm of this Ms. is in the microfilm Library, I. K. S. Mysore University. When I compared the text of this commentary with Bāhubali-Āśrama's and Dr. M. D. Vasantharāj's Mss., it became clear that they are not identical.

(v) There is another Palm-leaf Ms. of the commentary on Bārasa-aṇuvekkhā in the Ms. Library af Jaina Dharmaśālā, Moodabidre. The commentator's name is mentioned as Bāhubali.

So far no commentary of Bārasa-aṇuvekkhā is published. Critical edition of these Kannaḍa commentaries is an urgent necessity. Dr. A. N. upadhye had already mentioned about this in his introduction to Kārtikeyānupreksā. A good critical edition of Kannada commentary may throw light on the original gāhās of *Bārasa-anuvekkhā*.

A Tamil work on Anupreksā

There is a work on anupreksā in Tamil Literature. As in Kannaḍa, the name of this work is also '*Jīvasaṁbodhanai*'. This work was written by Devendramahāmuni. No information is available on the date and place of the author. By his name we can only say that he was an ascetic. Though the work begins with the description of *Samavasaraṇa*, Gautama-gaṇadhara and king Śreṇika in a traditional way, the form and the contents are identical with the Kannaḍa Jīvasaṁbodhane. In Tamil work the verses and prose writings are in equal number and Veṇbās are always accompanied by a prose as in Kannaḍa work. The style of the language of this work is *maṇipravālam*. The stories narrated here to illustrate the *anupreksās* are identical with Kannaḍa work, except at one place. In Kannaḍa, Bandhuvarama, gives four stories to āsravānuprekse, where as Devendramuni in his Tamil work gives two more stories. Mr. Gajapati Jain opines that there is a great deal of influence of Bandhuvarma on the Tamil work.

The ideal example of Lard Mahāvīra served as a beacon light for the Jaina poets in Karnāṭaka. Because they also shared the same conviction of using the regional languages as the medium of expression. and writing for the common masses. Further the Jaina poets contributed a great deal in enriching the variety of literature in Karnāṭaka. It is because of their efforts, the people of Karnāṭaka recognise Jaina's contribution to the development of Kannaḍa language and literature.

Department of Jainology and Prakrits,
University of Mysore,
Mysore, Karnataka.

जैन आगमों में सूक्ष्म शरीर की अवधारणा और आधुनिक विज्ञान

डॉ. महावीर राज गेलड़ा

जैन आगम साहित्य में सूक्ष्म शब्द का प्रयोग अनेक पारिभाषिक शब्दों के साथ हुआ है। सूक्ष्म जीव,[१] सूक्ष्म पुद्गल,[२] सूक्ष्म शरीर,[३] सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाती ध्यान,[४] सूक्ष्म सांपराय गुणस्थान,[५] सूक्ष्म सांपराय चारित्र[६] आदि का प्रमुख रूप से उल्लेख हुआ है। सामान्यतः एक स्थूल की अपेक्षा किसी दूसरी वस्तु को सूक्ष्म और एक सूक्ष्म वस्तु की अपेक्षा किसी दूसरी वस्तु को स्थूल कहा जाता है।[७] जैन आगमों में पुद्गल के स्थूल और सूक्ष्म के भेद में परमाणु को अन्तिम सूक्ष्म कहा है।[८] स्थानांग के जीव निकाय पद में जीव को दो प्रकार का कहा है—सूक्ष्म और बादर[९]। सूक्ष्म जीव अतीन्द्रिय होते हैं तथा उन जीवों के सूक्ष्म नामकर्म का उदय होता है। कई सूक्ष्म जीव ऐसे भी हैं जो एक शरीर में एक साथ अनेक रहते हैं। सूक्ष्म जीव समूचे लोक में व्याप्त हैं और बादर जीव लोक के एक भाग में रहते हैं। विश्व स्थिति का रहस्य प्रकट करने में तथा अतीन्द्रिय विषयों के निर्णय में जैनों ने सूक्ष्म जीव के अतिरिक्त सूक्ष्म पुद्गल तथा सूक्ष्म शरीर का गहरा एवं वैज्ञानिक विवेचन किया है। सूक्ष्म शरीर, सूक्ष्म पुद्गल से निर्मित है।[१०] अतः सूक्ष्म पुद्गल के व्यवहार की चर्चा, आधुनिक विज्ञान के सन्दर्भ में करना न्यायसंगत होगा, क्योंकि प्रायः एक शताब्दी से वैज्ञानिक भी सूक्ष्म पदार्थ के अध्ययन में गहरी रुचि ले रहे हैं।

वैज्ञानिकों के अनुसार आकाश में ऐसा कोई स्थान खाली नहीं है, जहाँ पदार्थ न हो, क्योंकि ऊर्जा पदार्थ से भिन्न नहीं है। विश्व के दूरतम छोर तक भी तारों का प्रकाश पहुँचता है, गुरुत्वाकर्षण का बल रहता है। जैन दर्शन के अनुसार भी इस लोक में स्थूल तत्त्व की अपेक्षा, सूक्ष्म तत्त्व का बाहुल्य है। सूक्ष्म जीव और सूक्ष्म पुद्गल लोक के समस्त आकाश प्रदेशों में भरे हैं।[११] विज्ञान सूक्ष्म पदार्थ के क्षेत्र में अभी अनुसंधानरत है तथा स्थूल और सूक्ष्म के व्यवहार की भिन्नता पर, निर्णायक स्थिति पर नहीं पहुँचा है।

वैज्ञानिक धारणाओं के अनुसार संहति को जड़ का मौलिक गुण माना गया है। पदार्थ का सूक्ष्म रूप भी संहति से भिन्न नहीं है। जैन दर्शन सूक्ष्म पुद्गल में संहति

का होना स्वीकार नहीं करता है यद्यपि सभी स्थूल पुद्गल संहति सहित होते हैं। इस दृष्टि से जैनों की पुद्गल की परिभाषा, विज्ञान के पदार्थ की परिभाषा से भिन्न हो जाती है। संहति-शून्य पुद्गल केवल चार स्पर्श के होते हैं।[१२] वे इस प्रकार हैं—स्निग्ध, रूक्ष, शीत तथा उष्ण। इनमें गुरु-लघु के स्पर्श नहीं होते हैं अतः इन सूक्ष्म पुद्गलों के पारस्परिक संयोग में जब स्निग्ध अथवा रूक्ष स्पर्श की बहुलता होती है तो गुरु लघु के स्पर्श उत्पन्न होते हैं। (इसी प्रकार शीत और स्निग्ध स्पर्श की बहुलता से मृदु स्पर्श तथा उष्ण और रूक्ष की बहुलता से कठोर स्पर्श बनता है) जैन दार्शनिकों ने पुद्गलों के पारस्परिक संयोग का विस्तार से वर्णन किया है।[१३] जैनों ने माना है कि संहति-शून्य होने के कारण ही सूक्ष्म पुद्गल तीव्र गति से लोक के एक भाग से दूसरे भाग में एक समय में ही पहुँच जाते हैं। संहति-शून्य पुद्गल का विचार, जैनों का मौलिक है।

साधारणतः देह को शरीर कहा जाता है। जैन दर्शन में जीव के क्रिया करने के साधन को शरीर कहा है।[१४] अन्य परिभाषा के अनुसार जिसके द्वारा पौद्गलिक सुख-दुख का अनुभव किया जाता है वह शरीर है।[१५] शरीर का निर्माण पुद्गल वर्गणाओं से होता है। प्राणी और पुद्गल का प्रथम सम्बन्ध शरीर है। प्राणी का सर्वाधिक उपकारी और उपयोगी पुद्गल शरीर है। कार्य कारण आदि के सादृश्य की दृष्टि से शरीर पाँच प्रकार के बताये हैं—

१. औदारिक शरीर।
२. वैक्रियक शरीर।
३. आहारक शरीर।
४. तैजस शरीर।
५. कार्मण शरीर।

(१) औदारिक शरीर—ये स्थूल पुद्गल से बने हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस जीवों के शरीर, औदारिक शरीर हैं।

(२) वैक्रियक शरीर—छोटा-बड़ा, हल्का-भारी, दृश्य-अदृश्य आदि विविध क्रियाएँ करने में यह शरीर समर्थ होता है। देव, नारकी तथा लब्धिजन्य मनुष्य एवं तिर्यंच के यह शरीर होता है।

(३) आहारक शरीर—योगशक्तिजन्य शरीर। यह योगी मुनि के होता है।

(४) तैजस शरीर—यह विद्युत परमाणु समूह का बना होता है।

(५) **कार्मण शरीर**—जीवों की सत् असत् क्रिया के प्रतिफल बनने वाला कार्मण शरीर है।

स्थूल-सूक्ष्म

इन पाँच शरीर वर्गणाओं में सबसे अधिक स्थूल वर्गणाएँ औदारिक शरीर की हैं और उत्तरोत्तर शरीर की सूक्ष्मतर हैं। पहिले तीन शरीरों की अपेक्षा पिछले दो शरीर, सूक्ष्म कहलाते हैं।[१६] ये सभी संसारी जीवों के हर अवस्था में होते हैं। जीव के इन दो शरीरों के अलावा औदारिक अथवा वैक्रियक शरीर होता है। आहारक शरीर सम्पन्न मुनि अपने संदेह की निवृत्ति के लिए एक पुतले का निर्माण कर सर्वज्ञ के पास भजते हैं। वह उनके पास जाकर उनसे संदेह की निर्वृत्ति कर पुनः मुनि के शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। यह शरीर योगी मुनियों के ही सम्भव है। यह शीघ्र गति से गमन करता है। यह इन्द्रिय-गम्य भी नहीं होता। फिर भी यह शरीर तैजस और कार्मण शरीर की अपेक्षा स्थूल होता है, क्योंकि यह आठ स्पर्श वाले पुद्गलों से निर्मित होता है। पं० सुखलाल जी संघवी ने तत्त्वार्थसूत्र की विवेचना में स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर का अभिप्राय यह कहा है कि स्थूल की रचना परिमाण में शिथिल होती है और सूक्ष्म की सघन। स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म में अनन्त स्कन्धों की सघनता होती है। यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि सूक्ष्म शरीर, संहति रहित पुद्गलों से बने हैं, अतः वे कम आकाश प्रदेश में ही अनन्त स्कन्धों के सहित समा जाते हैं—यही सूक्ष्मता है।

सूक्ष्म शरीर के अस्तित्व को स्वीकार करने में जैनों का स्पष्ट रूप से यह प्रयोजन रहा होगा कि वे कुछ महत्वपूर्ण सिद्धान्तों को सुदृढ़ आधार दे सकें। जैसे—

(१) इस सृष्टि का कर्त्ता एवं नियन्ता ईश्वर नहीं है।

(२) पुनर्जन्म, कार्मण शरीर की भौतिक एवं रासायनिक प्रक्रिया है।

(३) सूक्ष्म पुद्गल का गमन आकाश में अप्रतिघात होता हुआ तीव्रगति से लोकान्त तक हो सकता है।

(१) जैन दर्शन ईश्वर को इस लोक का कर्त्ता व नियन्ता स्वीकार नहीं करता। जैन चिन्तकों ने सूक्ष्म विश्व का गहरा अध्ययन कर इस तथ्य को महत्त्वपूर्ण माना कि सूक्ष्म जीव व पुद्गल के स्तर पर होने वाली घटनाएँ, परिवर्तन, गति आदि उनके गुण एवं पर्याय पर निर्भर करती हैं। यह जगत् स्वयं सिद्ध है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के दायरे में सभी द्रव्य अपने गुण तथा पर्याय को प्रकट करते रहते हैं। सूक्ष्म के स्तर पर होने वाली घटनाएँ, इन्द्रिय ग्राह्य न होने के कारण, ईश्वर को इसका

नियन्ता मानना भ्रम है। संहति रहित सूक्ष्म पुद्गल, सूक्ष्म शरीर का रहस्यमय व्यवहार केवल उनके लिए अलौकिक है जो सूक्ष्म के व्यवहार से अपरिचित हैं। जैनों ने उन सूक्ष्म पुद्गलों को कर्म कहा जिसके कारण जीव सुख दुःख पाता है। कर्म जड़ है अतः सुख दुःख की प्रक्रिया भी पौद्गलिक है। कर्म के समूह जो जीव के साथ रहते हैं वे कार्मण शरीर कहलाते हैं। इस सूक्ष्म कार्मण शरीर की अवधारणा से ही जैन दर्शन में कर्मवाद का सिद्धान्त स्थिर हुआ है। कर्मवाद का सिद्धान्त अपने आप में एक स्वतन्त्र विषय है। इसी सिद्धान्त ने ईश्वर को कर्त्ता तथा नियन्ता के रूप में अस्वीकार किया है।

(२) जन्म : जन्म का अर्थ है उत्पन्न होना। मृत्यु के बाद जीव का पुनः स्थूल शरीर धारण करना पुनर्जन्म है। जैनों के अनुसार मृत्यु के साथ जीव का इस भव का स्थूल शरीर (औदारिक अथवा वैक्रियक) तो छूट जाता है लेकिन कार्मण और तैजस शरीर नये जन्म से पूर्व जीव के साथ ही रहते हैं। ये शरीर ही पुनर्जन्म के कारण हैं। ये सूक्ष्म शरीर ही जीव को गति देकर अन्य स्थान पर ले जाते हैं जहाँ नया आहार प्राप्त कर नये स्थूल शरीर का निर्माण प्रारम्भ होता है। ये शरीर पुनर्जन्म के समय जीव को नये स्थान पर कुछ ही समय में बिना प्रतिघात के लोकान्त तक भी पहुँचा देते हैं। जैनों ने इसे आश्चर्यकारी नहीं माना क्योंकि सूक्ष्म शरीर, संहति रहित होते हैं अतः गमन करने में कोई प्रतिघात नहीं होता। स्थानांग सूत्र[१७] में इसका अत्यन्त रोचक वर्णन आया है।

एक जन्म से दूसरे जन्म में जाते समय अन्तराल गति को दो प्रकार का कहा है—ऋजु और विग्रह। ऋजु गति एक समय की होती है और जीव एक समय में ही नये स्थान पर पहुँच जाता है अगर वह स्थान आकाश की समश्रेणी में हो। यदि उत्पत्ति स्थान विश्रेणी में होता है तो जीव विग्रह गति से जाता है। इस विग्रह गति में एक घुमाव होता है तो उसका कालमान दो समय का, जिसमें दो घुमाव हों उसका काल मान तीन समय का और तीन घुमाव हों तो उसका काल मान चार समय का होता है। इस अन्तर का कारण लोक की बनावट है। भगवती सूत्र में वर्णन है कि लोक और अलोक की सीमा पर ऐसे कोने हैं कि वहाँ जीव को जन्म लेने में अधिकतम कालमान, चार समय लग सकते हैं और जीव को विग्रह गति से जाना होता है। इस अन्तराल गति में जीव के साथ तैजस और कार्मण शरीर रहते हैं। अतः संसारी जीव सदैव इन सूक्ष्म शरीरों से युक्त रहता है। पुनर्जन्म का कारण भी ये शरीर हैं और इनकी भौतिक एवं रासायनिक प्रक्रिया ही

निर्णायक है जो उनके स्निग्ध एवं रूक्ष गुण पर निर्भर करती है। इस प्रकार जैनों ने पुद्गल विज्ञान के आधार पर पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्थिर किया है। परामनोविज्ञान के प्रयोगों की सार्थकता अधिक महत्त्वपूर्ण होगी जब सूक्ष्म शरीर के संहति रहित व्यवहार के क्षेत्र में नये प्रयोग होंगे।

(३) विज्ञान के अनुसार प्रकाश की गति अधिकतम होती है। जैन दर्शन में प्रकाश के पुद्गलों को आठ स्पर्श वाले स्थूल पुद्गल कहा है। सूक्ष्म पुद्गलों की गति, स्थूल पुद्गलों की गति से अधिक होने के प्रमाण जैन आगमों में उपलब्ध हैं। (१) एक परमाणु, एक समय में १४ रज्जू तक की यात्रा कर लेता है। (२) मन तथा वचन की वर्गणाएँ भी एक समय में बहुत दूरी तय कर लेती है और दूसरे के मन के भाव को जान लेती हैं। (३) सूक्ष्म शरीर भी लोक के दूरतम छोर तक सीधी गति से एक समय में ही पहुँच जाते हैं। (४) जहाँ भी चार स्पर्श वाली पुद्गल वर्गणाओं का वर्णन है, उनकी गति अत्यन्त तीव्र मानी है।

जैन आगमों में वर्णित इन उदाहरणों से काल की सूक्ष्मतम इकाई समय और आकाश की सूक्ष्मतम इकाई प्रदेश के सम्बन्ध में चिन्तन आवश्यक है। सूक्ष्म शरीर जहाँ लोकान्त तक जाते हैं उसमें एक समय लगता है तो एक आकाश प्रदेश से निकटतम दूसरे आकाश प्रदेश तक गमन करने में भी एक समय लगता है। आगमों में जहाँ भी सूक्ष्म पुद्गलों के गमन के बारे में वर्णन है, जो जीव के लिए उपयोगी है, जैसे मन, वचन, श्वासोच्छ्वास, तैजस और कार्मण शरीर, लेश्या, वहाँ उनकी गति के लिए एक समय का ही प्रयोग किया गया है। इससे यह भ्रम होता है कि संभवतः जैनों के पास सूक्ष्म काल के सम्बन्धी कोई स्पष्ट धारणा नहीं थी अथवा सूक्ष्म पुद्गल आकाश एवं काल के निरपेक्ष गमन करते होंगे। भगवती सूत्र में काल के विभिन्न मान दिए हैं[१९] तथा नारक और देवों तक के आयुष्य काल का प्रचुर वर्णन किया है। अतः यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि जैनों के पास काल की कोई स्पष्ट अवधारणा नहीं रही होगी। यह मानना न्यायसंगत होगा कि सूक्ष्म पुद्गल तथा सूक्ष्म शरीर का गमन आकाश तथा काल निरपेक्ष होता होगा, तभी वे एक समय में विभिन्न दूरियाँ तय कर सकेंगे। वैज्ञानिक आइन्स्टीन के अनुसार आकाश और काल कोई स्वतन्त्र तथ्य नहीं हैं। ये पदार्थ के धर्ममात्र हैं। सूक्ष्म पुद्गलों के लिए ही जैनों को दो द्रव्य, धर्मास्तिकाय तथा अधर्मास्तिकाय स्वीकार करने पड़े होंगे[२०] जो कि उनकी गति एवं स्थिति में सहायक हो सकें, क्योंकि स्थूल पुद्गल की गति आकाश एवं काल सापेक्ष होती है, उन पुद्गलों में संहति होती है अतः वे स्वयं के

गुण से ही गतिमान् हो जाते हैं। स्थूल पुद्गल की गति के लिए धर्मास्तिकाय तथा अधर्मास्तिकाय का होना अनिवार्य नहीं है। सम्भव यही है कि सूक्ष्म पुद्गल तथा सूक्ष्म शरीर की गति आकाश तथा काल निरपेक्ष होने से वे अप्रतिघात करते हुए गमन कर लेते हैं और लोकान्त तक भी पहुँच जाते हैं।

इस प्रकार सूक्ष्म शरीर की अवधारणा से जैन आगमों में जीव तथा पुद्गल दोनों के सूक्ष्म स्वरूप को निश्चित किया गया है।

संदर्भ

१. प्रज्ञापना पद १
२. अनुयोगद्वार (प्रमाणद्वार), ठाणं २।२
३. तत्त्वार्थसूत्र २।३८
४. तत्त्वार्थसूत्र ९।४१
५. जैन सिद्धान्त दीपिका ८।२३
६. जैन सिद्धान्त दीपिका ८।१४
७. तत्त्वार्थसूत्र ५।२४
८. जैन सिद्धान्त दीपिका १।१४
९. ठाणं २।५५
१०. तत्त्वार्थसूत्र २।३८
११. उत्तराध्ययन २६।७२
१२. भगवती २।४, प्रज्ञापना २८।९
१३. तत्त्वार्थराजवार्तिक ५।३४, ३५, ३६
१४. तत्त्वार्थसूत्र २।३७
१५. जैन सिद्धान्त दीपिका ८।२६
१६. तत्त्वार्थसूत्र २।३८
१७. ठाणं २।१८१
१८. भगवतीसूत्र १६।११६
१९. भगवतीसूत्र ११।१२८
२०. ठाणं २।१

गवर्नमेण्ट कालेज,
भीलवाड़ा, राजस्थान

जैनदर्शन में कर्मवाद और आधुनिक विज्ञान

डॉ. महावीर सिंह मुडिया

भारतीय आचारशास्त्र का सामान्य आधार कर्मशास्त्र है। कर्म का अर्थ है चेतना शक्ति द्वारा की जाने वाली क्रिया का कार्य-कारणभाव। भारतीय विचारकों ने कर्म मुक्ति के लिए ज्ञान, भक्ति एवं ध्यान का मार्ग बताया है।

जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक संसारी आत्मा कर्मों से बद्ध है। कर्म के पाश में आत्मा वैसे ही बँधी है जैसे जंजीरों से किसी को बाँध दिया जाता है। आत्मा का यह कर्मबन्ध किसी अमुक समय में नहीं हुआ, अपितु अनादिकाल से चला आ रहा है जैसे—खान से सोना शुद्ध नहीं निकलता, अपितु अनेक अशुद्धियों से युक्त निकलता है। संसारी आत्माएँ भी कर्मबन्धनों से जकड़ी हुई हैं। यदि आत्माएँ किसी भूतकाल में शुद्ध होती हों तो फिर उनके कर्मबन्धन नहीं हो सकता, क्योंकि शुद्ध आत्मा कर्म मुक्त होती है। कर्म के अनुसार फल को भोगना नियति का क्रम है। कर्म सिद्धान्त को जैन, सांख्य, योग, नैयायिक, वैशेषिक और मीमांसक आदि आत्मवादी दर्शन तो मानते ही हैं किन्तु अनात्मवादी एवं अनीश्वरवादी दोनों ही इस विषय में एकमत हैं।

जैन दर्शन के अनुसार कर्म संस्कार मात्र ही नहीं हैं, अपितु एक वस्तुभूत पदार्थ है, जिसे कार्मण जाति के दलिक या पुद्गल माना गया है। वे दलिक रागी-द्वेषी जीव की क्रिया से आकृष्ट होकर जीव के साथ दूध-पानी की तरह मिल जाते हैं। जो भी कर्म किया जाता है वह जीव या आत्मा के साथ एकमेक हो जाता है और तब तक संयुक्त रहता है जब तक कि वह अपना फल नहीं दे देता है। इस प्रकार प्राणी द्वारा किया गया कोई भी कर्म आत्मा से पृथक् नहीं रहता।

कर्मवाद व कर्ममुक्ति

जैन कर्मवाद में कर्मोपार्जन के दो कारण माने गये हैं। योग और कषाय। शरीर, वाणी और मन के सामान्य व्यापार को जैन परिभाषा में योग कहते हैं। जब प्राणी अपने मन वचन अथवा तन से किसी प्रकार की प्रवृत्ति करता है तब उसके आसपास रहे हुए कर्मयोग्य परमाणुओं का आकर्षण होता है, इस प्रक्रिया का नाम आस्रव है। कषाय के कारण कर्म परमाणुओं का आत्मा से मिल जाना, अर्थात् आत्मा के साथ बँध जाना बन्ध कहलाता है। कर्म फल का प्रारम्भ ही कर्म का उदय है। ज्यों-ज्यों

कर्मों का उदय होता जाता है त्यों-त्यों कर्म आत्मा से अलग होते जाते हैं। इस प्रक्रिया का नाम निर्जरा है। जब आत्मा से समस्त कर्म अलग हो जाते हैं, तब उसकी जो अवस्था होती है उसे मोक्ष कहते हैं।

वैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर कर्म सिद्धान्त का स्पष्टीकरण

पुद्गल द्रव्य को २३ वर्गणाओं (classification) में रखा जाता है। इन वर्गणाओं में से कार्मण वर्गणा भी है जिसका अर्थ ऐसे पुद्गल परमाणुओं से हैं जो जीव द्रव्य के परिणमन के अनुसार (कभी शरीर, कभी मन, कभी वचन और कभी श्वासोच्छवास के रूप में) अपना स्वयं का परिणमन करते हुए जीव द्रव्य का उपकार करते हैं। इन कार्मण वर्गणा रूप पुद्गल परमाणुओं का जीव द्रव्य के साथ संयोग होने की प्रक्रिया वैज्ञानिक आधार से निम्न रूप में समझी जा सकती है :—

यह सम्पूर्ण लोक इन कार्मण वर्गणा रूप पुद्गल परमाणुओं से ठीक उसी प्रकार भरा है जिस प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में विद्युत चुम्बकीय तरंगे (electro magnetic waves)। ये परमाणु बहुत ही सूक्ष्मतम होने के कारण तरंग रूप में गमन करते हैं। यदि तरंग लम्बाई (λ) तथा आवृत्ति (n) तो $c = n\lambda$ c = प्रकाश का वेग।

अब एक खास आवृत्ति की विद्युत चुम्बकीय तरंगों को एक प्रापक (receiver) द्वारा पकड़ने के लिए उसमें एक ऐसे oscillator दौलित्र का उपयोग किया जाता है कि यह उसी आवृत्ति पर कार्य कर रहा हो। इस विद्युतीय साम्यावस्था (Electrical resonance) के सिद्धान्त से वे आकाश में व्याप्त तरंगे प्रापक द्वारा आसानी से ग्रहण कर ली जाती हैं।

ठीक यही घटना आत्मा में कार्मण स्कन्धों के आकर्षित होने में होती है। विचारों या भावों के अनुसार मन, वाणी या शारीरिक क्रियाओं द्वारा आत्मा के प्रदेशों में कम्पन उत्पन्न होते हैं। इन कम्पनों की आवृत्ति कषायों की ऋजुता या घनी संक्लेशता के अनुसार होती है। शुभ या अशुभ परिणामों से विभिन्न तरंग लम्बाइयों की तरंगे आत्मा के प्रदेशों से उत्पन्न होती रहती हैं, और इस प्रकार की कम्पन क्रिया से एक दोलित्र (oscillator) की तरह मान सकते हैं, जो लोकाकाश में उपस्थित उन्हीं तरंग लम्बाई के लिए साम्य (resonance) समझा जा सकता है। ऐसी स्थिति में भाव कर्मों के माध्यम से ठीक उसी प्रकार की तरंगे आत्मा के प्रदेशों से एक क्षेत्रावगाही सम्बन्ध स्थापित कर लेती हैं, और आत्मा अपने स्वभाव गुण के कारण विकृत कर नयी-नयी तरंगे पुनः आत्मा में उत्पन्न करती है। इस तरह यह

स्वचालित दोलित्र (self oscilleted oscillator) की भाँति व्यवहार कर नयी-नयी तरंगों को हमेशा खींचता रहता है। इसे जैन दर्शन में आस्रव कहा है।

ये पुद्गल परमाणु आत्म-प्रदेशों में एक क्षेत्रावगाही सम्बन्ध ही स्थापित करते हैं न कि वे दोनों एक दूसरे में परिवर्तित हो जाते हैं। ऐसे सम्बन्ध के बावजूद जीव, जीव रहता है और पुद्गल के परमाणु अपने परमाणुओं के रूप में ही। दोनों अपने मौलिक गुणों (Fundamentel properties) को एक समय के लिए भी नहीं छोड़ते। जैन दर्शन ने इस एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध को ही बन्ध कहा है।

यदि आत्मा के प्रदेशों में परमाणुओं की कम्पन-प्रक्रिया ढीली पड़ने लगे, तो बाहर से उसी अनुपात में कार्मण परमाणु कम आयेंगे अर्थात् आकर्षण-क्रिया हीन होगी, अर्थात् संवर होगा। जब नई तरंगों के माध्यम से पुद्गल परमाणुओं का आना बंद हो जाता है तो पहले से बैठे हुए कार्मण परमाणु damted oscillation मंदित दौलित होकर निकलते रहेगें अर्थात् प्रतिक्षण निर्जरा होगी, और एक समय ऐसा आएगा जब प्रापक का दौलित्र oscillator कार्य करना बंद कर देगा। निर्विकल्पता की उस स्थिति में योगों की प्रवृत्ति एकदम बंद हो जायगी और संचित शेष न रहने पर फिर प्रदेशों की कम्पन क्रिया का प्रश्न ही नहीं उठेगा, अर्थात कर्मों की निर्जरा हो जायगी। सम्पूर्ण कर्मों की निर्जीर्णावस्था ही मोक्ष कहलाती है।

उदयपुर विश्वविद्यालय,
उदयपुर, राजस्थान

Scientific Contents of Jaina Canons : Aṣṭapāhuḍa by Kundakunda

Dr. N. L. Jain

Introduction

Jainas form a small community in India professing pluralistic philosophy propagated by Lord Mahāvīra and his predecessors in pre-Christian era. They have specific contributions to the various branches of Indian science like Mathematics, astronomy, chemistry and philosophy. However, this field remains unexplored for quite long and it is only recently that academicians all over the world have taken great interest in assessing this contribution in proper perspective. Several authors have shown that Jaina canons have a large amount of material, which if it would have been known, the progress of science would have been definitely much accelerated. Attempts are, therefore, being made to study these canons for their scientific contents and their critical and comparative evaluation. This paper is also an attempt in this direction.

Definition and specification of Canonical literature

Indologists including non-sectarian Jainologists have to face great difficulty in defining and specifying the word Canon or *Āgama*. Normally, this word came later than *Śruta* (heard),[1] i. e. knowledge gained by hearing from the great tradition of seers. Once these words became synonymous but now *Āgama* has dethroned *Śruta* as it is defined as containing consistent[2] and non-controversial[3] knowledge while the *Śruta* may be otherwise also. *Āgama* is said to be more weighty than *Śruta* as it is said to be older. However, this author feels them to be equally positioned in the sense that both of them contain records of the knowledge of the past.[4] Their authenticity is based on the specific qualities after Mahāvīra. It is said that his teachings were in short which were developed by his disciples.

Besides definition, specification of *Āgama* or Canon poses more complexity. Different opinions are available in literature about the loss, preservation or modification of the teachings during the first one

thouand years after his *Nirvāṇa* (527 B. C.).[5] Available accounts confirm that they could not be preserved in ditto as neither parental nor proper teacher-taught-based memorisation could exist in Jaina tradition in periods when writing process was not common.[6] The modern scholar of east and west is, therefore at a fix to decide whether the current *Āgamas* exist in original. It is, however, agreed by scholars of all camps that the present *Āgamas* are quite modified versions of the original ones[7] and it is now very difficult to tell the original parts in them. These have been prepared during 527 BC to 600 AD. The Digambara sect does not authenticate the available *Ardhamāgadhī Āgamas*. They have what they call Āgamalike books—the two most important ones were written by scholars of 100-200 AD[8]. They have some more āgama like books written at about the same period by Kundakunda, Umāswamī and others. Thus, one has to assume that the literature compiled or produced between 527 BC and about 600 AD may safely be called Agamic literature, the commentaries being excluded.

Scientific Contents of Agamic Literature

Agamic literature has a variety of contents including this world and its inhabitants despite its spiritual bias. Akalaṅka[9] has described its contents in 6-7th century. Sādhwī Kanakashri[10] has lately elaborated them. Assuming to be the records of knowledge of the period it was composed, its study agewise may give us an idea how much we have gained or lost in our knowledge within and without. This expectation seems little too much in view of the remarks of Pt. Sukhlal[11] Sanghavī that the Jainas have been mainly believers and therefore, timebound newness or progress in their canonical contents is not visible as in other systems of Indian philosophy. This may be partially true for which there are reasons which have not been elaborated though it requires basic studies.

Many authors[12] have shown that the scientific contents of number of *Āgamas* are quite ahead of their times pointing out the acute observational and keen intutional power of the seers. This paper presents the scientific contents of one more āgama like book *Aṣṭapāhuḍa* by Kundakunda of early Christian era It has not been reported so far and therefore, it will be interesting.

Aṣṭapāhuda : an Introduction

Aṣṭapāhuda[13] is a Prakrit work containing eight independent chapters or treatises named after important religious principles. It contains five hundred *gāthās* describing why and how to achieve self-realisation and what are its merits. The composition has all the characteristics Bhatt[14] has mentioned. Here, one finds similarities with *Gītā* and vedantic concepts. As self-realisation connotes the idea to move away from this temporary body and world, there is sufficient material about them in it. Many of the subtle religious points are explained through physical similies and contrasts a literary beauty about Kumar[15] and Sahityacharya have drawn attention. All this certainly reflects an all-round scholarship of its author Kundakunda whose biography is subject to much speculation. Scholars agree to his long age during 1-3rd century A. D. before Umāswāti–his disciple.[16] He has authored many more valuable granthas and perchance one of the first great scholars who holds profound influence on scholars and common man even today.

This work has a Sanskrit commentary (on 6 chapters) by Śrutasāgara Sūri of 16th. century and a Hindi one by Pt. Jaichand of 19th. century. *Ṣatpāhudas* with Sanskrit commentry were published by Manikchand Granthmālā, Bombay. *Aṣṭapāhudas* with a Hindi Tīkā by Pannalal Jain, Sahityacharya have been published by Shantivir Jain Sansthan, Shrimahavirji, in 1967. This edition forms the basis of the Present paper. Its scientific facts and statements cover many disciplines of science.

Knowledge and methods of obtaining it

In literature,[9] knowledge has been defined in three ways–actively, passively and abstractively. It is the agent, instrument as well as act of perceiving the self and non-self which may be material, non-material, conscious, non-conscious, present, past or future. It illuminates all and pervades all types of knowables. Kundakunda describes it in an active voice in CP,[15] NS[2] and PS.[17] As the knower is the conscious self, all the above three definitions lead to the synonymity of the self and knowledge like that of saying hotness and fire being the same, the instrument being inseparable from the agent-self. Akalaṅka has elaborated this point logically very well. Samantabhadra of 4th century seems to give a better definition in *Ratnakarandaka*[18] describing it as a medium

through which neither more, nor less but accurate about an object is known. This, I think, is the most up-to-date definition of the word Science of today, thus equating knowledge and science together. This inference may not be digestible to the traditionalists, as the word Science has many unpalatable connotations. This definition is just an elaboration of Kundakunda but better fitted for modernists to have their faith stabilised in *Āgamas*. However, this knowledge should be taken of right or *samyaka* type which does not have uncertainty, doubt and error. This knowledge is said to be the pervasive cause of the right faith in the knower (BP. 14) and their words-*Āgamas*. Many common substances have been used to illustrate its various physical and spiritual qualities as shown in Table 1.

Table 1 : Similies for knowledge

S.No.	Simily	Quality	Example	Ref.
1.	Water	cleaning property	wiping out bad thoughts	CP. 41
			wiping diseases	BP. 91
2.	Needle	small, pinpointed	no salvation without *Jnāna*	SP. 3-4
3.	Fragrance	pervasiveness	knowledge pervades faith	BP. 14
4.	Controlrod	controlling power	knowledge controls mind	BP. 78
5.	Hand	swimming power	cross the sea of lust	BP. 155
6.	Weapon	cutting /killing capacity	cutting lepers of *Māyā*	BP. 156
7.	Sun	illumination	*Jnāna* illuminates self and others	
8.	Chariot	vehicle for movement	chariot of knowledge for salvation	
9.	Gem	status symbol	importance of knowledge	DP-20

The knowledge is useful in deciding good or bad. It is the essence of human life (DP-31). It leads us to learn about living and non-living. There are two types of knowledge importance for common man–the first one being sensory while the other one being scriptural (BP. 23). The latter is known as *Śruta* or *Āgama* in the form of *Śutras* which must be understood properly. It is said that the sensory knowledge is inferior

one hence secondary and should not be pursued (PS-53). This topic has been dealt with elsewhere.

There are nine ways to obtain knowledge about an object which involve four ways of verbal statement by name, representation, potentiality and present state (BP-28). After the nomenclature, the gross internal and external properties could be learnt followed by structure, preparation, properties and uses of the object. If the object is a living one, it should be studied under the following heads depicting its physical and spiritual aspects (BP. 31) :

(i) 14 *guṇasthānas* or spiritual steps,
(ii) 14 mārgaṇās or quests,
(iii) 6 paryāptīs or builders,
(iv) 10 prāṇas or effects,
(v) 14 Jīvsamāsas or soul classes,

Details about them are available in Kundakunda and other *granthas.*

The Physical world

There is a large amount of description of the physical world in various chapters. It has a volume of 343 *rajjus*[19] (1 *rajju* = 10^{21}c. miles)[20] with a definite shape. It consists of 5 astikāyas (bodies) 6, dravyas (substances) 7 *tattvas* (realities) and 9 *padārthas* as below in Table 2-the different terms having the same meaning. A man knows about them with his instrument of knowledge through nine or five heads as the case may be.

Table 2. Constituents of the World[21]

2 Substances	5 bodies	6 substances	7 realities	9 padārthas
Living	Living	Living	Living	Living
Non-living	Motion medium	Motion medium	Non-living	non-living
	Rest medium	Rest medium	Āsrava	Āsrava
	Space	Space	Bandha	Puṇya
	Matter	Matter	Saṁvara	Pāpa
		Time	Nirjarā	Bandha
			Nirvāṇa	Saṁvara
				Nirjarā
				Nirvāṇa

These constituents seem to be differing in number, but substantially, they are just modifications of the two basic realities. Kundakunda has described all the classifications prevalent in his period—different schools preferring their own views depending their object of composition. With spiritual aspect, 7 or 9 were accepted while with physical aspect, 2, 5 or six constituents were given. The difference is only in classifying non-living with time or without it. The current following goes with 6 or 7 constituents. Looking to the spiritual object of the book, the details about them are not found here. But during normal treatments, some prevalent practices and concepts regarding chemical and biological sciences are observed therein. An attempt has been made here to put them collectively so that the future scholars may use them for further critical and comparative studies.

Chemical Sciences

Normally chemistry deals with sense perceptible substances and phenomena associated with them. Following chemical facts find mention in this book :

(i) Parmāṇu or atom has been mentioned in many ways showing the prevalence of atomic theory in those days. This has been described by the author in his other treatises. (NS, PS)

(ii) Metals like gold, silver, lead and some others find mention. Not only this, method of obtaining and purification of gold has also been described. Gold is obtained by fusing it with borax and purified by blowing it with a mixture of borax and salt. Similarly, gold can also be obtained when a lead ore is heated with the root of *Nāgafanī* tree and urine of an animal, per chance lead volatalises leavig gold. It is tested by rubbing, beating, heating and drilling. These methods are explicable from today's chemical principles. Metals other than gold are termed as *Hiranya*. It seems that the household in south had a very much charm for gold which is still in vogue. (SP, MF)

(iii) Two types of poisons have been mentioned : plant poisons and animal poisons. Both of them are harmful leading even to death. (SP)

(iv) It is mentioned that air is necessary for burning of wood or fuel, though the winds have different effects on the process. The lamp

also burns in air. (SP, BH)

(v) Water is not only purifier but it is also purified by alum–a practice used even today.

(vi) There are five types of fabrics : Natural silk, cotton, woolen, jute and skin. These are still in use with details. (MP. 79)

(vii) Various types of gems have been mentioned as metaphors. Out of them, the diamond has been shown to be the best. The gems form a refracting surface and rays appear to come from them. *Māṇikya*, *Bajra*, *Sphaṭika* and ruby red also find mention. They are all natural ones.

(viii) A traditional statement also occurs that the sea contains gems.

(ix) The isotropic nature of salt crystal has been pointed out.

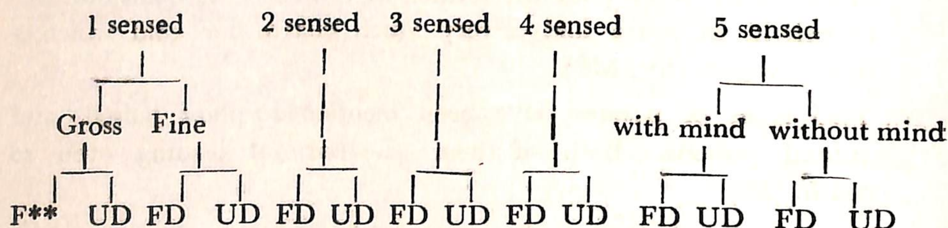
(x) Pervasiveness of oil in til, butter in milk and fragrance in flowers are established facts even of today.

(xi) Insolublity or inertness of stones to water has also been mentioned. (BhP. 93)

Biological Sciences

The biological sciences deal with living substances of all kinds from fine to gross and from one sensed to five sensed. Kundakun da has described them to be in the form of six *kāyas* or fourteen *jīvasamāsas*, as shown in Table 3 elaborated later to 98 varieties, on sense basis–a better way of classification based on other factors.[22] If the one-sensed variety is subclassified in five and development is taken in three forms rather than two, then by addition of all the forms, one gets 98 varieties as shown in Table 4 (BhP. 95, Commentary).

Table 3 Classification of Living Substances
Living Substances



* FD—Fully developable ; UD—Undevelopable.

Table 4. 98 Varieties of Living Substances

Type	Varieties	no. development types	Total	Yonis (lacs)
1 sensed fine earth-air	4	3	12	7×4
1 sensed gross earth-air	4	3	12	
1 sensed plants				
general : gross/fine	2×2=4	3	12	14
special	2	3	6	10
2 sensed	1	3	3	2
3 sensed	1	3	3	2
4 sensed	1	3	3	2
5 sensed animals with/without mind				
(a) Uterine	2×3	2	12	4
(b) Spontaneous	2×3	3	18	-
5 sensed (c) Lands of paradise	2	2	4	-
5 sensed human beings				
Lands of paradise, hell and mlecchas	3	2	6	14
(ii) Āryas	1	3	3	
Gods	1	2	2	4
Hellish	1	2	2	4
Total			98	84

All these take their birth in 84 lac nucleii (*yonīs*) (Bh P. 47) and 1975×10^{11} physique (*kulas*) by sexual, asexual or spontaneous and special methods. The basic living substance has been defined in *Bhāva-prābhrita* (64) as being tasteless, odourless, soundless, colourless, sexless, invisible and conscious. SS and NS add qualities of touchless and skeltonless to it. It cannot be recognised by any outward sign. This definition is based on realistic approach rather than practical and is far too short of other description with 23 qualities discussed elsewhere.[22] All this did not connote any meaning to, the modern scientists. Still as the time went on and his conceptual and practical technics developed, he could see and realise many things defined in a similar way in the past. He could surmise these adjectives were given to entities too small to be seen or experienced by the physical senses. He has gone upto

the DNA and RNA as the basic chemical unit of life[24] but is has been impossible to think of such a formless entity as described in Āgamas. Now-a-days, however, many indescribable particles like photos, neutrinos and others have come to stay to resolve problems relating to some basic physical phenomena.[25] At present, nobody is in a position to equate these with the Āgamic soul despite $1 million dollar outstanding award for such an eventuality.

Many details of 1, 2, 3 and 4 sensed beings are available in other literature[9] but Kundakunda has narrated only the basic ones without exemplifying them. His followers have also not elaborated them in a desired way in comparison to human beings, though some animals and plants find mention.

Plant Kingdom

It is described that a tree grows through root, shoot stem, branches, flowers and fruits. Its growth is hampered if the root is cut, dug, dried or destroyed. There are various types mentioned such as those (i) growing from root (ii) shoot (iii) leaves (iv) seeds (v) flowers and (vi) stems. The names of grass, sugar cane, seasame, māltī flower candana tree, asafoetida, food crops, keśara and others appear-supposed to be in common use in those days.

Animal Kingdom

The animal kingdom (except human beings) starts with 2 sensed beings and they are called oblique movers. There is not much description about them but some names like the worms, micro-organisms, tortoise, fourfooted animals (cows etc.), various fishes, crow, serpents, *śeṣhnāga* and some others appear which must be known at that period. They are mentioned only indirectly.

Human Kingdom

It has been pointed out that men generally have a uterine birth with his body developing in the womb during 9-10 months by taking necessary food. The food causes them to take body, senses, language, mind and breathing and supplies energy to keep him alive through metabolic changes. In order to have a better life, one must have his

food devoid of 46 disqualifications. His physical body consists *eight* visible parts : 2 feet, 2 hands, head, breast, chord and hips. It has bones, blood, liver, spleen, biles, bacterias, semen and other things. It has been stated that the body should be hated because it contains the above dirty things inside and outside. The womb is the dirtiest. However, the body of the *tīrthaṅkaras* has many special properties contrary to this notion. Their body is symmetrical with hard joints and fragrance. Beard and moustaches do not grow to them. Their blood and flesh is white. They do neither sweat nor excrete. They do neither grow old nor become patients. It seems these are all wonders associated with them for their glory (Bh P). They lack scientificity.

The body may die 66336 time in about 2500 seconds. It has been stated that it could contain 96 diseases in an *aṅgula* (i. e. 1.5 cms.) and there could be a total of 56899584 diseases in the whole body. This leads to the size of the body as 592704 *aṅguls*, i. e. the size and area of the body could be about 5000 times the current body size–an incredible statement. However, internal and external burns, dehydration, thirst and old age have been mentioned as common diseases. Perchance, the hatred to the body has been so much that this excessive language and figures have been used rather than reality. Similarly, it has been stated that the women have micro-organisms in almost all important parts of their body and innumerable cells die during coitus and menses. Because of this, they do not qualify for salvation direct (SP) while men do despite the fact that they also have a little less but still innumerable micro-organisms (not mentioned). Perchance the hatred to the body has been shown by this excessive language and figures. In addition, the body can suffer four kinds of sufferings : accidental, mental, natural and physical. Death may occur due to poisoning, blood haemorrage, fear, arms, absence of food, obstruction of breathing, mental torture, acute cold and heat, fall from trees and mountains, injury to body parts and erroneous medication. (Bh P-25-26).

Men have been classified as in Table 4. They may follow different professions in the service of the community. Fourteen are mentioned which show that alcohol shops and prostitution must be there. Nurses were also there. The scholarly sadhus had their duty to guide the community to the right path.

Conclusion

From the above description, it is observed that *Aṣṭapāhuda* contains only general observations and traditions and does not contain even as much information and concepts of scientific nature as are contained in some other works of the Jainas. It seems that Kundakunda did not peep deep into these matters in view of his attitude of denouncing the physical world. Later scholars of his school followed him without much addition, thus causing stagnation in intellectual field. Some āchāryas, however, have tried to add to the definitions and clarification of some contents like classification of *Pratykṣa* by Aklaṅka and bond formation by Vīrsena. However, there exists a wide gap between older *Śruta* and Kundakunda school which should not be taken as a reflection on their scholarship as they were spiritualists and they played best through their literature to boost up the moral character of the people.

During the last 1800 years, much advance has been made in the scientific contents about the physical world and the gap is further increased. It is the duty of present generation to crack off the above stagnation and close the gap so that the catastrophic religious attitude of the current generation may be improved.

Abreviations

SS : Samayasāra; NS : Niyamsāra; PS; Pravacanasāra

BP : Bodhaprābhṛta; DP : Darshana Prābhṛta; CP : Caritra-prābhṛta

SP : Sheela Prābhṛta; BhP : Bhāvaprābhṛta.

References

1. Muni Nathmal : Daśavaikālika-Eka Samīkṣātmaka Adhyayana; JST Mahāsabhā, Cal, 1967
2. Ācārya Kundakunda : Niyamsāra, CJH, Lucknow, 1931
3. See ref. 1
4. Jain, N. L. : in KC Śāstrī Fel. Vol., pp 388, Rewa, 1980
5. Ācārya Umāsvātī : Tattvārthsūtra, Comm. by Pt. Sukhlal, PVRI, Varanasi, 1976
6. Malvania, Dalsukh : Āgamayuga kā Jaina Darśana, Sanmati Gyānapītha, Agra, 1966

7. Siddhāntśāstrī, PC : (Commentary) Tattvārthasūtra, Varṇī Granthamālā, Kashi, 1950

8. Śāstrī, KC : in Saṭprarūpaṇāsūtra, Varṇī Granthamālā, Kashi, 1971

9. Akalana Dev : Tattvārthvārtika, Bhāratīy Jnanapītha, Kashi, 1949

10. Sādhwī Kanakaśrī : in KC Śāstrī Fel. Vol., Pp 193, Rewa, 1980

11. See Ref. 5 pp 45

12. (a) Jain, N. L. in SC Diwakar Fel. Vol., 4.62, Jabalpur, 1976
(b) Lodha, KL : in Marudhar Kesri Volume, 1968;
(c) Lishka, SS & Sharma, SD in KC Shastri Fel. Vol. pp. 439

13. Ācārya Kundakunda, Aṣṭapāhuda (Tr. Sāhityācārya, PL), SS Saṁsthāna, Mahavirji

14. Bhat, B. : unpublished paper read in KCS Fel. Seminar, Delhi, 1980

15. Kumar, Amitabha : in KC Shastri Fel. Vol. pp. 207, Rewa, 1980

16. Siddhāntśāstrī, PC : in Sarvārthasiddhī (Tr.), Bharatiya Jnānapītha, Delhi, 1971

17. Ācārya Kundakunda : Pravacansāra, Patni Jaina Granthamālā, Maroth, 1950

18. Swāmī, Samantabhadra Ratnkaraṇdaka

19. Ācārya : Kundakunda, Bhāvapṛābhṛta in AP, ibid, 1967

20. Muni Mahendrakumar 11 Viśva Prahelikā, Pp. 233, Javeri Prakashan, Bombay, 1969

21. Āchārya Kundakunda : Darśana Prābhṛta in AP, ibid, 1967

22. Jain, N. L. : see Ref. 12a

23. Ācārya Kundakunda : Bhāvprābhrta, 95 in AP, ibid, 1967

24. Don E Meyer & VM Dryden : An Inquiry into Life, HBW Inc., NY, 1963

25. Chakravarti, PB : Parmanu Samrachana, MP Hindi Granth Academi, Bhopal, 1973

On Contribution of Jainology to Indian Karma Structures

Prof. L. C. Jain & C. K. Jain

1. Introduction to the Contents

From the *Saṭkhaṇḍāgama* (c. 2nd ceutury A. D) and the *Kasāyapāhuḍa sutta* (c. 1st century A. D.) Prakrit texts, Nemicandra (c. 11th century A. D.) compiled in abstract form the texts known as *Gommaṭasāra* and *Labdhisāra* respectively. The author has contributed three research papers regarding the contents of these volumes.[1] The commentaries on the works of Nemicandra were prepared respectively by Keśavarṇ[2] (c. 14th century A. D.) Nemicandra[3] (c. 16th century A. D.). Mādhavacandra Traividya[4] (c. 1203 A. D.) as well as Ṭoḍaramala[5] (c. 1761 A. D.), Abhayacandra Saidhāntī[6] (c. 13th century) is also known to have compiled a commentary.

The approach to the topics is set theoretic[7] and methodology

---

1. (a) *Ṣaṭkhaṇḍāgama* with *Dhavalā* commentary, vols. 1-16, Amaraoti and Vidisha, of H. L. Jain, 1939-1959.

   (b) *Mahābandha*, volumes 1-7, Bhāratiya Jñānapītha, Kashi, 1947-1958.

   (c) *Kasāya Pāhuḍa*, *Jai Dhavalā* commentary, Jaina Sangha, Mathura (series). Cf also cūrṇi sūtras of Yativṛṣabha, Calcutta, 1955.

   (d) *Gommaṭasāra* and *Labdhisāra* of Nemicandra, 'siddhānta cakravartī' alongwith *Manda bodha Prabodhīnī*, *Jīvatattva Pradīpikā* and *Samyak-Jnana Candrikā* commentaries, edited by G. L. Jain & S. L. Jain, Calcutta, C. 1919, (including *Artha Samdṛṣṭi* chapters contributed by Ṭoḍaramala).

2. Cf. 2 (d)
3. Cf ibid.
4. Cf ibid.
5. ibid.
6. Cf. ibid.
7. Jain,L. C., Set Theory in Jaina School of Mathematics I. J. H. S., vol. 8 nos. 182, 1973, pp. 1.27

symbolic.[8] In the earlier portions of the texts, post universal *Lokottara* measures *pramāṇa* are set up in relation to the bios detailed with respect to individual control station *guṇa sthānas*.[9] The next part of *Gommaṭasāra* (*Karma-kāṇḍa*) details about the theory of karmic bonds, rise and state in structural forms.[10] The material in *Labdhisāra* deals with the dynamics of the karma system in an elaborate mathematical approach.[11] The equation of motion of the complex system dealing with the nisusus (*niṣekas*) expressible as tatrads of (i) Configurations (*prakṛtīs*) (ii) *mass numbers* (*pradeśas*), (iii) *energy-levels* (*anubhāga aṁśas*) and (iv) *life-time* intervals (*sthiti*) pose the most trying problems of bio-science phenomena.[12]

2. Structures in Karmic Masses

One may recall the treatment of an instant-effective-bond (*Samaya-prabaddha*) in a previous research paper.[13] In order to understand the structure of a nisus, with life-time zero to prescribed instants, one has to give a general expression to the instant-effective-bond in terms of the configuration, the syeer-vector-group and the geometric regression. Let $B^{C^{\alpha}}_{S_{\beta} G_{p}}$ denote the set of karma particles of C_{ath} configuration ($\alpha = 1, 2, \ldots$), of $S_{\beta th}$ super-vector-group (β 1,2, ...) of karma particles

8. (a) Jain, L. C., On the Jaina School of Mathematics, C. L. Smriti Granth, Calcutta, 1967, 265–292 (Eng. Sec.)
   (b) Jain L. C., Jaina, Mathematical Contribution of Ṭoḍaramala of Jaipur, The Jaina Antiquary, Vol. 30, no 1, 1977, pp 10-22.
   (c) Jain, L. C., of Perspectives of System—Theoretic Technique in Jaina School of Mathematics, between 1400-1800 A. D., Jain Journal, Calcutta, Vol. 13, no 2, Oct. 1978, pp. 49–66.
9. (a) Jain, L. C., Mathematical Foundations of Karma : Quantum System Theory, I, Anusandhan Patrika, Jaina Viśva Bharati, Ladnun, 1073, pp 1–19.
   (b) Jain, L. C., System Theory in Jaina School of Mathematics, I. J. H. S., vol. 14 no. 1, 1979, pp 31–65
10. Cf. ibid.
11. Cf. 8 (c) and 9, op cit.
12. Cf. ibid.
13. Cf. 9 (a), op. cit., and Cf also 7, op. cit.

contained in $G\gamma$th geometric regression ($\gamma=1,2,\dots$) of the instant-effective bond (*Samayaprabaddha*) which varies in its contents of karma particles according to variations in *Yoga* or volution and *kaṣāya* or affection. Thus not only B varies, but its subparts in C_α S_β and $G\gamma$ also have varied values, every instant. Let the vector groups contained in (*vargaṇā*) be denoted by W^I_v where I denotes indivisible-corresponding-sections (*avibhāgī* praticchedas) of affine or antiaffine energy-levels (*anubhāga aṁśa*) of impartation controls in each of subscupt V of vectors (*vargas*) contained in a particular vector group. Here I will represent the least value of I, $*S_\alpha$ will denote the total number of super-vector-groups (*spardhakas*) contained in a geometric regression (*guṇahāni*) corresponding to C_{ath} configuration of karma, and d will denote the common difference through which the vectors go on decreasing at every next step, in the next nisus having an instant less of life time for a particular configuration.[14]
Thus,

$$B^{C_\alpha}_{S_\beta G_\gamma} \equiv \frac{W_V^{\beta i * S_\alpha^{\gamma-1}}}{2^{\gamma-1}} - \frac{(\beta-1)i\, S_\alpha^{\gamma-1}}{2^{\gamma-1}} + \frac{W_V^{\beta i * S_\alpha^{\gamma-1}+1}}{2^{\gamma-1}}$$

$$- \left[\frac{(B-1)i^* S_\alpha^{\gamma-1}}{2^{\gamma-1}}+1\right]\frac{d}{2^{\gamma-1}} + \dots + \frac{W_V^{2\beta i * S_\alpha^{\gamma-1}-1}}{2^{\gamma}-1}\left(\frac{\beta i * S_\alpha^{\gamma-1}}{2\gamma-1}-1\right)\frac{d}{2\gamma-1}$$

....(2.1)

This gives a general expression which may be further detailed as follows :

Thus the bond fluent of first super vector group of the first geometric regression of first configuration (so labelled) is

$$B^1_{11} \equiv W^s_v + W^{s+1}_{v-d} + W^{s+2}_{v-2d} + W^{s+3}_{v-3d} + \dots + W^{2s-1}_{v-(s-11d)} \dots(2.2)$$

The bond fluent of second super-vector-group of the first geometric of first configuration is :

$$B^1_{21} \equiv W^{2s}_{v-sd} + W^{2s+1}_{v-(s+1)d} + W^{2s+2}_{v-(s+2)d} + \dots + W^{2s-1}_{v-(2s-1)d} \dots(2.3)$$

14. Cf. 9 (a).

The bond fluent of third super-vector-vector group of the first geometric regression of first configuration is :

$$B^1_{31} \equiv W^{3s}_{v-2sd} + W^{3s+1}_{v-(2s+1)d} + \quad + W^{4s-1}_{v-(3s-1)d} \qquad ...(2.4)$$

etc., till v/2 - 1 number of particles are not obtained.

Thus the bond fluent of the nth super-vector-group of first geometric regression of the first configuration is

$$B^1_{n1} \equiv W^{ns}_{v-(n-1)sd} + W^{ns+1}_{v-\{(n-1)s+1\}d} + \dots + W^{(n+1)s-1}_{v-\{(ns-1)\}d} \qquad ...(2.5)$$

The bond fluent of first super-vector group of *second* geometric regression of first configuration is

$$B^1_{12} \equiv W^{(n+1)s}_{\frac{v}{2}} + W^{(n+1)s+1}_{\frac{v}{2}-\frac{d}{2}} + \dots + W^{(n+1)s+s-1}_{\frac{v}{2}-(s-1)\frac{d}{2}} \qquad ...(2.6)$$

Similarly

$$B^1_{22} \equiv W^{(n+2)s}_{\frac{v}{2}-\frac{s.d}{2}} + W^{(n+2)s+1}_{\frac{v}{2}-(s+1)\frac{d}{2}} + \dots + W^{(n+2)s+s-1}_{\frac{v}{2}-(2s-1)\frac{d}{2}} \qquad ...(2.7)$$

And the bond fluent of nth super-vector group of the second geometic regression of first configuration is

$$B^1_{n2} \equiv W^{2ns}_{\frac{v}{2}-(n-1)s.\frac{d}{2}} + W^{2ns+1}_{\frac{v}{2}\ [(n-1)(s+1)]\frac{d}{2}} + \dots + W^{2ns+s-1}_{\frac{v}{2}-(ns-1)\frac{d}{2}} \qquad ...(2.8)$$

Similarly the bond fluent of first, second etc. super-vector groups of rth geometric regression of first configuration are given as follows :

$$B^1_{1\gamma} \equiv W^{\{(\gamma-1)n+1\}s}_{\frac{v}{2^{\gamma-1}}} + W^{\{(\gamma-1)n+1\}s+1}_{\frac{v}{2^{\gamma-1}}-\frac{d}{2^{\gamma-1}}} + \dots + W^{\{\gamma-1)n+1\}s+s-1}_{\frac{v}{2^{\gamma-1}}-(s-1)\frac{d}{2^{\gamma-1}}} \qquad ...(2.9)$$

$$B^{1}_{2\gamma} \equiv W^{\{(\gamma-1)n+2\}s}_{\frac{v}{2^{\gamma-1}} - s\frac{d}{2^{\gamma-1}}} + W^{\{(\gamma-1)(n+2)\}s+1}_{\frac{v}{2^{\gamma-1}} - (s+1)\frac{d}{2^{\gamma-1}}} + \ldots$$

$$+ \ldots + W^{\{\gamma-1)n+2\}s+(s-1)}_{\frac{v}{2^{\gamma-1}} - (2s-1)\frac{d}{2^{\gamma-1}}} \qquad \ldots(2.10)$$

$$B^{1}_{n\gamma} = W^{\gamma ns}_{\frac{v}{2^{r-1}} - (n-1)s\frac{d}{2^{r-1}}} + W^{\gamma ns+1}_{\frac{v}{2^{\gamma-1}} - \{(n-1)s+1\}\frac{d}{2^{\gamma-1}}} + \ldots$$

$$+ \ldots + W^{\gamma ns+s-1}_{\frac{v}{2^{\gamma-1}} - (ns-1)\frac{d}{2^{\gamma}\ 1}} \qquad \ldots(2.11)$$

Similarly, the bond fluent, for second, third & upto one hundred forty eighth configuration may be depicted through W^{I}_{v} the B's. There will be difference in the values of r, d, v, s, and they be shown as variables in manipulation of different configuration, but the structures for all configurations will be grouped as above matrices' summation. Thus in $B^{C_\alpha}_{S_\beta\ G_\gamma}$ the second super-vector group of the third geometric regression of $C\alpha$ th configuration of karma will be given as under :

$$B^{C\alpha}_{S_\beta G_\gamma} \equiv W^{2i\ \ *S^{2}_{\alpha}}_{\frac{v}{2^2} - \frac{i}{2^2}\frac{d}{2^2}} + W^{2i^*S\alpha^2+1}_{\frac{v}{2^2} - \left(\frac{i}{2^2}+1\right)\frac{d}{2^2}} + \ldots$$

$$+ W^{3i^*\ S^{2}_{\alpha}-1}_{\frac{v}{2^2} - \left(\frac{2.i^*S\alpha^2}{2^2} - 1\right)\frac{d}{2^2}} \qquad \ldots(2.12)$$

Where $S\alpha$ will denote the total number of super-vector groups contained in a geometric regression $G\gamma$ corresponding to $C\alpha$ th configuration of karma as shown above.

The total number of W's above will denote the numbers of instants in the set (set) of life-time stay of the karma bond corresponding to a particular configuration and this will be denoted by cardinal of the set β family, for a particular geometric regression.

Thus the number of nisusus, represented by $B^{C_\alpha}_{S_\beta} G_\gamma$ will be $\beta.\gamma$ for a particular configuration and for all contigurations it will be $\beta.\gamma-\alpha$, constituting a three dimensional matrix.

For an input of instant effective-bond B or due to charge of Yoga[16], B's say x B, shall also have the same total number of W's, i. e., $\beta.\gamma.\alpha$ although the other quantities will have an over all charge proportional to x. Let the product $\beta\gamma\alpha$ be denoted by y. Then the charge in the y the nisus W_y till it decays shall be

$$a_y \frac{d^y W_y}{d l^y} \quad \text{or} \quad a_y Z^y (t).$$

Similarly change in the next will be $a_{y-1} Z^{y-1}(t)$ and so on. In the and the total charge in the input column (in the karma life-time structure) in γ instants will be zero if it is time-invarient, that is if

$$a_y Z^y (t) + a_{y-1} Z^{y-1} (t) + \ldots\ldots\ldots + d_0 = 0 \qquad (2.13)$$

Similar situation may arise for all state columns, but when there are changes, matters for solutions will become very complicated and require a computers technique in graphics of events for manipulation.

As the instant-effective-bond can be put as an input-values vectors column, the whole change may be denoted by dB/dt also, as an instant, of d(xB)/dt in special *Yoga* and *Kaṣāya* circumstances.

The geometric regressions could also be put in a matrix form. Thus the nth geometric regression of karmic matter separate from indivisible-corresponding-sections could be written in the form

$$\left|\begin{array}{l} \frac{v}{2^n-1}-(ws-1)\frac{d}{2^n-1}\ldots, \quad \frac{v}{2^n-1}-(2w-1)\frac{d}{2^n-1}, \\ \qquad\qquad\qquad \frac{v}{2^n-1}-(w-1)\frac{d}{2^n-1} \\ \frac{v}{2^n-1}-(w(s-1)1)\frac{d}{2^n-1}, \ldots, \quad \frac{v}{2^n-1}-(w-1)\frac{d}{2^n-1}, \\ \qquad\qquad\qquad \frac{v}{2^n-1}-\frac{d}{2^n-1} \\ \frac{v}{2^n-1}-w(s-1)\frac{d}{2^n-1},\ldots, \quad \frac{v}{2^n-1}-w\frac{d}{2^n-1}, \quad \frac{v}{2^n-1} \end{array}\right| \quad \ldots (2.14)$$

15. Cf. 7, op. cit. 16. Cf. 9 (a)

when basic vectors in terms of the fractional multiples of V as elements, regressive with fractional multiple of basic vectors d as common difference, vector group (or simply vectors w as numbers of rows) and tensors s as number of columns starting from extreme right lowest corner represent n various geometric regressions.

Similarly, following matrices, have the same number w of rows and the number s of columns, as above, have i as a notation for indivisible-corrsponding-sections, and represent the imparlation intensities associated with each basic vector of the corresponding elements of the above matrices according to the position in the rows & columns.

The n th geometric regression of the recoil (*anubhāga*) intensity-- is given by

$$\begin{bmatrix} nsi+(w-1), \ldots, & ((n-1)s+2)i+(w-1), & ((n-1)s+1)i+(w-1) \\ \vdots & \vdots & \vdots \\ nsi+1 & ,\ldots, ((n-1)s+2)i+1 & ,((n-1)s+1)i+1 \\ nsi & ,\ldots, (n-1)s+2)i & ,((n-1)s+1)i \end{bmatrix} \quad \ldots(2.15)$$

All the above matrices are in correspondence with a particular configurational structure in relation to karmic bonds etc. Further the equation (2.13) may be written as

$$z(t) = Az(t) \qquad (2.16)$$

or

$$\frac{d}{dt}\begin{bmatrix} z_y(t) \\ \vdots \\ z_2(t) \\ z_1(t) \end{bmatrix} = \begin{bmatrix} 0 & 1 & 0 & 0 \ldots 0 \\ 0 & 0 & 1 & 0 \ldots 0 \\ & & \ldots & \\ -a_0 & -a_1 & -a_2 \ldots & a_{y-1} \end{bmatrix} \begin{bmatrix} z_y(t) \\ z_{y-1}(t) \\ \ldots \\ z_1(t) \end{bmatrix} \quad \ldots(2.17)$$

The solution of the above matric differential equation give

$$z(t) = e^{At} z(0) = \phi(t) z(0) \qquad (2.18)$$

where $z(0)$ is $z(t)$ at $t=0$, and

$$e^{At} = \phi(t)$$

is called tracnition matric which is a $y \times y$ square matric by

$$\phi(t) = \begin{bmatrix} 0 & 1 & 0 & 0 & 0 & 0 \\ 0 & 0 & 1 & 0 & 0 & \ldots 0 \\ \ldots & \ldots & \ldots & \ldots & & \ldots \\ & \ldots & & \ldots & & \ldots \\ \ldots & \ldots & \ldots & \ldots & \ldots & \ldots \\ -a_0 & -a_1 & -a_2 & \ldots & -a_{y-1} & \end{bmatrix} \quad \ldots\ldots(2.19)$$

Mark that e^{At} could also be expanded in the form of a uniformly convergent series

$$e^{At} = I + At + \ldots\ldots + \frac{A^n t^n}{\underline{|n}} + \ldots. \qquad (2.20)$$

subject to the conrition

$$\frac{\| A^n t^n \|}{\underline{|n}} \leqslant \frac{\| A \|^n | t |^n}{\underline{|n}} \qquad (2.21)$$

Thus the instant-effective-bond comes as an input wave group, goes as an output–wave group, and what stays is the statewave group, in bond, in tensorial forms as above. A more elaborate form of derivation of the differential equation & its solution may be sought, by assuming the form of a variable nisus in the triangular matrix for state-transition phenomera. We may also represent the input wave or output wave group as ψ in place of $B^{C_\alpha}_{S_\beta} G_\gamma$ with the matrix form as detailed above, as a wave tensorial function of *Yoga* and *kaṣāya* as well as time. If *Yoga* and *Kaṣāya* are kept constant, the wave function may be said to Satisfy

$$\phi_1 (v, \psi) \nabla^2 \psi + \phi_2 (v, i) \psi = \phi_3 (v, i) \frac{\partial \psi}{\partial t} \ldots\ldots \qquad (2.22)$$

ϕ_1, ϕ_2, ϕ_3 could also be constants in tensorial form for certain fixed values of V and i; the threshold creator quanta of karmic matter mass & its intensity of recoil energy. The karmic wave contains mass and energy in subtle forms as above. We know that the configuration will take the shape of waves, for according to Jaina school an ultimate particle, at on instant, by virtue of velocity could be present at *more than one point* in space. In any configuration it has a momentum and energy of recoil. Thus the solution of the above wave equation shall have a more complicated form, in exponential than as that anticipated in (2.18), its coefficients being calculated from the elements of the the state-triangular matrix.

The ψ may be regarded as a *guṇahānī spardhaka* or a sum of *vargaṇās*. Thus the ψ waves here may also be regarded as sum of wavelets in form of Set of *varganās*, etc. or also in form of set of *niṣekas*, which drops out utimately after its life time, giving out unpulses. Thus the *samaya-*

prabaddha wave can be very properly given in terms of the multiple periodic waves, having their different periods of use as well as decay, depending upon various operators, known as (i) time (ii) *Yoga* (iii) *Kaṣāya* (iv) *adhaḥ pravṛtta* karaṇa (low tended activity) (v) *apūrva karaṇa* (invariant activity) and so on. Thus the manipulation of the karma system could be effected either through matrix mechanics (triangular state matrix, column input matrix, row output matrix) for different configuration, as well as through wave mechanics, with the help of differential equations comprising of various operators, operands and transformas. The remaining study is left for future, after a deeper probe in the search for the appropriate modern tools of mathematics.

3. Structures in Phases of Bios

The bios remains in the phases of *Yoga* upto the thirteenth control station (*guṅasthāna*), after which it is free *Yoga*. The phare of *kaṣāya* remain up to the *kṣīṇakaṣāya* or twelfth control station. The descriphon of *Yoga* and *kaṣāya* structures have been detailed in a previous paper on system theory (System Theory) in Jaina School of Mathematics.

In this paper a survey of the above is given. The eperational *Yoga* stations are of three types (1) *upapāda* (2) *ekānta vṛdhhi* (3) *pariṇāma*.[17] All the *Yoga* stations are innumerate part of the *Jagaśreṇi* (set of points in a world line.) Every station of *Yoga* is classified into five subtypes of structures responsible for configuration (*Prakṛti*) and point (particle)-(*pradesa*) bonds : 1) *varga* 2) *vargaṇā* 3) *spardhaka* 4) *guṇāhani* 5) *avishāga*-praticcheda[18]. They may be called basic vector, vector-group, super-vector-group, geometric regression and indivisible-corresponding-section respectively. They have the same structure as the karmic matters, as shown previously; showing group equivalence and harmony in vibration, motion or intensity of recoil.

Now these phases are worthy of attention, which are the cause of perturbations or modification in the state matrix. First the details of the low-tended activity (*adhah pravṛtti karaṇ*) are taken up[19]. The

17. Cf. 1 (d) , *Gommaṭasāra, Karmakāṇḍa*, VV. 218–242.
13. Cf. ibid, VV. 223–231.
19. (a) Cf. 1 (d), *Gommaṭasāra, Jīvakāṇḍa*, VV. 48–57.
    (b) Cf. 1 (d), *Gommaṭasāra, Karmakāṇḍa*, VV. 896–912
    (c) Cf. 1 (d) *Labdhisāra*, VV. 33–165, & c.

period is *Inter-muhūrta* (*) (*numerate āvalis* : set of instants ranging from an instant greater than *āvali* to fortyeight minutes less two instants. *Bhinna muhūrta* is a *mūhūrta* less an instant. The number of *pariṇāmas* is innumerate universes (set of points), with similar increment, in flow of time. This activity may be for annihilation-sameliness (*kṣāyika-samyaktva*, for parting with endless-bonding of affection (*anantānubandhi Kaṣāya*), for subsidence or annihilation of mixed or disposition delusion (*deśa or sakalacāritra*). The bonding of lifetime is also altered proportionately, in ratio of innumerate part of *Palya*, decreasing in every section of time-interval of *Inter-muhūrtas*. This results in infinite-times purity, bonding of infinite times of graceful recoil intensity bonding of infinitesimal part of ungraceful recoil intensity, and numerate thousand terms reduction in life-time bonding. The protract (*anukṛṣṭi*) structure of the *pariṇāmas* (resulting phases) is calculated as follows :[20]

The progression is arithmetical and the following formulas are applied in manipulation.

SARVADHANA is the sum, *gaccha* is number of

(*) Gf. *Dhavalā* 3/1,2,6/67/6. Cf, also 3/1,2,6/69,5 for approximate *Muhūrta*, which may be greater than a *muhūrta*, and may also be called *antarmuhūrta*.

Terms, *ādi* is the first term, *caya* is the common difference. The form in which the formulas appear are :

$$\left.\begin{matrix} \textit{Sarvadhana} \\ \text{or} \\ \textit{śreḍhiyoga} \end{matrix}\right\} = \frac{\textit{gaccha}}{2}\,[2\,(\text{adi}) + (\textit{gaccha} - 1)\,\textit{caya}]$$

$$\textit{caya} = \frac{\textit{średhiyoga} - (\textit{gaccha})\,(\textit{ādi})}{\left(\dfrac{(\textit{gaccha})^2 - \textit{gaccha}}{2}\right)}$$

$$= \frac{\textit{Śreḍhiyoga}}{(\textit{gaccha})^2} \times \frac{1}{\textit{saṃkhyāta}}$$

(approximately) there, *Saṃkhyāta* is to be solved for by the method of indeterminate analysis)

$$\textit{caya dhana} = [\textit{sarvadhana} - (\textit{gaccha}\ (\textit{ādi})]$$

$$\frac{\textit{ādi} = \textit{sarvadhāna} - \textit{cayadhana}}{\textit{gaccha}}$$

$$\textit{ādi dhana} = \textit{sarvadhana} - \textit{cayadhana}$$

$$= \textit{ādi} \times \textit{gaccha}$$

20. Cf. 19 (a), op. cit.

For illustrating the general and protract structures the following working symbolism is adopted :

Jagaśreṇi (world line)	L
Asaṃkhyāta (innumerate)	d
Saṃkhyāta (numerate)	s
Āvali (tail)	R

For the general structure, the following data is available :

Number of terms	Rsss
Common differences	$\frac{L^3 d}{(Rsss)(Rsss)(s)}$
Sum of common differences (*caya dhana*)	$\frac{L^3 d (Rsss - 1)}{(Rsss)\, s\, (2)}$
Sum of first term (*ādidhana*)	$\frac{L^3 d\, [1 + Rsss\, (2s - 1)]}{(Rsss)(s)(2)}$
Quantum of *Pariṇāmas* at first instant	$\frac{L^3 d\, [1 + Rsss\, (2s - 1)]}{(Rsss)(Rsss)(s)(2)}$
Quantum of *Pariṇāmas* at last instant	$\frac{L^3 d\, Rsss\, (2s + 1) - 1}{(Rsss)(Rsss)(s)(2)}$

It is understood at present that these values could be obtained through indeterminate analysis, for the formulas form linear equations in more than one unknown, the solutions being in positive integers alone. The method has been discussed by Mahāvīrācārya in GS. S. (miscellaneous treatment) chaper on various bypesof *kuṭṭīkāras* (indeterminate analysis) (6.79 $\frac{1}{2}$ et seq.)

Data for the protract structure is as follows :

Common difference	$\frac{L^3 a}{(Rsss)(Rsss)(s\, s)(Rss)}$
Sum of common differences (*caya dhana*)	$\frac{L^3 a\, (Rss - 1)}{(Rsss)(Rsss)(s)(2)}$
Difference of *sarvadhana* and *cayadhana*	$\frac{L^3 a\, [2 + Rss\, \{ s\, (2s - 1) - 1 \}]}{(Rsss)(Rsss)(s)(2)}$
First portion in relation to first instant	$\frac{L^3 a\, [2 + Rss\, \{ s\, (2s - 1) - 1 \}]}{(Rsss)(Rsss)(s)\, Rss)(2)}$
Last portion in relation to first instant	$\frac{L^3 a\, [Rss\, \{ s\, (2s - 1) + 1 \}]}{(Rsss)(Rsss)(s)(Rss)(2)}$

Whole quantum of *parinamas* in relation to last instant	$\frac{L^3 a\ [Rsss\ (2s+1) - 1]}{(Rsss)\ (Rsss)\ (s)\ (2)}$
First portion in relation to last instant	$\frac{L^3 a\ [Rss\ \{ s\ (2s+1) - 1 \}]}{(Rsss)\ (Rsss)\ (s)\ (2)\ (Rss)}$
Last portion in relation to last instant	$\frac{L^3 a\ [Rss\ \{ s\ (2s+1) + 1 \} - 2]}{(Rsss)\ (Rsss)\ (s)\ (2)\ (Rss)}$

The minimum protract portion in relation to first instant is

$$\frac{L^3 a\ [Rss\ \{ s\ (2s - 1) - 1 \} - 2]}{(Rsss)\ (Rsss)\ (s)\ (2)\ (Rss)}$$

or $\frac{L^3 a}{F^2 s}$ where F is Finger (aṅgula) set of points

In the above *Parinamas* there is six-station set :

$$\frac{L^3 a}{F^2 s \left(\frac{F+1}{a} \cdot \frac{F+1}{a} \cdot \frac{F+1}{a} \cdot \frac{F+1}{a} \cdot \frac{F+1}{a}\right)}$$

The structure for the unprecedent activity is similar, but without protract structure. There is the structure for the invariant activity.(21)

It is not understood, how the mathematical correlation has been set up between the structures of the state karmic matrix and the above activity structures. The simultaneity of phases of bios and karmic matter without a difference of even an instant is also not explanable in the similar way as is the indivisibility of an instant during the motion of a particle or bios.

21. Cf. ibid.



प्राकृत, भारतीय भाषाएँ और साहित्य

अमिअं पाउअकव्वं पढिउं सोउं अ जे ण आणंति ।
कामस्स तत्ततत्तिं कुणंति ते कहं ण लज्जंति ॥

—गाहाकोसु ।

सयलाओ इमं वाया विसंति एत्तो य णेंति वायाओ ।
एंति समुद्दं चिय णेंति सायराओ च्चिय जलाइं ॥

—गउडवहो ।

Date of Second Middle Indo-Aryan
A Fresh Chronological Estimate

Dr. SATYA SWARUP MISRA

Linguists have divided Indo-Aryan under three stages from the point of view of their historical development. These are Old Indo-Aryan, Middle Indo-Aryan, New Indo-Aryan. Each of these three stages of Indo-Aryan show several sub-stages. Linguistically dates have also been assigned to these various stages and sub-stages.

For Indo-Aryan linguistic chronology the dates assigned to different periods of Indo-Aryan, by Prof. Suniti Kumar Chatterji, has been widely accepted. In a recent work, I have proposed other dates, for various stages of Indo-European, Indo-Iranian and Indo-Aryan, which totally differ from Prof. Chatterji's chronology. Since in the said work of mine all the stages from Indo-European upto Indo-Aryan have been dealt with, within a limited space, all evidences could not be included in that. But in that work also the whole chronological structure rests on some important and solid chronological evidence, which also need not be repeated here.

Since this conference is one of Prakrit and Jainology, I limit the scope of my paper to chronological discussions of Second MIA or Prakrit, although this has a link with the other stages of Indo-Aryan and therefore my chronological discussion of any one stage presupposes the other stages and rests upon the chronological evidence of the other stages.

Chatterji (Origin and Development of the Bengali Language p. 14), presents his chronological approach to Indo-Aryan with the following words : "Definite dates cannot be laid down in language history, but the period from the time of the composition of the vedic hymns (? 1500, ? 1200 BC) to the times immediately preceding Gautama Buddha (557-477 BC) may be regarded as the OIA period. The MIA period may be said to have extended from 600 BC to about 1000 AD; of which 600 BC to 200 BC could be early or first MIA stage; 200 BC to 200 AD, the transitional MIA stage; 200 AD to 500 or 600 AD the 2nd MIA stage and 600 AD to 1000 AD the 3rd or late MIA stage.

To summarise Chatterji's Chronology.

OIA	1500 (or 1200) BC	—		600 BC
1st MIA	600 BC	—		200 BC
Transitional MIA	200 BC	—		200 AD
2nd MIA	200 AD	—	(500 or)	600 AD
3rd MIA	600 AD	—		1000 AD
MIA	1000 AD	—	onwards.	

Chatterji, as is obvious from his expositions, has just made a rough and tentative remark on Indo-Aryan chronology, he has not presented any basis of evidence for his assumptions. But this is the accepted date at present, by linguists in India and abroad.

I have proposed a much different picture of Indo-Aryan chronology in my above mentioned recently published work, viz., Fresh Light on Indo-European Classification and Chronology, where I have produced evidence for my assumptions. I quote below the relevant[1], for Indo-Aryan (vide p. 98).

Old Indo-Aryan	—	2000 BC	—	1000 BC
1st Middle Indo-Aryan	—	1000 BC	—	600 BC
2nd Middle Indo-Aryan	—	600 BC	—	300 BC
3rd Middle Indo-Aryan	—	300 BC	—	001 BC
New Indo-Aryan		001 AD	—	onwards.

Without going into the details of each stage I will now take up the Second Middle Indo-Aryan stage only, where *Ardha-Māgadhī*, *Saurasenī*, *Māgadhī*, *Mahārāṣṭrī* etc. are included. Prof. Chatterji considers *Ardha-Māgadhī* of Second MIA stage to have 2nd century AD as the starting point. But according to my linguistic chronology 2nd MIA (Amg) starts from 6th century BC. Chatterji's presentation does not claim his chronology to be final and he has not shown any evidence to justify his propositions. He has simply made a casual statement just to link up his material with the historical development. On the other hand

1. The summary of the chronological estimate from IE to Indo-Aryan is as follows (p. 98)

Indo-European	5000 BC	—	3500 BC
Satem	3500 BC	—	2500 BC
Indo-Iranian	2500 BC	—	2000 BC
Indo-Aryan	2000 BC	—	onwards.

I have presented archaeological evidence in favour of my chronology of New Indo-Aryan in the book refered above, and I have judged the chronology of Middle Indo-Aryan by allowing some approximate time gap for each stage of development although the period assumed as gap between one stage and another stage is tentative and subject to correction. But there can never be any doubt that a gap must be allowed between one stage and another stage. The assumption of the gap period as 300 or 400 years is not purely arbitrary. These assumptions are based taking into consideration of the amount of linguistic change operated in each period. Thus the period assigned may be an underestimate but not at all an overestimate of the length of time.

Traditionally *Ardha-Māgadhī* is believed to be the language of Mahāvīra and linguists have no material to challenge this belief and there is nothing wrong in accepting this traditional idea as a fulfledged fact. From this point of view also *Ardha-Māgadhī* may safely be placed in the 6th century BC as the starting point.

Prof. Chatterji, however, thinks that the *Ardha-Māgadhī* spoken by Māhavīra was Old *Ardha-Māgadhī*. But there is no such tradition of any Old *Ardha-Māgadhī*. Chatterji had to use a vague name Old *Ardha-Māgadhī* simply to maintain his chronology that Amg belongs to 2nd century AD (ODBL, p. 55).

For the date of MIA the date of Kalidas is quite pertinent. He uses Classical Sanskrit, 2nd MIA and a little bit of *Apabhrṃśa* in his dramas. The style of his Sanskrit is so natural that he cannot be much later than Paṇini and he is not much influenced by Pāṇini. A few words like *prabhraṃśayām yo nahuṣan cakāra* etc. prove it. Out of several controversies scholars mainly accept two dates for Kalidas : 1st century BC and 4th century AD. If any one of these be accepted the *Apabraṃśa* verses in Kalidas will have to be taken as interpolation on the basis of Chatterji's Chronological estimate of *Apabhraṃśa* as 6th century AD. But Kalidas is beyond any artificiality and his style is his style. His *Apabhraṃśa* verses also are his, from a stylistic point of view. I have proved with further evidences in details that Kalidas belongs to 1st century BC and not 4th century AD. I have also shown that Kalidas belongs to the last phase of *Apabhraṃśa* and thus he is the first poet of *Apabhraṃśa* as traditionally accepted.

Thus from this point of view also my Chronological estimate of 2nd MIA is preferable as second MIA precedes *Apabhraṃśa* and thus my assumption 2nd MIA starts from 6th century BC and ended as a natural speech in 4th century BC is quite reasonable. Of course, the language of each stage of Indo-Aryan continued as an artificial literary speech for centuries.

Bibliography

1. Chatterji, S. K. : Origin & Development of the Bengali Language (Reissued London 1970).
2. Misra, SS. : Fresh Light on IE Classification & Chronology (Varanasi 1980).

Department of Linguistics,
Banaras Hindu University,
Varanasi.

Assimilation of conjunct consonants in Prakrit and Greek

Dr. (Mrs.) HARIPRIYA MISRA

In a recent book published in a couple of months back, a renouned scholar of Indo-European Linguistics rightly remarks that the Middle Indo-Aryan studies have been comparatively neglected for Indo-European comparative grammar. In the same centext the same scholar further says that from the point of view of linguistic change Greek is comparable to Middle Indo-Aryan. But in that book no actual comparison is instituted perhaps because there was no scope for the same. In the following paper I propose to take up one important aspect of linguistic change i.e. assimilation of conjunct consonants which will substantiate the above view. With this end in view for the first time a comparative study of assimilation of conjunct consonants in Prakrit and Greek is presented here.

As a rule in Middle Indo-Aryan no heterogenous conjunct is allowed. They are either assimilated or divided by anaptyxis. In Greek several heterogenous conjunct are allowed but many are assimilated. The process of assimilation works according to certain principles in Prakrit and Greek which are discussed below.

The general rule for assimilation in Prakrit is that between equals the second prevails and between unequals the stronger prevails. In Greek also between two equal plosives the second prevails.

Moreover the consonants can be arranged according to their strength in decreasing order as follows as for as assimilation in Prakrit is concerned.

(i) Mutes (ii) nasals (iii) *d* (iv) *S* (v) *V* (vi) *y* (vii) *r*.

But Greek shows the reverse order of strength as far as assimilation of unequal consonants is concerned.

Now a comparative study of Prakrit and Greek is taken up considering the rules of assimilation given above. According to the above rule between equals the second prevails i. e. $k+t>tt$, $g+dh>ddh$, $d+g>gg$ etc.

e.g. Skt. *yukta* > Pkt. *jutta*

Skt. *dugdha* > Pkt. *duddha*

Skt. *udgama* > Pkt. *uggama*

Similar phenomenon is also noteworthy in Old Greek where in a combination of plosive + plosive the second prevails i. e. *d/t+p > pp.*

e.g. Gk *hoppos* < **hod· pos*

In a combination of mute+nasal, mute prevails in Prakrit and nasal is assimilated. i. e. *g+n > gg, gh+n > ggh* etc.

e.g. Skt. *agniḥ* > Pkt. *aggi*

Skt. *vighna* > Pkt. *viggha*

But Greek does not agree with Prakrit in this respect, because in case of mute+nasal, nasal prevails in Greek and the plosive becomes a class nasal.

i.e. *p/b/ph+m > mm*

e.g. *grāmma* (<*-ph-m-*) and *bn > mn*

e.g. *amnos* (<**abnos*) and *gn < gn* (written *gn*)

e.g. *gignomai* (<**gignomai*)

In case of a combination of mute+*l*, mute prevails and *l* is assimilated in Pkt.

e.g. Skt. *valkala* > Pkt. *vakkala*

Skt. *alpa* > Pkt. *appa*

But Greek shows the reverse example of this principle. In Greek in a combination of plosive+liquid, liquid prevails.

i. e. *dl > ll* in Greek.

e. g. *hellā'* < **sedlā*

In a combination of mute and sibilant when sibilant comes first it is assimilated and the mute is aspirated in Prakrit. i. e. *st < th.* e. g. *asti > atthi.* But when the sibilant follows the mute they become *cch.* i. e. *ts < cch,* ps > *cch* etc.

e.g. Skt *vatsa* < Pkt *vaccha*

Skt *matsara* > Pkt *macchara*

Skt *apsarā* > Pkt *accharā*

But *S*+mute is not assimilated in Greek e. g. gkt *esti* (< *IE esti*), gk *basko* < *IE g*^{w}*ṃsko* etc.

Mute+sibilant is sometimes assimilated in Greek.

i. e. dental (*t/th/d*)+*s* > *ss* in Gk

e. g. *pod*+*si* > *possi*

ornith+*s* > *ornīs* (< **orniss*) '*bird*'.

V with a mute is assimilated and the mute prevails in Prakrit.

i. e. *kv* > *kk* and

jv > *jj* etc.

e.g. Skt *pakva* > Pkt *pakka*

Skt *ujjala* > Pkt *ujjala*

But in Greek unassimilated *v* is lost or becomes *u*. In most of the conjunct in *V*, *v* is lost. In a few cases it has a clear trace of assimilation. (It should be noted that in conjuncts *v* always follows another consonant, it does not precede. That is the case with *Y*)

i. e. *IE kw* > *pp* in Greek and *tw* > *dialectally ss* or *tt*. e. g. *IE ekwos*>Gk *hippos*

IE q^{w}*ewares* > Gk *tessares, tettares*

Y with a mute is assimilated and the mute prevails in Prakrit.

i. e. *ky* > *kk* and

bhy>*bbh* etc.

e.g. Skt *cāṇakya*>Pkt *cāṇakka*

Skt *abhyantara*>Pkt *abbhantara*

Y with a mute is assimilated in Gk and it has various treatments depending on the preceding consonants.

i. e. *t/th*+*y*>*ss* in Gk and *k/kh*+*y* >dialectally *tt/ss*.

e.g. *IE medhyos*>**methyos*>Gk *messos/ mesos*.

**pikya*>*pittā /pissā* in Gk.

r with a mute is assimilated and the mute prevails in Prakrit.

i. e. *rg* > *gg*, *kr* > *kk* etc.

e.g. Skt *mārga*>Pkt *magga*

Skt *cakra* > Pkt *cakka* etc.

But *r* with a mute is not assimilated in Greek.

e.g. IE *pro*> *pra* in Gk

IE *rudhros*> *eruthros* in Gk.

There are also other cases of comparison of assimilation between Prakrit and Greek. Only the important ones are dealt with in this paper. Others are omitted for the time being.

Thus Middle Indo-Aryan and Greek both have assimilaled consonants. The difference lies in the fact that the strength of consonants differ in MIA and Gk as shown above. Furthur it is also observable that Gk does not assimilate some conjuncts like first MIA where conjuncts with *r* and *s* are not assimilated in some dialects. (e. g. Asokan Inscription *asti bramaṇa* etc). So Greek is more like Prakrit than Sanskrit, since Skt does not assimilate any heterogenous conjuncts in internal sandhi.

Bibliography

Smith : Greek Grammar

Clyde Pharr : Homeric Greek

Satya Swarup Misra : Comparative Grammar of Sanskrit, Greek and Hittite

Satya Swarup Misra : Fresh Light on Indo-European Classification and Chronology.

Satya Swarup Misra : New Light on Indo-European Comparative Grammar.

A. C. Woolner : Introduction to Prakrit

R. Pischel : Grammatik der Prakrit sprachen (Eng Tr. by S. Jha)

Sukumar Sen : Comparative Grammar of Middle Indo-Aryan

S. Chatterji and S. Sen : Middle Indo-Aryan Reader.

Lecturer in Greek Sampurnanand Sanskrit Vishwavidyalaya, VARANASI.

The Prakrit : A Review

Dr. SHASHI KANT

Namisādhu seems to have struck the right note when he explains the word *Prākṛta* as derived from *prakṛti* in the sense of natural speech free from the rules of grammarians. He wrote it in 1068 A. D. when the literary forms of Prakrit had already been fossilized. The other explanation offered by him, deriving it from *Prāka kṛta*, to mean 'created of old', is in consonance with his faith that the language of the *Ārṣa* canon, *Ardha-Māgadhī*, is the language of the gods, and is not very relevant to philological discussion.

In the sixties of the 19th century E. B. Cowell brought out Vararuci's *Prākṛta-Prakāśa* with the *Manoramā* commentary of Bhāmaha, and thenceforth Prakrit has engaged the attention of many linguists and indologists. The pioneers in the field are Hermann Jacobi, Richard Pischel, A. F. R. Hoernle, George Buhler, Sten Konow, A. C. Woolner, Muni Jina Vijaya, Banarasi Das Jain and A. N. Upadhye. The linguistic survey of George Grierson, the philological deliberations of Suniti Kumar Chatterji, the volumes of Maurice Winternitz on the history of Indian literature, the discovery of Prakrit and Sanskrit texts, and an in-depth study of the Pali, Prakrit, Apabhramsa and Sanskrit works, as also of the epigraphic and numismatic material, during the last one hundred years or so, have expanded and elaborated the problem of the linguistic bases of the Indian panorama.

During all this effort a bias was assiduously tilted towards finding some remote ancestry to link the Indian intelligentsia with the Euro-Anglican rulers, to build up the myth that India was a no-man's land and it was filled by the Dāsa (Dravidians), Nisāda (Austrics), Kirāta (Mongoloids) and Ārya (Nordics, the vast Indo-European community, branching off to the Indo-Iranian from which shot out the Indo-Aryans who composed the Vedas in the Sapta-Sindhu), and lastly, to consign the entire literary effort, nay the speech effort itself, to the Indo-Aryan genius as if whoever preceded them were a mute people. The fallacy of this stupendous task is obvious but the emotional strains ingrained therein dissuade from an objective appraisal.

To put it briefly, the Indian linguistic history has been built up on the premise that there are three strata of language development in India, firstly, the Old Indo-Aryan representing successively the Vedic, the Brāhmaṇa and the classical (developed out of the *Udīcya* or northern dialect of the Vedic Aryans and codified by Pāṇini) Sanskrit; secondly, the Middle Indo-Aryan, representing the Prakrits developing out of the *Madhyadeśiya* and *Prācya* dialects of the Vedic-Aryans, and the Apabhramsa, a further debasement of the *Deva-bhāṣā*; and lastly, the New Indo-Aryan representing different *vibhāṣā* which finally emerged as the present-day vernaculars.

Three potent factors have been kept out of sight in projecting this development. One such factor is that Sanskrit was confined to a small minority which assiduously maintained its aloofness from the masses; the masses spoke different tongues which were the so many patois hardly related to Sanskrit. The second important factor is that there is specific evidence on record that a *lingua franca* was in vogue throughout the sub-continent as far north-west as the Kabul valley, as far north as the Nepalese Tarai, as far east as the Bengal coast, as far south as the North Pennar and as far west as Saurashtra, which was intelligible to and used by the people in general with slight phonetical variations, and was written and read in a common script throughout the land to the south and east of the Sutlej, much in the same way as Hindi written in *Devanagari* is intelligible to all Indians today except when they take a stance like the Sanskrit-niṣṭha Brahmins of Aśoka Maurya's days, e.g., the Urdu protagonists, or get worked up with regional chauvinism fanned for political ends. And the third substantial factor is that of the dialects only one becomes the koine or literary norm, just as *Kharī-bolī* is the koine of Hindi language and Meridian dialect is the koine of English language, and grammar follows, and does not precede, the language. The people's language is represented by the Asokan edicts and the numerous records of the Sātavāhanas, Śuṅgas and Kaliṅgas, as also of the Greeks, Śakas and Kushāṇas, up to the 2nd century AD. What has come down to us as the Prakrit literature, be it *Pāli* of the Buddhists, *Mahārāṣṭrī* and *Śaurasenī* as well as *Ardha-Māgadhī* of the Jains, or *Māgadhī*, *Mahārāṣṭrī*, *Śaurasenī* and *Paiśācī* Prakrit of the Sanskrit dramatists, at the time of its reduction the literary form had already been fossilized and if not never, it seldom represented the

popular medium. Although Vararuci, who wrote *Vārtikas* on Pāṇini and lived probably in the 5th century A.D., is the first to give a grammar for Prakrit, and Bhāmaha (assigned to the 7th century A.D.) wrote commentary on it, the most important of the Prakrit grammars is the chapter VIII of the *Siddha-Hemacandra* of Hemacandra Sūri (1088-1172 A.D.); and interestingly all these grammarians were Sanskritists who added only a chapter on Prakrit in their work on Sanskrit grammar. This can explain that the literary Prakrit as extant now was systematized, and the works were possibly cleansed of colloquialisms by the learned pandits to bring them in tune with the grammatical codes and at par with the language of the *śiṣṭa* (urbanised, in essence, an adept in the use of chaste Sanskrit) of the day.

The language used by Aśoka Maurya (272 B. C.—236 B. C.) in his inscriptions provides us with a window on the language of the masses in the first millennium before Christ. According to the phonetic variations, four groups are indicated :—

1. The region to the west of the Sutlej, falling within the Viceroyaly of Takṣaśilā, and represented by the Rock Edicts at Shahbazgarhi and Mansehra. Besides the Indian language written in the *Kharoṣṭhī* script, the Greek and Aramaic languages written in their respective scripts were also in use, mostly beyond the Khyber and Bolan passes.

2. The region to the east and south of the Sutlej, covering the entire Gangetic basin, with centre at Pāṭaliputra, and represented by the Rock Edicts at Kalsi, Dhauli and Jaugad, Pillar Edicts in Haryana, Uttar Pradesh and Bihar, and the Minor Rock and Pillar Edicts in Rajasthan, Uttar Pradesh, Madhya Pradesh and Bihar,—all written in Prakrit but in the *Brāhmī* script.

3. The region controlled by the Viceroyalty of Ujjayinī, and represented by the Rock Edicts at Girnar and Sopara, written in Prakrit in the *Brāhmī* script.

4. The region controlled by the Viceroyalty at Suvarṇagiri and represented by the Edicts in Andra Pradesh and Karnatak Pradesh, written in Prakrit in the *Brāhmī* script.

The same form of language and script continues for about 500 years after Aśoka when it was supplanted by panegyrics and eulogies in classical

Sanskrit of the *kāvya* style. The earliest of the inscriptions in Sanskit is the Sudarśana Lake Inscription of Rudradāman dated in 150 A. D. and the most important of the lucid panegyrics (*praśasti*) is that of Hariṣeṇa composed for Samudragupta and inscribed on the Asokan pillar at Allahabad in *c.* 360 A. D. Incidentally, both the above records are preserved on the same site which contain Aśoka's records. Earlier to Rudradāman's record in Sanskrit are only three pieces : one is a small inscription of one Dhana claiming to be sixth in descent from Pushyamitra who had performed two Horse-Sacrifices, and is from Ayodhya; the other two are known as the Ghoshundi and Hathiwara grants and their provenance is near Jaipur; they cannot be pushed beyond the beginning of the Christian era. It is curious to note that despite the projected zeal of the Śuṅgas for the revival of Brahmanical ritualism and reinstatement of Sanskrit scholarship, all the Śuṅga records known so far are in Prakrit, and a Greek, Heliodorus by name, who consecrated a *Garuḍadhvaja* to propotiate Vishṇu in the kingdom of Sung Bhāgabhadra at Vidiśā, possibly the capital, also made his record in Prakrit in the *Brāhmī* script. The best narrative record from the historical point of view is that of Khāravela who got it recorded in 172 B. C. on the Hāthīgumphā on the Udayagiri near Bhubaneswar in Orissa in Prakrit in the *Brāhmī* script, continuing the tradition of the Mauryan administration. This tradition was also continued by the Sātavāhanas in the Narmada-Godavari valley, whence they carried it down to Kāñcī where they created the *Thondimandalam* and founded the Pallava kingdom with Prakrit as the court language. The dynasty of Khāravela and the dynasty of the Sātavahanas or Āndhra-bhṛtyas were founded by the servants, possibly of the Mahāmātra rank, of the Maurya Empire.

Just as inscriptions in Sanskrit were rare before 150 A. D., so were inscriptions in Prakrit rare after the Gupta period, say 500 A. D. onwards. A notable example is provided by the record of Kakkuka, found near Ghaṭayala in Jodhpur district, dated in Samvat 918 (861 A. D.). It is in *kāvya* style, composed in chaste Jain Mahārāṣṭrī, and contains 23 verses, recording the founding of a Jain temple, establishing of a market and erecting of two pillars, and *inter alia*, mentions the curious fact that he had descended from a Brahmin father and Kshatriya mother.

The Jains and the Buddhists maintain that Mahāvīra and the

Buddha had preached in the people's language. Among the Jains, the Śvetāmbara *Āgamas* are in *Ardha-Māgadhi* and the Digambara early works in Jaina *Śauraseni*. The Theravāda Buddhist canon is in Pāli. The area of both of them was the same, namely, eastern Uttar Pradesh and north and central Bihar. Therefore the language of the two teachers ought to be the same because they wandered among the same people. But then why this divergence is there, has been a baffling question.

A key to this riddle is provided by the language of the Asokan edicts, especially his Calcutta-Bairat inscription where he quotes certain passages from the Scripture. It postulates that there must have been some collection from which he drew upon and it was possibly in the *Māgadhi* as spoken in that region (Region no. 2 above). The discovery of Aśvaghoṣa's plays in Khotan further indicated that they were in a Prakrit not akin to Pāli, and hence it would not be pertinent to suppose that the Buddha spoke Pāli. Woolner notes, "Pāli originally meaning a 'boundary, limit, or line' was applied to the *Canon* of the Hīnayāna Buddhists. Thence it is used of the *language* of that Canon, found also in some canonical books : all being preserved in what were originally the missionary churches of Ceylon, Burma and Siam". He also notes that Pāli is not *Māgadhi*. It has been supposed that it might be the language of Ujjain whence Mahinda took the sacred Canon to Ceylon, or it might be the language of the Kaliṅga country because of certain resemblances with the language of Khāravela's record, or it might be from some place near the Vindhyas because of some points of resemblance with Paiśacī, or it might be an old form of *Śauraseni*. Woolner concludes, "Whatever may be the exact truth of the matter, it is clear that Pāli contains several different strands in its composition and that it varies also according to its age. The oldest type is seen in the Gāthās, then come the prose portions of the Canon followed by non-canonical literature and finally still later layers. The development of Pāli has been influenced by Sanskrit".

Similarly as the Brahmins detested the *Vrātyas* who did not owe allegiance to the Vedic fire-cult and the Brahmanic social and religious organisation and called the *Prācyas* or Easterners as being *āsuriya* or demoniac, i. e., barbarian and hostile in nature, so the *Prācya Vrātya* thinkers boycotted Sanskrit and discarded the Brahmanic concept of

social discrimination. The Buddha accordingly bade his followers to learn his teachings in their own language, and thus the ground was prepared where the original teachings could be redacted in different dialects.

The Theravāda Canon was reduced to writing in the Ist Century B. C. Winternitz aptly notes that "the monks of Ceylon were bent on preserving and passing on the texts written in the language once established for them in India. In all probability these monks were just as conscientious regarding the contents as regarding the language, and preserved and handed down to us the texts of the Tipitaka which was written down in the Pāli language, with rare fidelity during the last two thousand years."

The reduction of the Jain Canon followed a more devious route. There is a consistent tradition that there was a twelve-year famine in Magadha about 150 years after the *nirvāṇa* of Mahāvira when a portion of the *Saṃgha* migrated to South India under the leadership of Bhadrabāhu I, the last of the *Śruta-kevalins*. After the famine a Council was convened by the members of the *Saṃgha* who had stayed behind in the North, for the restoration of the sacred canon, as so many monks, who were the repositories of the sacred lore, had been dead. The representatives from the South did not join it, nor they accepted the Canon so compiled by the ascetics of the north who had become slack in ascetic practices to some extent due to the exigencies of famine. Thus followed the Schism as the Digambaras and the Śvetāmbaras. The Śvetāmbaras finally redacted the Canon as preserved with them under Devardhigaṇi at Vallabhi in M. E. 983 (456 A. D.). In course of time, as it passed through word of mouṭh it was affected by the regional dialects to some extent, but, in essence, retained an archaic character in language. This was termed as *Ardha-Māgadhi*. It appears to be the *Māgadhi* which was largely influenced by *Śauraseni*. The *Saṃgha* that travelled to South India, redacted their pro-canonical literature in the Prakrit that they had brought with them. A. N. Upadhye calls it *Jaina Śauraseni*. He has traced common verses in the South Indian Digambara pro-canonical literature and the Śvetāmbara *Ardha-Māgadhi Agama* literature, and has concluded that it proves their common heritage. The redaction of the Digambara literature started with Kundakunda who succeeded to

the ponitificate in 8 B. C. He wrote in Prakrit (*Jaina Śauraseni*) 84 Pāhuḍas and he is also credited with the composition of Thirukuraḷ in Tamil. The Śvetāmbaras took to writing some 450 years after Kundakunda. Their centre had shifted from Magadha to Ujjayinī, and later on to Vallabhī, which factor contributed to their taking to *Mahārāṣṭri* Prakrit for their pro-canonical literature. As distinct from the literary Prakrit used in Sanskrit dramas, the *Mahārāṣṭri* Prakrit was the *lingua franca* of the region and was used as vehicle for their compositions by the Svetāmbara Jains particularly, it came to be identified as the *Jaina Mahārāṣṭri*. The material point to be noted here is that as the Pāli survived in a form in which it reached Ceylon, so the *Ardha-Māgadhi*, *Jaina Śauraseni* and *Jaina Mahārāṣṭri* survived in a form in which they were once adopted by the two sects of the Jains, and this survival was possible for two reasons—one was the seclusion and removal from the centre of their origin, and the other was the sanctity imposed on the Scripture as *Ārṣa* hence not subject to interference prima facie.

It is inferred from the Hāthīgumphā Inscription of Khāravela of Kaliṅga that a Council of monks for the recitation of the Canon was convened 355 years after Mahāvīra's nirvāṇa, i. e., in 172 B. C. There is no mention of this Council either in the Śvetāmbara or in the Digambara literature. There is a possibility that an attempt was then made to reconcile the Schism, or it might have been simply a congregation of the Digambara *munis*, but nothing definite can be said.

The foregoing discussion postulates a review of our approach to the study of Prakrit languages and to tracing the linguistic developments in India in an objective manner, taking Prakrit as *prakṛta* (natural, raw) and Sanskrit as *saṃkṛta* (modified, refined) mode of expression, and basing it on the Indian scene first of all.

Jyoti Nikunj,
Charbagh,
Lucknow, Uttar Pradesh.

The Prākṛta in Karnataka

Dr. M. D. VASANTHARAJA

There is clear evidence to be pointed out that Prākṛta language was current in Karnātaka region as early as third century B. C. In several places of Karnātaka, about ten Minor inscriptions of Aśhoka, the famous Maurya king, have come to light. These could not have been here unless there were people who could read and understand the message contained in them. In addition to these inscriptions there are semi-historical stories, which indicate the prevalence of political contact between Southern and Northern regions of India even prior to the time of Aśhoka. Karakandu story narrated in *Bṛhatkathākośa* of Hariṣeṇa and also the Śreṇika story narrated in *Bṛhatkathākośa*, *Puṇyāśrava Kathākośa* and *Vaḍḍārādhane* are two such stories, which indirectly provide proof for the political contact that existed between Northern and Southern regions of India during Sixth Century B.C. This contact again establishes language-link between these two parts of India. Prākṛta was the spoken language that was current through out Northern India in those days and the same must have served as a link-language, rather than any other language. Further again the story of the migration of the huge *Munisaṁgha* under the leadership of Bhadrabāhu, the last *Dvādaśaṅga Caturdaśa pūrvin*, to south suggests a flow of religious people whose mother tongue was Prākṛta. According to the tradition.[1] Bhāskara undertook a journey with a big army and retinue to Kalbappu i.e., Chandragiri at Shravanabelagola to pay his obeisance to his grandfather Chandragupta, who, having taken *Munidikṣā,* had accompained the *Munisaṅgha* Headed by Bhadrabāhu *and* was *performing* penance at the *Niśidhi* of his guru Bhadrabāhu Swāmi. Bhāskara stayed here for a few days and established a township and caused a temple to be constructed. After this *Munis* and *Śrāvakās* from north continued to visit this sacred place i. e., *Tirthakṣetra* the fact of which is indirectly attested by the statement *'Krameṇa Saptaśatam ṛṣiṇām..-rādhitamiti jayatu Jinaśāsanamiti'*, i.e. And in course of time *Ṛṣis* numbering seven hundred

1. Rājāvalikatha of Devachandra Bhadrabāhubhattāraka Katha.

took the vow of Ārādhanā or Sallekhanā and died'. (Inscription No. 1 the earliest one.)

By about 2nd Century A.D., we can say with certainty, there were *Nirgrantha Munis* hailing from Southern Indian regions who were experts in the Jaina lore in Prākṛta that was handed down in the line of teacher and pupil from the time of the *Nirvāṇa* of Mahāvīra. Puṣpadanta and Bhūtabali are the two *Ācāryas* who lived in 2nd century A.D. and received the *Āgama* lore from Dharasena, who in his old age had taken residence in *Chandraguha* at *Ujjayantagiri*. Puṣpadanta after the completion of his studentship goes to Vanavāsīdeśha. There with a desire to save the *Āgama* lore, whatever he had received from his guru, plans to bring out an epitome of it and thus he composes *Jivasthāna-satprarūpaṇā* in 177 *suttas*. Then he sent those suttas to his fellow student Bhūtabali who was staying at Dakṣina Mathurā with a view to ascertain his opinion regarding his plan of preparing the compendium of the *Āgama*.

Bhūtabali on seeing those sūtras could read the mind of his elderly fellow student, who was already aged, and so he himself continued further the composition of the *Āgama*. Thus finally the composition of *Ṣaṭkhaṇḍāgama* was completed and was sent to Puśpadantācārya, who felt immensly happy in getting his desire fulfilled.

The literary history of Karnāṭaka opens its chapter with the composition of *Ṣaṭkhandāgama* and its commentaries. Vanavāsīdeśa, where Puṣpadanta is said to have initiated the composition of *Ṣatkhandāgama* is, it is needless to say, the ancient kingdom in the Southern part of Karnātaka with Banavāsi as its capital. It is in this region that Puśpadantācārya initiated the composition of *Ṣatkhandāgama* and thus this forms the *Ādimañgala* of the history of contribution Karnāṭaka to Prākṛt literature. Further the traditional account in relation to the composition of commentaries on *Ṣatkhandāgama* and also on *Kaṣāyapāhuda* of Guṇadhara, which is looked up on as the 2nd sacred *Āgama* of Digambara Jainas, is in itself a history of Prākṛta literature relating how Prākṛta language continued to be cultivated at least in the Jaina religious sect of the Karnataka upto 9th century A. D. In the line of these commentators of *Ṣaṭkhanḍāgama Kundakunda* is mentioned as the first commentator. He is remembered by Digambara Jaina sect through out the

several countries with high veneration. His name is mentioned as a '*Mangala*' in association with the names of Bhagavan Vīra Tīrthankara and Gautama Gaṇin. It is true that his commentary on *Ṣatkhandāgama*, like those of his many successors, has not come down to us. But his twelve or thirteen *Pahuḍas*, which have come down to us, are the gems of the *Ādhyātmika* sacred works which are in Prākṛta language. *Mūlacāra* which is in the name of Vaṭṭakera also has been atttibuted to Kundakunda. It is true that this question of authorship of this work is yet to be decided conclusively, and therefore it cannot be claimed for definite as the contribution of Karnāṭaka.

Next to Kundakunda Shyamakunda is mentioned to have written commentary in Prākṛta, Saṁskṛta and also in Kannada. Here is an important record in relation to the writing in Kannada language as this commentary of Shyāmakunda happens to be the earliest Kannada piece of writing. Further again the commentary *Cūdāmaṇi* of the extent of 84000 *granthas* and the *Panjikā* of the extent of 7000 *grathas* by Tumbulurācārya are to find a merited place of recognition in the history of both Prākṛta and Kannada languages. It is true that these commentaries have not come down to us. But the traditional account, maintained in *Śrutāvatāra*, is accepted by scholars as authentic. The next commentator to write commentary in Prākṛta is Bappadevaguru. Finally the series of Commentaries came to a close with the famous commentary '*Dhavalā*' by name in *Maṇi Pravāla* style on *Ṣatkhanḍāgama* by Vīrasenācārya and *Jaya Dhavalā* on *Kaṣāyapāhuda* by Vīrasena and his disciple Jinasena. Thus the history of the composition of *Ṣatkhanḍāgama* and of its commentary and also of the commentary on *Kaṣāyapāhuda* forms the main part of the contribution of Karnāṭaka to Prākṛta literature.

It is a well established fact that Karnātaka was the main centre of the activities of Yāpanīya sect of the Jaina monks. Contribution to literature from this sect of the Jaina monks has been applauded even by early Ācāryās of high reputation. Śivakoti is one such name which has been respectfully mentioned by Jinasenācārya in his *pūrvapurāṇa*[2] *Mūlārādhanā* is his work which it is needless to say, is in Prākṛta.

---

2. Śītībhūtaṁ Jagadyasya Vācārādhya Catuṣṭayaṁ/
Mokṣamārgaṁ sa Pāyānnaḥ Śivakotīrmunīsvaraḥ // 49 //
Pūrva Purāṇa-Parva-1

Karnāṭaka mentions proudly the names of Pampa, Ranna, Janna and many others as its great poets. But if it were to extend its consideration beyond the range of Kannada literature and look upon Sanskrit and Prākrit poets as its own then Puspadanta will find a place of an equal rank, if not more, with the Kannada poets of the best order. His works *Tisaṭṭi Mahāpurisa-Guṇālaṅkāru*, *Jasaharacariu* and *N. yakumāracariu* in *apabhraṁśa-Prākṛta* stand on par with any one of the best Kāvyas in Sanskrit and Prākrit.

Gommatasāra of Nemichandra Siddhānta-Chakravarti, because of its popularity, is worth mentioning as the contribution of Karnāṭaka to Prākṛta literature, though it is only a compendium of early literature on Jīva and Karma and not an original contribution.

In the field of Vyākaraṇa literature also Karnātaka has its own contribution through Trivikramas *Prākṛta Śabdānuśāsana.* It is true that this work lacks originality and is only a reproduction af Hemachandras Prākṛta Grammar. But its popularity in South India cannot be ignored while considering its place in the history of Prākṛta literature.

Not that Prākṛta was cultivated in the circle of Jains only. Sanskrit play writers, following the rules of Dramaturgy, have given place for Prākṛta in their plays. Similarly in other literary works also, though very rarely, Prākṛta has found place. For instance in *Basavarajiya* of Palkurike Somanatha (12th century A. D.), we find about twenty five Prākṛta stanzas. However, it should be noted that in Karnāṭaka gradually Sanskrit gained prominence and Prākṛta lost its place of being a literary language even in the circle of Jaina monks.

Dept. of Jainology & Prakrit
University of Mysore,
Mysore

सांस्कृतिक संकट के बीच प्राकृत

प्रो. जगन्नाथ उपाध्याय

भारतीयता के लिए सांस्कृतिक संकट यह है कि उसके विराट् स्वरूप को, जिसे सहस्राब्दियों में विद्या, त्याग और तपस्या के बल पर उसने उपार्जित किया था, या तो छिपाया जाता है या उसे विकृत रूप में प्रस्तुत किया जाता है। एक ओर भारतीय धरती का यह सौभाग्य रहा है कि प्राक्-इतिहासकाल से ही लगातार दर्जनों मानववंशी समूहों और सैकड़ों विशिष्ट जातियों ने इसे अपनी मातृभूमि बनाया और अपने-अपने धर्म, दर्शन, संस्कृति, कला एवं आध्यात्मिक तत्त्वचेतना से इसे ऐसा सुसमृद्ध किया, जिससे यह संभावना जाग उठी कि इसके द्वारा मानव जाति को एक विश्व मानव संस्कृति का अवदान प्राप्त हो। किन्तु दूसरी ओर दुर्भाग्य यह है कि इसके विराट् सांस्कृतिक चेतना के स्वरूप को उभरने न देने के लिए अनेक दुरभि-संधिपूर्ण चेष्टायें की गईं। देश के इस अपमानपूर्ण इतिहास-खण्ड के प्रति इस प्रकार की अनवरत चेष्टा ही उत्तरदायी है। अपनी सांस्कृतिक यात्रा के आदि काल में ही यह मंगलकामना की गई थी कि यहाँ से सारे विश्व में श्रेष्ठता का प्रसार होगा। उस समय मनीषियों का यह उद्गार था कि जो भूमा है, वही सुख है, जो अल्पता है वही मृत्यु है। हिमालय, सिन्धु और गंगा की उपत्यका से उठनेवाले इस मानवीय जयघोष को जिस महाप्रमाद ने अपने अहंकार के प्रचण्ड कोलाहल में अनसुना कर दिया और जिस हृदय-दौर्बल्य की प्रचण्डता ने इस देश की विराट् आत्मा को क्षुद्रता की ओर ढकेल दिया, उसकी अवसादपूर्ण परिणति का दायित्व भी हमारी उस ऐतिहासिक अक्षमता पर ही है। इस दुष्प्रवृत्ति ने हमारे तेजस्वी जीवन पर चतुर्दिक प्रहार कर, विराट् को क्षुद्रता का अभ्यास कराया। आज भी हमारे सामाजिक अभ्यास, उसके स्वभाव और शक्ति-संघात पर इस हीन प्रवृत्ति का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। इस बड़े देश में यह जितना फैला है, उतना गहरा भी है। इसलिए इस ऐतिहासिक तथ्य के पुंखानुपुंख विश्लेषण के बिना भारतीय जीवन में स्थित गहरे अवसाद का निदान नहीं किया जा सकता और न उसका उपचार। इन कारणों की खोज में प्राचीन भारतीय साहित्य के साक्ष्य प्रस्तुत हैं, विशेषकर प्राकृत, पालि आदि के आगमों के विशाल साहित्य में।

भारतीय विश्वविद्यालयों एवं संस्थानों में धर्म, दर्शन, संस्कृति एवं इतिहास से संबंधित किसी विषय पर शोध या विशिष्ट अध्ययन का कार्य किया जाता है तो उसका गन्तव्य एवं उसकी दिशा प्रायः पूर्व निर्धारित रहती है। ऋग्वेद से यात्रा प्रारंभ कर उपनिषद्, महाभारत, धर्मसूत्र, स्मृतियाँ, पुराण तक, उसी से संबंधित काव्य एवं षड्दर्शन के विमर्श तक। इतने से ही अध्ययन पूर्ण समझ लिया जाता है। भारतीय संस्कृति तथा भारतीय विद्याओं के अध्ययन का यही 'अथ एवं इति' मान ली जाती है। वास्तव में भाषा एवं विषय की दृष्टि से संस्कृति की यह एक संकीर्ण वीथि है, जिसे भारतीय संस्कृति के अध्ययन का राजमार्ग बताया जाता है। इस प्रसंग में भारतीय भाषाओं के इतिहास तथा उसके भाषा-वैज्ञानिक निष्कर्षों को या तो आँख ओझल कर दिया जाता है या उसे भी अन्यथा रूप में प्रस्तुत किया जाता है। वैदिक भाषा के संयोजन के पीछे तत्कालीन जनभाषाओं के अवदान की चर्चा हम यहाँ न भी करें, तो भी हमारा ध्यान इस ओर अवश्य आकृष्ट रहना चाहिए कि वैदिक भाषा का आधुनिक भारतीय भाषाओं के साथ नैरन्तर्य कैसे जोड़ा जाय। इस गहरे अन्तराल को मात्र संस्कृत से जोड़ने की चेष्टा की जाती है। यह ठीक है कि संस्कृत का जीवन दीर्घकालीन है, किन्तु इसका जीवन कभी समग्र भारतीय जन-जीवन का प्रतिनिधि नहीं था, यह भी छिपा नहीं है। समाज के अल्प-संख्यकों का, उसमें भी वर्गविशेष का ही तो जीवन उसमें प्रतिफलित हुआ। फलतः संकृत ने न तो नवजीवन एवं जनभाषा से स्वयं प्रेरणा प्राप्त की और न अपनी विशिष्टता से जनजीवन का स्पर्श ही किया। यही कारण है कि संस्कृत कभी सहज नहीं बन सकी। अपनी कृत्रिमता के बल पर वह 'देववाणी' बनने के प्रयास में लगी रही। यह भी ध्यान देने की बात है संस्कृत द्वारा 'देववाणी' बनने का प्रयास किया गया, कभी भी 'देवीवाणी' नहीं। संस्कृत की इस विरोधी पृष्ठभूमि में विज्ञजनों द्वारा यह निष्कर्ष निकालना और उसे प्रसारित करना कितना हास्यप्रद, अस्वाभाविक एवं अवैज्ञानिक है कि—

१. संस्कृत ही भारतीय संस्कृति है।

२. वर्तमान भारतीय भाषाएँ संस्कृत से ही उत्पन्न हैं।

उक्त प्रकार की अवधारणा पर ही भारतीयता की समग्रता को न उभरने देने का प्रमुख उत्तरदायित्व है। संस्कृत ही यदि भारतीय संस्कृति है, तो हम भारतीयता को कितना खण्डित एवं आंशिक रूप देते हैं, इसकी ओर हमारा ध्यान नहीं जाता। भाषा का संस्कृति के साथ क्या संबन्ध है और अपने सहज रूप में वह

कैसे विकसित होती है, इसकी ओर हमारा ध्यान जाना चाहिए। वैदिक छान्दस के बाद एक भाषा 'संस्कृत' 'लौकिक संस्कृत' या 'भाषा' के नाम से बनाई गई। प्रारम्भ में अनेकानेक जनभाषाओं का इसमें योगदान था। उसी के आधार पर कृत्रिमता से बोझिल एवं जटिल नियमों से आबद्ध एक भाषा बनी, जो संस्कृत थी। इस भाषा को छान्दस के बाद ही संयोजित किया गया, जो जनभाषाओं के समानान्तर खड़ी हुई जो एक छोटे वर्ग की सांस्कृतिक भाषा बनी। इसके पीछे जन-जीवन से पृथक् रहने की धार्मिक एवं सांस्कृतिक प्रेरणा थी। भाषाविदों से यह तथ्य छिपा नहीं है कि जो भाषा साहित्यिक बनती है, उसकी सामान्य प्रवृत्ति जनभाषा एवं जनजीवन से दूर रहने के रूप में उभरती है। अल्पसंख्यक अभिजात वर्ग की भाषा होने से संस्कृत में यह प्रवृत्ति अधिक उग्र थी। संस्कृति के साथ भाषा का तादात्म्य, सम्बन्ध या किसी प्रकार का अनिवार्य सम्बन्ध नहीं होता है, किन्तु संस्कृति का सर्वाधिक शक्तिमान् संप्रेषक माध्यम भाषा ही है, इसमें भी विवाद नहीं है। वर्णों, जातियों की उच्चता-नीचता, सेवा और श्रम का अवमूल्यन, स्त्री, शूद्र, अन्त्यज एवं जनजातियों के अधिकारों का हनन आदि जिस समाज-रचना का आधार बन गया है, उसके आचार-विचार की कालव्यापी परम्परा को यदि 'संस्कृति' नाम देना है तो उस अर्थ में संस्कृत अवश्य संस्कृति की प्रतिनिधि भाषा है। इस स्थिति में 'संस्कृत आधुनिक भारतीय भाषाओं की जननी है,' इस मान्यता का अभिप्राय सिर्फ इतना ही हो सकता है कि स्वत: एवं सहज प्रवहमान जनभाषाओं को उनके स्वभाव से च्युत कर उनका संस्कृतीकरण करने की प्रवृत्ति आज भी संस्कृत में बनी हुई है।

ऊपर संस्कृत के संबन्ध में जो कुछ कहा गया है उसका उद्देश्य उसका अवमूल्यन करना या एक विशेष ऐतिहासिक संदर्भ के द्वारा प्राप्त उसके महत्त्व को कम करना नहीं है। अपितु, भारतीयता के विराट संदर्भ में उसका सही मूल्यांकन करना है। फिर उसके प्रसंग से विभिन्न काल के उन जन-भाषा-समूहों एवं जन-संस्कृतियों का महत्त्वांकन उद्देश्य है, जिनका प्रतिनिधित्व भाषा की दृष्टि से पालि, प्राकृत और अपभ्रंशों द्वारा हुआ है। साथ ही इसका निर्धारण भी आवश्यक है कि भाषा की वे कौनसी स्वगत प्रवृत्तियाँ हैं और संस्कृति के वे कौनसी स्वगत प्रवृत्तियाँ हैं और संस्कृति के वे कौन से तत्त्व हैं जिनके कारण स्थानीय जनभाषाओं के आधार पर उद्गत एवं विकसित होकर भी संस्कृति के समान अन्य भाषाएँ भी अपनी वास्तविक लौकिकता छोड़ने लगती हैं, और संस्कृति के वे कौन से तत्त्व हैं, जो उसे लोक-जीवन से विमुख करने लगते हैं। क्योंकि देखा

गया है कि अलौकिक होने की इन प्रवृत्तियों ने एक सीमा के बाद पालि, प्राकृत और अपभ्रंशों को भी प्रभावित किया। इस स्थिति में विचार करना होगा कि क्या जनजीवन से दूर होना भाषा और संस्कृतियों की नियति है या इसके विपरीत इनका कोई अपना स्वतन्त्र पुरुषार्थ भी है, जिससे वे अपनी सहजता को कायम रख सकें। इसके विश्लेषण के आधार पर ही हम इसके निर्धारण में भी सक्षम होंगे कि जनभाषाओं, उनकी प्रतिनिधि भाषाओं तथा उनके द्वारा प्रकाशित जीवन-दर्शन की समस्याएँ क्या हैं और उनकी सहज एवं स्वाभाविक गति कहाँ और क्यों अवरुद्ध होती है।

वैदिक छान्दस भाषा से आधुनिक भारतीय भाषाओं को जोड़ने वाली भाषा-परंपरा है प्राकृत, जिसने अपने सहज स्वभाव एवं निरन्तर विकसनशील गति के कारण विभिन्न पालि, प्राकृतों और अपभ्रंशों के नाम से १७०० वर्षों से अधिक आयु को शिलालेखों, आगमों, नाटक, काव्य एवं विभिन्न साहित्यों में पूर्ण वैभव के साथ सुरक्षित रखा। इस संबंध में इन तथ्यों पर विशेष ध्यान रहना चाहिए कि प्राकृतों का उद्भव संस्कृत से नहीं हुआ। उसकी जीवन-धारा संस्कृत से पूर्व बहुत प्राचीन काल से प्रवाहित थी और संस्कृत के आदि से उसके पूरे काल में उसके समानान्तर अपने पूर्व-पूर्व स्वतंत्र स्रोत से चलकर उत्तरोत्तर कालों में विस्तृत एवं गंभीर होती चली गई। इतना ही नहीं, उसके द्वारा प्रकाशित जीवन-दर्शन, सामजिक एवं धार्मिक मान्यताएँ और ऐतिहासिक उपलब्धियाँ संस्कृत की प्रमुख विचारधारा ब्राह्मणवाद से नितांत भिन्न थीं। यही कारण है कि इतिहास के प्रारंभकाल से ही भारतीय साहित्य में श्रमण एवं ब्राह्मण के मौलिक भेद और विरोध को बार-बार दुहराया गया है। जब श्रमण और ब्राह्मण नामों के द्वारा भेद किया जाता है तो उसका संदर्भ सांस्कृतिक होता है, जातिवादी नहीं, क्योंकि जाति की दृष्टि से श्रमणों में भी ब्राह्मण पर्याप्त मात्रा में रहे हैं। इसी प्रकार ब्राह्मण संस्कृति में ब्राह्मणेतर भी प्रचुर संख्या में मिलते हैं। इस प्रसंग में कुछ लोग इतिहास की भ्रांतिपूर्ण व्याख्या करना चाहते हैं कि श्रमण संस्कृति ब्राह्मणवाद की प्रतिक्रिया में उद्गत हुई या ब्राह्मणधारा के अन्तर्गत ही यह एक उत्क्रांति थी, जिसका उद्देश्य ब्राह्मण-परंपरा में उदार संशोधन लाना था, जबकि ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर श्रमणों की प्राचीनतम परंपरा को अन्यथा नहीं किया जा सकता। इस संबंध का प्राग्-ऐतिहासिक विवाद यहाँ प्रासंगिक नहीं होगा। अच्छा यही होगा कि प्राकृतों के इतिहासकालिक

उद्गम और विकास द्वारा प्रतिफलित निष्कर्षों के आधार पर ही वास्तविकता का आकलन किया जाय।

विदित है कि श्रमण-परंपरा अनेक भागों में विभक्त थी। किन्तु ईसापूर्व पाँच-छः सौ वर्षों के मध्य उसके दो सशक्त आन्दोलन खड़े हुए, जिसके महान् नायक थे भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध। यह युगान्तकारी उत्क्रांति आर्यों के मध्य में ही खड़ी हुई, जिसने प्रेरणाएं पूर्वागत श्रमण-परंपरा से प्राप्त की और समसामयिक वैदिक जीवन-दर्शन एवं उसकी सामाजिक व्यवस्था को मानव-हित का विरोधी समझकर मानव-श्रेष्ठता प्रधान धर्मों का उपदेश किया। दोनों श्रमण-परंपराओं में परस्पर मत-वैचित्र्य होते हुए भी अनेकानेक ऐसी समान मान्यताएँ थीं, जिनसे श्रमणों की विशिष्टता तथा ब्राह्मणवादी परंपरा से उसका मौलिक भेद एवं विरोध स्पष्ट हुआ।

श्रमणों ने देव-श्रेष्ठता और ईश्वरवाद का विरोध करके मानव-श्रेष्ठता के सिद्धान्त को प्रतिष्ठित किया। ब्राह्मण एवं राजन्यों के अन्तहीन साम्राज्यवादी आयाम को धार्मिक आवरण में सुरक्षित करने के प्रधान उद्देश्य से प्रस्थापित यज्ञीय कर्म-काण्ड का विरोध कर श्रमणों ने उसे आध्यात्मिक साधनाओं की दिशा प्रदान की। यज्ञ को केन्द्र बनाकर उसके चतुर्दिक एक ऐसी संस्कृति का प्रभामण्डल खड़ा होता था, जिसमें जन्म से उत्कृष्ट समझा जानेवाला वर्ग सब प्रकार के लाभान्वित हो और इतर लोक वंचित रहे। सिर्फ पशु-हिंसा के ही कारण श्रमणों ने यज्ञ का विरोध किया, यह कहना मानव-प्रजा के शोषण-विरोधी इस ऐतिहासिक आन्दोलन को हलका बनाना है। सत्य यह है कि श्रौतयाग साम्राज्यवादी शोषण का धार्मिक मंच था। इसी दृष्टि से इतिहास की तथ्यात्मक व्याख्या होनी चाहिए। इसी संदर्भ में श्रमणों का गणतन्त्रों के प्रति पक्षपात को भी ग्रहण करना चाहिए। शब्दों की नित्यता, उसकी सर्वोच्च पवित्रता और अकाट्य प्रामाण्य की जगह श्रमणों ने अर्थ की पवित्रता के सिद्धान्त को मुखरित किया। शब्द को उन्होंने केवल अर्थ-संप्रेषण के लिए माध्यम मात्र स्वीकार किया। मानव-हित श्रमणों का आदर्श था, इसलिए उन्होंने छान्दस भाषा का निषेध करके अपने उपदेशों का माध्यम जनभाषाओं को स्वीकार किया। एक ओर वर्णवाद और जातिवाद के विरोध में श्रमणों ने मानव-समता का सिद्धान्त प्रतिष्ठित किया और दूसरी ओर स्त्री, शूद्र, अन्त्यज एवं चांडालों तक को अध्यात्म का अधिकार प्रदान किया। समता, श्रम और शांति की प्रतिष्ठा के आधार पर

अहिंसक समाज-व्यवस्था के लिए अवसर प्रदान करना, श्रमण-धर्म की स्वाभाविक परिणति है। श्रमणों ने युद्ध और हिंसा को कभी धर्म होने की महिमा प्रदान नहीं की, प्रत्युत उसे मानव की विवशता के रूप में भी माना तथा आपसी विवादों को शान्ति पूर्ण ढंग से निपटाना अपने गणतंत्र की नीति बनायी। श्रमणों की अहिंसा सिर्फ प्राणीवध से विरत होना मात्र नहीं है, अपितु व्यक्तिगत एवं सामाजिक तृष्णा और परिग्रह के जितने क्रूर रूप हैं, जिनकी परिणति व्यक्ति-जीवन एवं समाज के अन्यान्य-क्षेत्रों में विषमता, दुःख और दारिद्रच के रूप में प्रतिफलित होते हैं, उन सबसे विरत होना अहिंसा की वास्तविक प्रतिष्ठा है। सर्वसंग्राहकता, जो किसी भी संस्कृति का सर्वस्व होना चाहिए, उसके पुरस्कर्ता श्रमण थे और ब्राह्मण उसके विरोधी। विरोधी-धर्म तथा विरोधी-सामाजिक व्यवस्था के बीच महावीर और बुद्ध के अनुयायियों ने पूरे भारतीय महाद्वीप में श्रेष्ठता के अधिकार से वंचित कोटि-कोटि जनता को अपने शास्ता के उपदेशों से आश्वस्त किया और उन्हें साहित्य तथा संस्कृति का मानवीय वर प्रदान किया। श्रमणों में बुद्ध के अनुयायियों ने तो इस महाद्वीप के बाहर भी जाकर विश्व के गोलार्द्ध में श्रमण-धर्म का प्रसार किया। संस्कृति-प्रसार के अभियान में श्रमण जहाँ भी गये, वहाँ उन्होंने अपनी भाषा के साम्राज्य को स्थापित करने की चेष्टा नहीं की। प्रत्युत स्थानीय जनभाषाओं को अंगीकार करके उन्हें ही शिलालेखों और काव्य, साहित्य आदि में उत्कृष्टतम स्वरूप प्रदान किया। पालि, प्राकृत और अपभ्रंश के अनेकानेक भेदों में विभक्त होने के पीछे उनके द्वारा स्थानीय जनभाषाओं के अंगीकार और उसके प्रति आदर का भाव ही मुख्य था। ठीक इसके विपरीत वैदिक धारा के प्रमुख प्रतिनिधि मीमांसकों ने कहा कि महाश्रमण बुद्ध के शब्दों में कथित अहिंसा वैसे ही धर्म नहीं है जैसे चमड़े में रखा हुआ गोदुग्ध ग्राह्य नहीं। उनके समक्ष वेदों में संग्रहीत आर्येतर शब्दों की प्रामाणिकता का जब प्रश्न उठा, तो उन्होंने उसे उस दशा में स्वीकृति प्रदान की, जब वे आर्यविरोधी नहीं हों।

जैनों ओर बौद्धों ने अपने शास्ता के उपदेशों को 'आगम' कहा श्रुति नहीं। केवल जैन, बौद्ध ही नहीं, प्रारंभिक सभी वैष्णव, शैव एवं शाक्त आचार्यगण ने भी श्रुति के विरोध में उनसे अपने प्रस्थान की भिन्नता प्रदर्शित करने के लिए अपने आधारभूत साहित्य को 'आगम' कहा और उसके लिए प्राकृतों का माध्यम स्वीकार किया। परवर्ती काल में भी वैष्णव, शैव और शाक्तों पर जब ब्राह्मण-संस्कृति का प्रभाव बढ़ने लगा तो उन्होंने वेदों के विरोध में आगम का ही प्रामाण्य स्वीकार

किया। इस प्रकार जैन और बौद्ध ही नहीं, अपितु पूर्ववर्ती वैष्णव, शैव और शाक्तों के यज्ञवाद, जातिवाद, वेद-प्रामाण्यवाद संबंधी विरोध ने तथा स्त्री, शूद्र आदि के अंगीकार ने श्रमणों के प्रभाव क्षेत्र को अखिल भारतीय बना दिया।

यह सब कहने का अभिप्राय मात्र इतना ही है कि इस तथ्य को समझने में कोई कठिनाई न हो कि क्यों भारतीय संस्कृति के निर्माण में श्रमणों की भाषा एवं साहित्य आदि का प्रधान एवं श्रेष्ठ अवदान है और उन्हें इसके लिए विरोधी मान्यताओं के साथ किस प्रकार चतुर्दिक संघर्ष करना पड़ा। इस तथ्य के स्पष्ट होने में भी कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि इतिहास काल में सर्वप्रथम श्रमण-संस्कृति द्वारा सर्व भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व संभव हुआ, जो सभी आगम-साहित्यों में प्रति-बिंबित एवं सुरक्षित है। कहा जा सकता है कि श्रमण-संस्कृति का पर्याय उसकी आगम-संस्कृति रही है। इसी पृष्ठभूमि में आगम-संस्कृति में सर्वभारतीयों की संस्कृति प्रतिबिंबित हुई जबकि संस्कृत की संस्कृति में अल्पसंख्यक वर्ग की वर्गीय-संस्कृति।

दर्शन और आध्यात्मिक चिन्तन की दृष्टि से भी यदि इस तथ्य की परीक्षा करें तो वेद और उपनिषदों से जैन और बौद्ध आगम अधिक पुरोगामी एवं श्रेष्ठ सिद्ध होंगे। बुद्ध एवं महावीर ने दार्शनिक चिन्तन की एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया प्रस्तुत की, जिसे विभज्यवाद, मध्यममार्ग और अनेकान्तवाद के द्वारा स्पष्ट किया जाता है। इस ओर ध्यान जाना चाहिए कि विभज्यवाद, मध्यममार्ग, अनेकान्तवाद मात्र एक दर्शन-प्रस्थान नहीं है, अपितु यह चिन्तन की वह प्रवहमान प्रक्रिया है, जिसके द्वारा अनेका-नेक दार्शनिक प्रस्थानों के उद्‌गम की संभावना खड़ी होती है। जो चिन्तन प्रक्रिया-धारित नहीं होता, उसकी गणना श्रेष्ठ दर्शन की कोटि में नहीं की जा सकती, प्रत्युत् वे पूर्व-प्राप्त विश्वासों की व्याख्या मात्र हैं। पालि-प्राकृत आगमों में अपने समकालिक दृष्टिवादों का जो प्रभूत संग्रह, परीक्षण एवं विश्लेषण हुआ, उससे एक ओर श्रमणों के दार्शनिक चिन्तन की तत्परता और उनका बौद्धिक उत्कर्ष प्रकट होता है और दूसरी ओर उस काल की ब्राह्मण परंपरा में उसका अभाव और उनके चिन्तन की अक्षमता को स्पष्ट करता है। बौद्ध, जैन आगमों और प्राचीन साहित्यों में जितने विस्तार से पदार्थ-विद्या का विश्लेषण किया गया है, उदाहरण में परमाणुवाद को लें, उसका जो व्यापक एवं विस्तृत अध्ययन हुआ वह समसामयिक साहित्य में कहाँ उपलब्ध है? प्राचीनतम काल में परमाणु के संबंध का गंभीर एवं सूक्ष्म अध्ययन जैसा जैनों द्वारा प्रस्तुत किया गया वह आज भी महत्त्वपूर्ण है। कर्मवाद के द्वारा नीति-

व्यवस्था तथा गुणस्थानों एवं भूमिभेदों के आधार पर योग एवं विविध साधनाओं की व्यवस्था द्वारा जीवन की जो अध्यात्म-प्रवणता निर्धारित की गई वही भारतवर्ष का अपना आध्यात्मिक वर्चस्व माना गया। ऐसे विषयों से संबंधित प्राचीनतम एवं विस्तृत साहित्य का अन्यत्र मिलना संभव नहीं है। जीवन के आन्तर और बाह्य पक्षों से सम्बन्धित विद्याओं का इतना बड़ा वैभव पालि और प्राकृतों के माध्यम से विकसित होना तथा उसका समान्य जनजीवन के साथ सम्बन्ध जोड़े रखने का निरन्तर प्रयास करना, अल्पसंख्यक संस्कृति की अपेक्षा श्रमण-संस्कृति को भारतीयता का विशाल आयाम प्रदान करता है।

उपर्युक्त सम्पूर्ण चर्चा के बाद यह प्रश्न समाधान की नितांत अपेक्षा रखता है कि पिछले हजार वर्षों से पालि-प्राकृतों के प्रभाव में उत्तरोत्तर ह्रास होना, जिससे कि उसका सर्व भारतीय प्रतिनिधित्व निःशेष-सा हो जाय, उसके पीछे क्या क्या कारण हैं ? यह प्रश्न अन्य अनेक ऐतिहासिक प्रश्नों को उठाता है, जिसका विवेचन यहां संभव नहीं है, किन्तु इस मूल बात की ओर हमारा ध्यान जाना चाहिए कि पालि प्राकृतों के ह्रास के पीछे जबरदस्त सांस्कृतिक पराजय ही कारण है। वास्तव में पालि प्राकृत का पराजय भारतीय संस्कृति की ऐतिहासिक उदारता का और सर्व भारतीय लोक-संस्कृति का पराजय था। यह भी संभव है कि आक्रामक अल्प-संख्यक संस्कृति ने अपने में उन अपेक्षित गुणों को आत्मसात् किया हो जो श्रमणों की कभी एकमात्र विशेषता थी। कारण के रूप में यह भी संभावित है कि श्रमणों की दुर्बलता और विरोधी आक्रमण का सामना करने की अक्षमता के पीछे उनके अपने स्वयं के दुर्गुण हों, जिन्हें उन्होंने परवर्ती संघर्ष काल में अपनाया हो। इसी प्रकार के प्रश्नों के समाधान के बिना आज आगमों के गौरवशालो एवं महत्त्वपूर्ण होते हुए भी उसकी समस्या खड़ी है। इस पूरी परिस्थिति को एक वाक्य में कहा जा सकता है कि आगमों की समस्या उसका सांस्कृतिक संकट है। ऐतिहासिक निष्कर्षों के आधार पर यह स्पष्ट है कि पालि, प्राकृत आदि का बहिष्कार सिर्फ भाषा-बहिष्कार नहीं, अपितु संस्कृति-बहिष्कार है। इस संकट का रूप केवल बौद्धों, जैनों या अन्यान्य सन्त सम्प्रदायों की दृष्टि से देखना संकट के आयाम को छोटा समझना होगा। वास्तव में यह भारतीय संस्कृति और भारतीयता का संकट है, जिससे आज की प्रायः सभी मूलभूत राष्ट्रीय समस्याएं साक्षात् या परंपरया जुड़ी हैं, आज इनका विवेचन नितांत अपेक्षित है।

इस प्रसंग में सर्व प्रथम श्रमणों की इस प्रवृत्ति का ऐतिहासिक विश्लेषण अवश्य होना चाहिए कि उन्हें परवर्तीकाल में संस्कृत भाषा का आश्रय ग्रहण करने की क्या विवशतायें थीं। यह ठीक है कि संस्कृत स्वयं में एक भाषा मात्र थी, जिसे अर्थ संप्रेषण का माध्यम स्वीकार करना, आपत्तिजनक नहीं होना चाहिए। अथापि छान्दस से उतरकर संस्कृत को 'लौकिक' बनाने में श्रमण आचार्यों का महान् योगदान है। यहाँ तक कि बौद्धों के महायान सूत्रों का एक विशाल साहित्य एक ऐसी लौकिक संस्कृत में है, जिसे 'गाथा संस्कृत', 'मिश्रित संस्कृत'' या 'संकर संस्कृत' कहा जाता है, जिसका अनुशासन, पाणिनीय अनुशासनों से नितांत भिन्न है। जैनों के धवला और जय धवला ग्रन्थों में भी प्राकृत और संस्कृत दोनों भाषाओं को 'मणि-प्रवाल' न्याय से जोड़कर भारतीय चिन्तन को लोक हित के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इतने के बावजूद श्रमणों का प्रयास संस्कृत को लोक-भाषा नहीं बना सका, क्योंकि संस्कृत जिनके घर की भाषा थी, वह उनके धर्म एवं कर्मकाण्ड की भी भाषा थी। उसके साथ एक ऐसी संस्कृति थी, जो हजारों वर्ष के प्राकृतों के साथ संघर्ष में अपने को बचा चुकी थी और जिसने अपने सीमित आयाम में ही उत्तरोत्तर अपनी विशिष्टता में वृद्धि की।

अन्यान्य ऐतिहासिक कारणों से श्रमण जब दुर्बल होते गये तो उन्होंने अपनी रक्षा के लिए ब्राह्मण-संस्कृति और संस्कृत के विशिष्टतावाद को अंगीकार करना प्रारंभ कर दिया। विशिष्टतावाद के ग्रहण की इस प्रवृत्ति ने उन्हें प्रबल तो नहीं बनाया, पर इसके विपरीत उससे उनका सर्वजन का परम्परागत संबंध टूटता गया, जिससे उत्तरोत्तर उनकी परंपरागत संस्कृति और भाषा जन-समर्थन से दूर होती गई।

अश्वघोष ने अपने संस्कृत नाटक में प्राकृत को स्थान दिया। किन्तु जिन मुखों से वह निकली वे विशिष्ट वर्ग के नहीं थे, स्त्री और शूद्र पात्रों के तथाकथित अपवित्र मुख थे। भाषा के माध्यम से विशिष्टता कैसे प्रवेश करती है अश्वघोष उसके महत्त्वपूर्ण निदर्शन हैं। अश्वघोष प्रारंभिक जीवन में महान् वैदिक पण्डित थे, बाद में महाश्रमण बुद्ध के मानवतावादी प्रभाव में आकर श्रमण भिक्षु बने। श्रमण-धर्म का जनसाधारण के अन्दर प्रसार ही उसके जीवन का एकमात्र लक्ष्य था। इसी की पूर्ति में उन्होंने भिक्षु-विनय के किंचित् विरोध में जाकर 'बुद्धचरित' और 'सौन्दरानन्द' जैसे महाकाव्यों का सर्जन किया और जनसाधारण में जाकर उसका संगीत के साथ गान किया। कहा जाता है कि अश्वघोष द्वारा बुद्धचरित आदि के

गान से मनुष्य ही नहीं, पशुओं का हृदय भी द्रवित हो उठता था, घोड़े हिनहिना उठते थे; जिससे उस श्रमण महाकवि का नाम भी अश्वघोष पड़ा। यह सब ठीक था, किन्तु अश्वघोष ने जब अपने काव्य नाटकों के लिए संस्कृत भाषा ग्रहण की, तो उनके द्वारा ही होने वाली प्राकृत की अवमानना की ओर उनका ध्यान क्यों नहीं गया। इस प्रकार का यह एक उदाहरण है। किन्तु ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है जिनके विश्लेषण से पालि, प्राकृत और अपभ्रंशों का संकट स्पष्ट होता है। देखा जाता है कि जैसे-जैसे संस्कृत के साथ प्राकृत का सहवास बढ़ा, वैसे-वैसे उसकी दशा गिरती गई। साहित्य के नाम पर उत्तरोत्तर प्राकृत एवं पालि भाषाएँ संस्कृत की तरह ही कृत्रिम होती गईं। फलतः प्राकृतें भी सर्वजन की जगह अभिजात-वर्ग का प्रतिनिधित्व करने लगीं। प्राचीन काल के प्राकृत साहित्य की अपनी समतावादी संस्कृति थी, एवं साहित्य और संस्कृति के बीच का अन्तर नगण्य था। बाद की प्राकृतों में वह अन्तर बढ़ता गया। इस प्रकार की आदर्श-च्युति के पीछे संस्कृत और ब्राह्मणों की विशिष्टतावादी संकृति के अनुकरण की प्रवृत्ति थी। प्राकृतें जब अपने आदर्श शिखर पर थीं, तो संस्कृत अपने साहित्य गौरव के लिए उनका अनुकरण करती थी, किन्तु स्थानच्युति के साथ दशा बदलती गई। यहाँ तक कि अब संस्कृत के सहवास से प्राकृतें अपना आंशिक रूप भी समाप्त करने जा रही हैं। ग्रन्थों में प्राकृतों पर संस्कृत की कृपा छाया उसके दम को तोड़ती जा रही है। लोकसंस्कृति का प्रतिनिधित्व न होने के कारण संस्कृत को 'मृत भाषा' कहा जाता है, मान भी लें, तो संस्कृत यदि जीवित भाषा नहीं तो उसकी अभिजात संस्कृति का समाज और राज्य पर आज भी प्रभाव जमा है, प्राकृतें तो उतने से भी वंचित हैं।

उपर्युक्त बातें तथ्यपूर्ण हैं तो प्रश्न है कि इसके समाधान की दिशा क्या हो। जिसकी ओर मनीषियों एवं तत्त्वचिंतकों का ध्यान जाना चाहिए। परामर्श के रूप में कुछ बातें रखी जा सकती हैं, जिन पर विचार विमर्श होना चाहिए।

यह बहुत ही आवश्यक है कि श्रमण जीवन-दर्शन की विशेषताओं को छिपाने वाली व्याख्याओं की ऐतिहासिक एवं तात्विक परीक्षा कर वास्तविकता को प्रकट किया जाय जिससे यह व्यापक भ्रांति समाप्त हो कि श्रमणवादी-दर्शन और पालि एवं प्राकृत आदि भाषाएँ वेद-उपनिषदों और संस्कृत की ही प्रसूति हैं। उदाहरण के रूप में अनेकान्तवाद को समन्वयवाद या समझौतावाद समझा जाता है। जैन विद्वान् भी इसका समर्थन करते पाये जाते हैं। इसकी पृष्ठभूमि में वर्तमान समाज का दबाव काम

करता है। इसी दबाव में आकर क्रांतिकारी शक्तियाँ कुण्ठित होकर अपने को अपने-अपने संप्रदाय में ही घेर लेती हैं। विरोधी दबाव में भी हिम्मत जाती रहती है कि बुद्ध और महावीर के समतावादी एवं मानवतावादी विचारों को जन-साधारण के समक्ष प्रस्तुत करें। ऐसे लोग अपनी कृत्रिम श्रेष्ठता को सुरक्षित रखने के लिए कुल-श्रेष्ठता, जाति-श्रेष्ठता को स्वीकृति प्रदान करते हैं और वास्तव में महावीर और बुद्ध के नाम से उनके विरुद्ध शताब्दियों से जीवन व्यतीत कर रहे हैं। इस सम्पूर्ण वात्या-चक्र का भेद करना होगा। इसके लिए आवश्यक है—स्त्री-शूद्र एवं जनजातियों तक पहुँचकर उन्हें महावीर और बुद्ध के संदेशों से सांत्वना प्रदान की जाय। इस प्रसंग में प्राकृत एवं अपभ्रंशों का वर्तमान प्रादेशिक भाषाओं और स्थानीय बोलियों के संबंध को जोड़ना नितांत आवश्यक होगा। इस प्रकार की अनेकानेक बातें हैं जिनकी ओर ध्यान देना होगा। सर्वाधिक ध्यान इस ओर देना होगा कि प्राकृतों की समस्या पर सांप्रदायिकता की दृष्टि से नहीं, राष्ट्रीय परिवेश में विचार किया जाय और उसके समाधान को भी भारतीय संस्कृति के विराट संदर्भ में स्थापित करें। किन्तु इसके प्रारंभ का उत्तरदायित्व उन्हीं लोगों पर है, जो श्रमण-परंपरा से प्रभावित हैं।

पालि और प्राकृत

डॉ. ब्रह्मदेव नारायण शर्मा

श्रमण संस्कृति की दो मुख्य धाराएँ हैं। बौद्ध एवं जैन। इन दोनों धाराओं के बाहक भगवान् बुद्ध तथा भगवान् महावीर रहे। भगवान् बुद्ध ने जो कुछ भारतीय संस्कृति को प्रदान किया वह सब पालि में हैं, तथा भगवान् महावीर ने प्राकृत के माध्यम से भारतीय जनमानस को आप्लावित किया। इन दोनों महापुरुषों के अमृतोपम सन्देश का वाहक पालि एवं प्राकृत भाषाएँ रहीं जो न केवल भारत को वरन् विश्व को आचरण, तप, त्याग एवं वैराग्य की शिक्षा प्रदान करने में समर्थ रहीं। इन्हीं के माध्यम से कोटि-कोटि लोगों ने अपने को दुःख की ज्वाला से निकाल कर शान्त एवं शीतल निर्वाण को प्राप्त किया।

इन दोनों भाषाओं में कौन सी ऐसी विशेषताएँ थीं, जिसके कारण दोनों महापुरुषों ने इनको अपने उपदेश एवं विचार का माध्यम बनाया। यदि इस बात पर विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि इन दोनों महापुरुषों को सम्पूर्ण मानवता के प्रति गहरी सम्वेदना थी, जिसके कारण इन्होंने अपना विचार ऐसी भाषा के माध्यम से व्यक्त करना चाहा जिसे अधिक से अधिक जन सामान्य समझ सके और उनसे लाभ उठा सके। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए दोनों महापुरुषों ने जनसाधारण की बोली में जो उस समय प्रचलित थी (पालि-प्राकृत) उसमें अपना उपदेश देना श्रेयष्कर समझा। उसी जन भाषा में अपना-अपना विचार व्यक्त किया। प्रस्तुत प्रसंग में यह ध्यान देने की बात है कि दोनों महापुरुषों के उपदेश बहुत दिनों तक मौखिक ही रहे। कालान्तर में लिपिबद्ध हुए। संभवतः इसी के फलस्वरूप उन भाषाओं में अनेकरूपता दिखाई पड़ती है। यद्यपि भगवान् महावीर, भगवान् बुद्ध से ज्येष्ठ थे और उनकी परम्परा भी पूर्व से ही कायम थी, पर जैनागमों का संकलन पालि बौद्धागमों के बाद में हुआ। इतिहास से यह ज्ञात है कि पालि त्रिपिटक का संकलन ईसापूर्व प्रथम शताब्दी में हो गया था पर जैनागमों का संकलन और लेखन ईसा की ५वीं-छठीं शती में हुआ। इन दोनों महापुरुषों से पूर्व जिस भाषा का बोलबाला था वह वैदिक संस्कृत थी। जैसा कि भाषाविदों ने बताया है कि प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के अन्तर्गत वैदिक संस्कृत का स्थान था। इन्ही भाषाओं में विज्ञजन वार्तालाप भी करते थे पर जन सामान्य के लिए भी उस समय कोई बोली अवश्य

होगी। वैदिक भाषा दुरूह थी, इसी दुरूहता के कारण प्राचीन आर्य भाषा में अनेक परिवर्तन हुए और इसी परिवर्तन के कारण मध्य भारतीय आर्य भाषा का उदय हुआ जिससे पालि-प्राकृत आदि भाषाएँ निकलीं। यहाँ पालि एवं प्राकृत के स्वरूप को समझाने के लिए उन परिवर्तनों पर विचार करना समीचीन होगा।

प्राचीन भारतीय आर्यभाषा की ऋ, लृ ध्वनियाँ समाप्त हो गईं। ऐ और औ के स्थान पर ए एवं ओ का प्रयोग होने लगा। अव, अय ध्वनि-समूहों का स्थान ए, ओ ध्वनियों ने ले लिया। म् व्यञ्जन के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग होने लगा। श्, ष् के स्थान पर केवल स का व्यवहार होने लगा। शब्द एवं धातु रूपों में भी परिवर्तन हुए। अनेक अजन्त एवं हलन्त प्रातिपदिकों के रूप अकारान्त प्रातिपदिकों के समान बनने लगे। सम्बन्धकारक के एक वचन में जो रूप अश्वस्य, मुनेः, साधोः तथा पितुः आदि थे वे अब असस्म, मुनिस्स, साधुस्स तथा पितुस्स आदि होने लगे। संज्ञा में भी सर्वनाम के रूपों का विधान होने लगा। धातुओं के रूपों में भी ह्रास हुआ। सनान्त तथा यङ्न्त के प्रयोगों में कमी आई। इन्हीं सब परिवर्तनों के कारण प्राचीन भारतीय आर्यभाषा को एक नवीन रूप प्राप्त हुआ जिसे मध्य भारतीय भाषा के रूप में ग्रहण किया गया, और इसी मध्य भारतीय आर्यभाषा को पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, आदि कहा गया है।

प्राकृत का जो प्राचीन रूप प्राप्त होता है वह अशोक के शिलालेखों का है। ऐसा जान पड़ता है कि पालि या तत्कालीन लोकभाषा के तीन स्वरूप प्रचलित थे। पूर्वी, पश्चिमी और पश्चिमोत्तरी। इन्हीं बोलियों का विकास बाद में प्राकृतों के रूप में हुआ। मागधी एवं अर्द्धमागधी अशोककालीन पूर्वी बोली के, शौरसेनी पश्चिमी बोली के और पैशाची पश्चिमोत्तरी बोली के विकसित रूप हैं, ऐसा कहा जा सकता है। भरत मुनि के अनुसार सात प्रकार की प्राकृतें हैं जिन्हें, मागधी, अवन्ती, प्राच्या, शौरसेनी, अर्द्धमागधी, बाह्लीका और दाक्षिणात्या कहा जाता है।[1] बाद में वैय्याकरण हेमचन्द्र ने पैशाची एवं लाटी को भी इसमें जोड़ दिया है। पर साहित्य की दृष्टि से चार प्रकार की प्राकृतें ही मुख्य हैं। वे हैं—मागधी, अर्द्धमागधी, शौरसेनी और महाराष्ट्री। इनके साथ पालि का क्या सम्बन्ध रहा है यह विचारणीय है।

---

१. मागध्यवन्तिजा प्राच्या शूरसेन्यर्द्धमागधी।

बह्लीकदक्षिणात्याश्च सप्त भाषाः प्रकीर्तिताः ।। —ना० शा० १७।४८

पालि और प्राकृत भाषाओं का ध्वनि-समूह प्रायः एक-सा है। ॠ, ॠ, लृ, ऐ, एवं औ का प्रयोग पालि एवं प्राकृतों में समान रूप से नहीं पाया जाता है। इन दोनों भाषाओं में लृ के स्थान पर अ, इ, उ स्वरों में से कोई एक हो जाता है। ह्रस्व ए तथा ओ दोनों में होते हैं। विसर्ग दोनों में नहीं होते। श्, ष् के स्थान पर दन्त्य स का ही प्रयोग देखा जाता है पर मागधी में तालव्य श ही होता है। मूर्द्धन्य ध्वनिक दोनों में ही पाये जाते हैं। शब्द के अन्तःस्थित अघोष स्पर्श के स्थान पर य्, व् का आगम दोनों में होता है। शब्द के अन्तःस्थित घोष महाप्राण की जगह 'ह' हो जाता है। शब्द के अन्तःस्थित अघोष स्पर्शों का घोष में परिवर्तन दोनों भाषाओं में पाया जाता है। इस प्रकार पालि एवं प्राकृत में समानता दिखाई पड़ती है।

प्रस्तुत प्रसंग में विचारणीय यह है कि पालि को प्रायः सभी विद्वानों ने 'मागधी' कहा है। आचार्य बुद्धघोष के समय से लेकर वर्तमान युग तक इसका मागधी नाम ही प्रचलित है। पर तुलनात्मक अध्ययन से यह पता चलता है कि पालि और मागधी में अन्तर है। जिस मागधी का विवेचन उत्तरकालीन प्राकृत वैयाकरणों ने किया है तथा जिसके स्वरूप का दर्शन कतिपय अभिलेखों या नाटक ग्रन्थों में होता है, उससे तो पालि निश्चय ही भिन्न है। मागधी भाषा के रूप की तीन मुख्य विशेषताएँ हैं। प्रत्येक र् और स् का क्रमशः 'ल्' और 'श्' में परिवर्तन हो जाना तथा पुल्लिङ्ग और नपुंसक लिंग अकारान्त शब्दों का प्रथमा विभक्ति एक वचन का रूप एकारान्त होना। पर पालि में ऐसा नहीं होता वरन् र् और ल् दोनों ध्वनियों के रूप वहाँ मिलते हैं। तथा एकारान्त न होकर ओकारान्त ही होता है। इस प्रकार अशोक के पश्चिमी शिलालेखों में राजा, पुरा, आरभित्वा जैसे प्रयोग मिलते हैं तो पूर्व के शिलालेखों में क्रमशः लाजा, पुलुवं, आलभितुं रूप देखे जाते हैं। स का श में परिवर्तन पालि में कभी नहीं होता। केवल अशोक के (मानसेहरा) के शिलालेख में इसका प्रयोग अवश्य हुआ है, जैसे प्रियद्रशिन, प्रियदशि, प्राणशतसहस्रानि आदि। परन्तु मागधी शकार बहुला है, वहाँ स, ष, दोनों का तालव्य 'श' हो जाता है, जैसे पुरुषः का 'पुलिशे' शुष्क का शुश्क। इसी प्रकार पालि में पुल्लिग और नपुंसक लिंग अकारान्त शब्दों के रूप प्रथमा विभक्ति एकवचन में क्रमशः ओकारान्त तथा अनुस्वरान्त होते हैं एकारान्त नहीं, पर अशोक के शिलालेखों में लाघुलोवादे, बुधे, 'मिगे' आदि रूप भी मिलते हैं। इन विभिन्नताओं के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वे मौलिक न होकर एक ही सामान्य भाषा के प्रान्तीय या जनपदीय रूप हैं जो उच्चारणभेद से

उत्पन्न हो गये हैं ; अथवा अशोक के अभिलेखों की भाषा सामान्य राष्ट्रभाषा है जिसमें प्रादेशिक आवश्यकताओं के अनुरूप उच्चारण आदि में अल्प परिवर्तन हो गये हैं। मूल तो उन सबका एक ही है—मगध की राजभाषा मागधी, जिसमें भगवान् बुद्ध ने अपना उपदेश दिया था। दूसरी बात यह है कि भगवान् बुद्ध के उपदेश मौखिक थे और उनका संकलन उनके निर्वाण के दो तीन शताब्दियों के बाद हुआ। उनका लिपिबद्ध रूप तो प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व में हुआ। इसलिए इसमें अनेक परिवर्द्धनों और परिवर्तनों की सम्भावना हो सकती है।

पुनः अर्द्धमागधी और पालि के तुलनात्मक अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि इन दोनों में अनेक समानताएँ हैं जैसे पुरे, सुवे, भिक्खवे, पुरिसकारे, दुक्खे आदि। शब्द दोनों में समान हैं। संस्कृत तद् के स्थान में से का होना जैसे तद्यथा का सेय्यथा। कहीं कहीं वर्ण-परिवर्तन का विधान भी समान दिखाई पड़ता है जैसे—

पालि	अर्द्धमागधी
सक्खि	सक्ख
थरू	थरू (छरू)
वेलु	वेलु
नंगल	नंगल

इस प्रकार संस्कृत यद् के स्थान में 'ये' का हो जाना तथा 'र' का 'ल' हो जाना अर्द्धमागधी की एक बड़ी विशेषता है जो पालि में सर्वत्र नहीं दिखाई पड़ती। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि इसमें मागधी की आधी प्रवृत्तियाँ हैं तथा शेष प्रवृत्तियाँ शौरसेनी प्राकृत से मिलती हैं जिससे अनुमान लगाया जा सकता है कि इस भाषा का प्रचार मगध से पश्चिम प्रदेश में रहा होगा तथा इसका विकास आर्य भाषा के दूसरे स्तर से हुआ होगा।

कुछ विद्वानों ने पालि के ध्वनि समूह और रूप विधान की सबसे अधिक समानता शौरसेनी प्राकृत के साथ बताया है। उन विद्वानों का कहना है कि शौरसेनी में पुलिङ्ग अकारान्त शब्दों के प्रथमा एकवचन का रूप ओकारान्त होता है जैसे पुरिसो, बुद्धो, नरो आदि और यही प्रवृत्ति पालि की भी है। दूसरी विशेषता 'ष' का 'स' में परिवर्तन होना है। यह पालि में भी उसी प्रकार विद्यमान हैं। 'शब्द' का 'सद्द' पुरुष का 'पुरिस' धर्म का 'धम्म' कर्म का 'कम्म' पश्यति का 'पसति' पुत्र का 'पुत्त' आदि रूप पालि और शौरसेनी में एक जैसा ही है। शौरसेनी में शब्द के मध्य स्थित अघोष स्पर्शों का घोष स्पर्श में परिवर्तन हो जाना पालि में भी समान रूप से

पाये जाते हैं—जैसे माकन्दिक से 'मागन्दिम' कचंगल से 'कजंगल' तथा अचिरवती से 'अजिरवती' दोनों में समान रूप से होते हैं। पर पालि में इसके विपरीत प्रवृत्ति भी दिखाई पड़ती है—जैसे शब्द के मध्य में स्थित घोष स्पर्शों का अघोष हो जाना—यथा अगरू से अकलु, मुवंग से मुतिंग, कुसीद से कुसीत आदि। शौरसेनी पूर्वकालिक अव्यय में दूण प्रत्यय लगता है, जैसे पठिदूण, पालि में भी इसी अर्थ में 'तून' प्रत्यय देखा जाता है जैसे सोतून, कातून आदि। यह प्रवृत्ति केवल शौरसेनी में ही नहीं वरन् पैशाची प्राकृत में भी है, जैसे गन्तून, रन्तून, हसितून आदि। पेक्ख, गमिस्सति सक्किति जैसे रूपों में भी पालि और शौरसेनी में समानता है। पर कहीं-कहीं पालि शौरसेनी से नहीं भी मिलती है, जैसे शौरसेनी में वर्तमान काल के प्रथम पुरुष एकवचन के क्रिया रूपों के अन्त में 'दि' का प्रयोग देखा जाता है जैसे 'करेदि' 'गच्छेदि' जब कि पालि में करोति और गच्छति रूप ही होता है। इस प्रकार शौरसेनी के साथ पालि के सम्बन्ध को देखा गया तथा यह ज्ञात हुआ कि ध्वन्यात्मक और रूपात्मक समानता होते हुए भी इसमें असमानताएँ भी हैं। महाराष्ट्री भी शौरसेनी का विकसित रूप है। इसे अनेक विद्वानों ने स्वीकार किया है। इसी प्रकार पालि और पैशाची प्राकृत में जो समानताएँ हैं, उनको इस प्रकार दिखाया जा सकता है, यथा घोष स्पर्शों (ग्, द्, व) के स्थान में अघोष स्पर्श (क्, त्, प) का होना। शब्द के मध्य स्थित व्यञ्जन का सुरक्षित रहना। भरिय, 'सिनान' 'कसट' जैसे शब्दों में संयुक्त वर्णों का विश्लेषण पाया जाना। ज्ञ, ण्य् और न्य का 'ञ्ञ' में परिवर्तन हो जाना। य् का ज् में परिवर्तन न होकर ज्यों का त्यों रहना। अकारान्त पुल्लिंग शब्दों के प्रथमा एकवचन में ओकारान्त हो जाना आदि।

इस प्रकार संक्षेप में प्राकृतों के साथ पालि के अध्ययन से यह सहजतया आभास हो जाता है कि पालि को किसी एक प्राकृत से सम्बद्ध नहीं किया जा सकता अपितु सभी प्राकृतों के तत्त्व पालि में पाये जाते हैं। प्रान्तीय अन्तर के कारण भी इसमें विविधता पाई जाती है। पर इस अध्ययन से ऐसा लगता है कि प्राचीन आर्य-भाषा अर्थात् वैदिक संस्कृत के काल में जो जन साधारण की बोलियाँ प्रचलित थीं उसी में इन दोनों महापुरुषों ने अपना उपदेश दिया था और प्राचीन भारतीय आर्यभाषा में परिवर्तन के कारण मध्य भारतीय आर्यभाषा युग का उदय हुआ और इसी से पालि एवं प्राकृतों का उदय हुआ। दूसरी बात जो इससे स्पष्ट होती है, वह यह कि वैदिक भाषा की दुरूहता के कारण इसमें अनेक परिवर्तन हुए और इसी के फलस्वरूप पालि (मगध या मध्यमण्डल की भाषा) का उदय हुआ इसी का क्रमशः

प्रान्तों और प्रदेशों के परिवर्तन के कारण विकास होता गया, जिसके फलस्वरूप प्राकृतें उद्भूत हुई, तदनन्तर इन सबों की स्वतंत्रता एवं स्वच्छन्दता को नियमन करने के लिए पाणिनी ने संस्कृत व्याकरण की रचना की, जिससे भाषा की एकरूपता बनी जो संस्कृत कहलायी। इस प्रकार वैदिक संस्कृत, पालि, प्राकृत, संस्कृत यह क्रम ठीक हो सकता है। यह कहाँ तक सही है इस पर विद्वान् लोग विचार करेंगे।

श्रमण संस्कृति का प्रचार-प्रसार इन्हीं दोनों भाषाओं के माध्यम से हुआ इसीलिए इनको श्रमण संस्कृति का प्रतीक कहा जा सकता है। ऊपर के विचारों से यह ज्ञात होता है कि वैदिक भाषा के प्रयोगों की कठिनता के कारण जो परिवर्तन हुए उसके फलस्वरूप ही भाषा में सरलता आयी, जिसका रूप अशोक के शिलालेखों की भाषा तथा पालि में दिखलाई पड़ता है और इसी का विकास अन्य प्राकृतों के रूप में पाया जाता है। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पालि को प्राकृत से अलग नहीं किया जा सकता वरन् पालि ही प्राकृत का प्रारम्भिक रूप है यह कहा जा सकता है। बाद में इसका विकास होता गया और विभिन्न प्रादेशिक बोलियों के कारण मागधी, अर्द्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री, पैशाची आदि नाम दे दिये गये।

कुछ विद्वानों ने पालि भाषा को जनसाधारण की बोली नहीं होने की आशंका की है। यह सही भी हो सकता है क्योंकि जिस समय पालि बोली के रूप में प्रचलित होगी उस समय उसका रूप कुछ भिन्न अवश्य रहा होगा पर बाद में साहित्य की भाषा हो जाने पर उसके रूपों में परिवर्तन एवं संशोधन भी अवश्य हुए होंगे। दूसरी बात यह है कि ये भाषाएँ जनसाधारण की बोलियाँ रही होंगी। यह तो उन महापुरुषों द्वारा समर्थित है। भगवान् बुद्ध ने अपनी-अपनी भाषा में ही धर्म को सीखने और समझने की आज्ञा दी थी। जिसके फलस्वरूप ही इन भाषाओं में विविधता एवं अनेकरूपता है, साथ ही त्रिपिटक में विज्ञजनों से लेकर स्त्रियों एवं बच्चों तक को पालि में संलाप करते दिखाया गया है जिससे यह ज्ञात होता है कि पालि कभी जनसामान्य की भाषा अवश्य रही होगी, जिसे बाद में कुछ संशोधनों के साथ साहित्यिक रूप दे दिया गया होगा। जो आज पालि त्रिपिटक के रूप में विद्यमान है।

पालि एवं थेरवाद विभाग,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी, उत्तरप्रदेश

प्राकृत भाषा : एक अविच्छिन्न धारा

डॉ० कमलेशकुमार जैन

भाषावैज्ञानिकों ने प्राकृत भाषा को भारोपीय परिवार की मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं (५०० ई० पू० से १००० ई० तक) के अन्तर्गत स्वीकार किया है। इस भाषा का अपना विशेष महत्त्व है, क्योंकि इसके समुचित ज्ञान के अभाव में अन्य किसी प्राचीन अथवा अर्वाचीन भारतीय भाषा के साहित्य का समुचित ज्ञान एवं आनन्द प्राप्त नहीं किया जा सकता है।

प्राकृत भाषा के उद्भव एवं विकास को लेकर विद्वानों में पर्याप्त वैमत्य है। संस्कृत के विद्वान् प्राकृत की उत्पत्ति संस्कृत से मानकर संस्कृत की प्राचीनता अथवा श्रेष्ठता सिद्ध करते हैं। प्राकृत भाषा के मूल के विषय में वे प्राकृत-वैयाकरणों द्वारा प्रस्तुत व्युत्पत्तियों को साक्ष्य बनाते हैं। प्राकृत-वैयाकरणों ने प्राकृत की व्युत्पत्ति करते समय प्राकृत का मूल संस्कृत को बतलाया है। आचार्य हेमचन्द्र प्राकृत की व्युत्पत्ति करते हुये लिखते हैं—"प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्"[1] अर्थात् प्रकृति संस्कृत है और उससे उत्पन्न अथवा आयी हुई भाषा प्राकृत है। इसी प्रकार वाग्भटालंकार के एक पद्य[2] की व्याख्या करते हुये सिंहदेवगणि ने लिखा है कि—"प्रकृतेः संस्कृताद् आगतं प्राकृतम्"[3] अर्थात् प्रकृति संस्कृत है और उससे आयी हुई भाषा प्राकृत है। प्राकृत की संस्कृतमूलक उक्त व्युत्पत्तियों का वास्तविक मन्तव्य समझे बिना यह मत व्यक्त किया जाता है कि प्राकृत का मूल संस्कृत है और उसी से प्राकृत भाषा का विकास हुआ है। अतः यहाँ यह विचारणीय है कि प्राकृत का मूल क्या है तथा इस सन्दर्भ में प्राकृत वैयाकरणों की व्युत्पत्तियाँ कहाँ तक तर्कसंगत हैं।

---

१. सिद्धहेमशब्दानुशासन, १/१ वृत्ति।

२. संस्कृतं स्वर्गिणां भाषा शब्दशास्त्रेषु निश्चिता।
प्राकृतं तज्जतत्तुल्यदेश्यादिकमनेकधा ।।
—वाग्भटालंकार (सिंहदेवगणिकृत टीका सहित), हिन्दी टीकाकार—डॉ० सत्यव्रतसिंह, चौखंबा विद्याभवन, चौक, वाराणसी-१, सन् १९५७, २/२।

३. वही, २/२ वृत्ति (सिंहदेवगणिकृत)।

प्राकृत भाषा का अर्थ है—जन साधारण के बोलचाल की भाषा। अतः इस बोलचाल की प्राकृत को देशभाषा कहना अधिक उपयुक्त होगा। सामान्य रूप से विचार करने पर ज्ञात होता है कि प्राकृत भाषा का बोलचाल के रूप में प्रयुक्त प्रथम रूप शुद्ध बोली का रूप था, जिसे हम चाहें तो सुविधा की दृष्टि से प्राकृत बोली भी कह सकते हैं। इसी का विकसित रूप आगे चलकर दो धाराओं में विभक्त दिखाई देता है—प्रथम वह रूप जो प्राकृत बोली से व्याकरण विहीन काव्य रचना में प्रयुक्त हुआ है, और दूसरा रूप वह जो प्राकृत भाषा के तत्कालीन विकसित रूप को दृष्टिगत रखकर प्राकृत-वैयाकरणों द्वारा व्याकरण के कठोर नियमों से जकड़ दिया गया है। यही उत्तरकालीन व्याकरण सम्मत रूप साहित्यिक प्राकृत के रूप में सामने आया। इस उत्तरकाल में जिन प्राकृत-ग्रन्थों की रचना हुई उनका आधार प्राकृत व्याकरण सम्मत था। इस प्रकार की रचनाओं के उदाहरण के रूप में उद्द्योतनसूरि की प्राकृत रचना कुवलयमालाकहा (७७९ ई०) को प्रस्तुत किया जा सकता है। यह साहित्यिक भाषा, व्याकरण के नियमों में बद्ध होने के कारण क्रमशः क्लिष्ट होती गई और उसका वह रूप न रहा जो प्रारम्भ में जन साधारण की बोली के रूप में विकसित हुआ था। अतः इसे एक नवीन नाम साहित्यिक प्राकृत दिया गया। इसे संस्कृत प्राकृत, परि-मार्जित प्राकृत अथवा परिष्कृत प्राकृत भी कहा जा सकता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि इस परिष्कृत प्राकृत का प्रयोग काव्य रचना में तो होने लगा, किन्तु जो बोलचाल की भाषा थी, वह व्याकरण के नियमों में बद्ध न हो सकी और वह अपने नित्य नवीन रूप में सतत विकसित होती रही, प्रवहमान होती रही।

प्राकृत भाषा का यह रूप ऋग्वेद काल से भी पूर्व प्रचलित जनबोली का विकसित रूप है, जो अनेक थपेड़ों से गुजरकर अपने इस विकसित रूप को प्राप्त हो सका है। अतः यह सहज ही कहा जा सकता है कि वैदिक संस्कृत और प्राकृत की जननी, वैदिक काल से पूर्व प्रचलित एक जनबोली थी। इसलिये डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ने संस्कृत और प्राकृत के मध्य कार्य-कारण अथवा जन्य-जनकभाव को अस्वीकार करते हुये जो दोनों भाषाओं को सहोदरा कहा है[४] वह यथार्थ है।

परवर्ती काल में कुछ विशिष्ट लोगों ने वैदिक संस्कृत को देवभाषा के रूप में प्रतिष्ठा प्रदान की और उसे अपने मूल रूप में सुरक्षित रखने के लिये अनेक ठोस

४. देखिए—प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, तारा पब्लिकेशन्स, कमच्छा, वाराणसी, १९६६, पृष्ठ १३।

प्रयत्न किये, जिससे वैदिक भाषा आज भी (किञ्चित् परिवर्तन के साथ) अपने मूल रूप में सुरक्षित है। इस वैदिक भाषा के समानान्तर एक जो अन्य भाषा विकसित हुई थी, वह है प्राकृत भाषा। यतः दोनों भाषाओं की जननी एक अन्य पूर्व प्रचलित जनबोली है, अतः उस जनबोली के कुछ शब्द दोनों भाषाओं में आज भी समान रूप से देखे जा सकते हैं। डॉ० रिचर्ड पिशल ने ऐसे अनेक शब्दों का उल्लेख किया है और अन्त में लिखा है कि—"प्राकृत का मूल संस्कृत को बताना सम्भव नहीं है और भ्रमपूर्ण है।"[५] यही कारण है कि प्राकृत भाषा लौकिक संस्कृत की अपेक्षा वैदिक संस्कृत के अधिक निकट है। वैदिक संस्कृत और प्राकृत के शब्दों एवं धातुओं में द्विवचन का अभाव उक्त भाषाओं की समानता की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। इस प्रसंग में डॉ० पिशल का यह कथन भी मननीय है कि —"प्राकृत भाषा की जड़े जनता की बोलियों के भीतर जमीं हुई हैं और इनके मुख्य तत्त्व आदिकाल में जीती-जागती और बोली जाने वाली भाषा से लिये गये हैं; किन्तु बोलचाल की वे भाषाएँ, जो बाद को साहित्यिक भाषाओं के पद पर चढ़ गईं, संस्कृत की भाँति ही ठोको-पीटी गईं, ताकि उनका एक सुगठित रूप बन जाय।"[६] इस प्रकार की जो परिष्कृत प्राकृत अथवा साहित्यिक भाषा बन गई, उसका प्रवाह रुक गया, किन्तु बोलचाल की प्राकृत का विकास अवरुद्ध न हो सका। भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में बोले जाने के कारण इस भाषा ने अनेक क्षेत्रीय नाम भो धारण किये। भरतमुनि ने क्षेत्रों के आधार पर प्राकृत के सात भेदों का उल्लेख किया है मागधी, अवन्तिजा, प्राच्या, सौरसेनी, अर्धमागधी, बाह्लीका, और दाक्षिणात्या।[७] विविध प्राकृतों के ये नाम भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में बोले जाने का स्पष्ट संकेत करते हैं। इन विविध प्राकृतों का विकास भारतीय आर्य भाषाओं के विकास का इतिहास है। महाकवि रुद्रटकृत काव्यालंकार की टीका

---

५. प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, रिचर्ड पिशल, अनुवादक—डॉ० हेमचन्द्र जोशी, बिहार राष्ट्र-भाषा परिषद्, पटना-३, १९५८, पैरा ६, पृष्ठ ८-९।

६. प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, पैरा ९, पृष्ठ १४।

७. मागध्यवन्तिजा प्राच्या सूरसेन्यर्धमागधी।
बाह्लीका दाक्षिणात्या च सप्तभाषाः प्रकीर्तिताः॥
—नाट्यशास्त्रम् (काव्यमाला ४२), सम्पा०—पण्डित केदारनाथ साहित्यभूषण, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, पुनर्मुद्रण १९८३, १७/४८।

(वि. सं. ११२५) में श्वेताम्बर जैन विद्वान् नमिसाधु ने एक पद्य[८] की व्याख्या के अन्तर्गत लिखा है—

"प्राकृतेति। सकलजगज्जन्तूनां व्याकरणादिभिरनाहितसंस्कारः सहजो वचनव्यापारः प्रकृतिः। तत्र भवं सैव वा प्राकृतम्।....... प्राक्पूर्वं कृतं प्राकृतं बालमहिलादिसुबोधं सकलभाषानिबन्धनभूतं वचनमुच्यते। मेघनिर्मुक्तजलमिवैकस्वरूपं तदेव च देशविशेषात्संस्कारकरणाच्च समासादितविशेषं सत्संस्कृताद्युत्तरविभेदानाप्नोति। अतएव शास्त्रकृता प्राकृतमादौ निर्दिष्टं तदनु संस्कृतादीनि। पाणिन्यादि व्याकरणोदितशब्दलक्षणेन संस्करणात्संस्कृतमुच्यते।[९]"

अर्थात् संसार के समस्त प्राणियों का व्याकरणादि संस्कार से रहित सहज वचन व्यापार प्रकृति है और उससे होने वाली अथवा वही प्राकृत है। प्राकृत शब्द दो पदों से बना है—प्राक् + कृत। जिसका अर्थ है—पहले किया गया। बालकों और महिलाओं के लिए यह सहज है तथा समस्त भाषाओं का मूल (कारणभूत) है। यह प्राकृत मेघनिर्गत जल की भाँति पहले एक रूप है, पुनः वही प्राकृत देश अथवा क्षेत्रविशेष और संस्कार विशेष के कारण भेद को प्राप्त करती हुई संस्कृत आदि उत्तरभेदों को प्राप्त होती है। इसीलिए शास्त्रकार रुद्रट ने पहले प्राकृत का निर्देश किया है और तत्पश्चात् संस्कृत आदि का। पाणिनी आदि व्याकरणों के नियमानुसार संस्कार किये जाने के कारण वही प्राकृत संस्कृत कहलाती है।

उपर्युक्त तथ्यों को ध्यान में रखकर यदि हम गम्भीरतापूर्वक विचार करें तो प्रतीत होता है कि बोलचाल के रूप में प्रयुक्त विभिन्न प्राकृतें ही भारतीय आर्यभाषाओं के विकास के मूल मे कारण हैं। जो प्राकृतें संस्कृत भाषा की तरह प्राकृत व्याकरण के नियमों में बद्ध हो गईं, वे सीमा में बद्ध जलाशय की तरह स्थिर हो गईं और उनका विकास अवरुद्ध हो गया, किन्तु बोलचाल की प्राकृतें उन्मुक्त भाव से अपनी स्वतंत्र धारा में प्रवाहित होती रहीं; क्योंकि कोई भी व्यक्ति बोलचाल की

---

८. प्राकृत-संस्कृत-मागध-पिशाचभाषाश्च सूरसेनी च।
षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः॥
—काव्यालंकार (रुद्रट), श्री नमिसाधुकृत संस्कृत टीका सहित, प्रका०—मोतीलाल बनारसीदास, बंगलों रोड, जवाहरनगर, दिल्ली—७, संस्करण १९८३, २/१२, पृष्ठ १३।

९. वही, २/२, पृष्ठ १३।

भाषा की धारा को साहित्यिक भाषा के स्वरूप में बाँधने में न तो समर्थ हुआ है और न होगा। इस तथ्य को एक छोटे से उदाहरण के माध्यम से समझा जा सकता है। गंगा की धारा गंगोत्री से प्रारम्भ होकर गंगासागर में विलीन होती है। यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक है कि इस प्राकृतिक रूप से बहने वाली गंगा की धारा को क्या कोई रोक सकता है। अथवा क्या इस निम्नगा धारा के प्रवाह को अवरुद्ध किया जा सकता है ? इसका उत्तर नकारात्मक ही होगा। क्योंकि गंगा की धारा को रोकने के लिए कोई कितना ही बड़ा बाँध बना दे, किन्तु धारा या तो उस बाँध को तोड़कर या ऊपर से बहकर आगे बढ़ेगी या अपने पूर्व मार्ग को बदलकर। लेकिन स्वतंत्रतापूर्वक आगे बढ़ेगी अवश्य। यही बात प्राकृत भाषाओं के साथ है।

जब विभिन्न प्राकृतें/देशी भाषाएँ साहित्यारूढ़ होकर प्राकृत व्याकरण सम्मत हो गईं तब प्राकृतों/देशी भाषाओं का प्रवाह तटबन्ध तोड़कर आगे बढ़ गया और वहाँ जो बोलियों का साहित्य के रूप में विकास हुआ, उसे कालान्तर में अपभ्रंश कहा गया। अपभ्रंश भी जब साहित्यारूढ़ हो गई तो उस तटबन्ध को तोड़कर जो जनबोली आगे बढ़ी, उससे जो बोलियाँ विकसित हुईं, वे नव्य भारतीय आर्य भाषाओं के रूप में विकसित हुईं। मगही, जूनी, गुजराती, ढूँढारी, बुन्देलखण्डी, बघेली आदि बोलियाँ भी इसी प्राकृत के विकसित रूप हैं। विभिन्न क्षेत्रों में बोलियों के रूप में जो व्यवहार होता है, उसमें विभिन्न प्राकृतों/अपभ्रंशों के शब्द मूल रूप में अथवा किञ्चित् परिवर्तन के साथ प्रचुर मात्रामें उपलब्ध होते हैं। तात्पर्य यह कि प्राकृत भाषा एक ऐसी धारा है, जो वैदिक काल के पहले से ही आज तक बहती चली आ रही है। आज भी स्त्रियों एवं बच्चों की बोलचाल की भाषा में इधर को इहर, बाबू को बाऊ, जाओ को जो आदि अनेक रूप दिखेंगे, जो प्राकृत भाषा की धारा के ही अंग हैं। यह बोलचाल में प्रयुक्त होने वाली भाषा समय-समय पर गंगा की धारा की भाँति अपना आकार-प्रकार बदलती हुई आगे बढ़ी है, बढ़ रही है। अतः प्राकृत भाषा की उत्पत्ति संस्कृत जैसी किसी साहित्यिक भाषा से मानना संगत नहीं है।

प्राकृत को स्वभावसिद्ध प्राचीनकाल से चली आने वाली भाषा मानने पर यह प्रश्न सामने आता है कि आचार्य हेमचन्द्र आदि कुछ प्राकृत-वैयाकरण प्राकृत की उत्पत्ति संस्कृत से क्यों मानते हैं ? इसका समाधान यह है कि प्राकृत-वैयाकरण मूलतः संस्कृत के विद्वान् हैं और उनके समक्ष प्राकृत व्याकरण लिखने के लिए संस्कृत भाषा आधारभूत थी। अतः उन्होंने प्राकृत शब्दों की व्युत्पत्ति के लिए

संस्कृत को प्रकृति मान लिया और जिस प्रकार प्राकृत-वैयाकरणों ने प्राकृत शब्दों का सर्जन करते समय संस्कृत भाषा के शब्दों को आधार बनाया, किन्तु आधार बनाने मात्र से संस्कृत को प्राकृत की जननी मानना तर्कसंगत नहीं है। इसी को स्पष्ट करते हुये डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ने लिखा है कि—"प्राकृत भाषा की उत्पत्ति संस्कृत से नहीं हुई है, किन्तु 'प्रकृतिः संस्कृतम्' का अर्थ है प्राकृत भाषा को सीखने के लिए संस्कृत शब्दों को मूलभूत रखकर उनके साथ उच्चारण भेद के कारण प्राकृत शब्दों का जो साम्य-वैषम्य है उसको दिखाना अर्थात् संस्कृत भाषा के द्वारा प्राकृत भाषा को सीखने का प्रयत्न करना है।"[१०]

प्राकृत भाषा के उपलब्ध सभी व्याकरण सम्बन्धी ग्रन्थ संस्कृत में हैं। एक भी प्राकृत व्याकरण ऐसा नहीं लिखा गया है, जो प्राकृत भाषा में निबद्ध हो। यह भी उक्त कथन की पुष्टि में सहायक है।

निष्कर्ष यह है कि भाषा किसी व्यक्ति, देश अथवा सम्प्रदाय विशेष की नहीं होती है, अपितु जन सामान्य की होती है। अतः प्राकृत की अविच्छिन्न धारा का अध्ययन करने के लिए उपर्युक्त तथ्यों को ध्यान में रखकर आगे बढ़ना चाहिये। इससे प्राकृतों का वास्तविक रूप और नव्य भारतीय आर्य भाषाओं के विकास में प्राकृत के योगदान का सम्यक् मूल्यांकन हो सकेगा।

जैन-बौद्धदर्शन विभाग, संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान संकाय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, बाराणसी–२२१००५

---

१०. प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ १३।

वैदिक भाषा में प्राकृत के तत्त्व

डॉ० प्रेमसुमन जैन, डॉ० उदयचन्द्र जैन

भारतीय आर्यशाखा परिवार की भाषाओं को विद्वानों ने जिन तीन वर्गों में विभाजित किया है वे इस प्रकार हैं—

१. प्राचीन भारतीय आर्यभाषा।

२. मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा।

३. आधुनिक भारतीय आर्यभाषा।

भाषाशास्त्र के इतिहास में विद्वानों ने जो अध्ययन प्रस्तुत किये हैं उनसे यह सामान्य निष्पत्ति हुई है कि इन सभी आर्यभाषाओं का एक दूसरे के साथ सम्बन्ध है। वैदिक भाषा, संस्कृत, प्राकृत एवं आधुनिक आर्यभाषाओं पर स्वतन्त्र रूप से कई अध्ययन प्रस्तुत हो चुके हैं। कुछ इन भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से भी सम्बन्धित हैं। किन्तु वैदिक भाषा और प्राकृत भाषा के तुलनात्मक अध्ययन की दिशा में कोई स्वतन्त्र रूप से और गहराई से कार्य हुआ हो, ऐसा हमारे देखने में नहीं आया है। प्राकृत भाषा पर कार्य करने वाले विद्वानों ने अवश्य ही प्रसंगवश प्राकृत और वैदिक भाषा की समान प्रवृत्तियों की संक्षेप में चर्चा की है, किन्तु वैदिक भाषा और व्याकरण पर देशी-विदेशी विद्वानों के जो ग्रन्थ हम देख सके हैं, उनमें वैदिक भाषा में प्राकृत के तत्त्वों का संकेत भी नहीं मिलता।[1] प्राचीन भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन की दिशा में यह स्थिति निराशाजनक ही कही जायेगी।

अध्ययन सामग्री

प्राकृत भाषाओं का अध्ययन प्रस्तुत करते समय डॉ० पिशेल, पं० बेचरदास दोशी, डॉ० प्रबोध पंडित, डॉ० कत्रे, डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री आदि विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में वैदिक भाषा में प्राकृत तत्त्वों के विवेचन के कुछ संकेत दिये हैं।[2] ये संकेत इस दिशा में इस कार्य को करने के लिए प्रेरणादायी हैं। कुछ भाषाविदों में डॉ० सुनीतकुमार चटर्जी, डॉ० सुकुमार सेन, प्रो० तगारे, डॉ० भयाणी, डॉ० गुणे आदि ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है कि वैदिक भाषा के साथ-साथ जो जनबोली चल रही थी वह प्राकृत का प्रारम्भिक रूप है और उससे कुछ समान तत्त्व वैदिक भाषा और प्राकृत

में समान रूप से ग्रहण किये गये हैं।[3] ज्यून्स ग्लास ने भी अपने फलांग व्याख्यानों में वैदिक भाषा और प्राकृत के सम्बन्ध को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।[4] इधर गत दो दशकों में जो प्राकृत भाषा पर विभिन्न सेमिनार हुए हैं, उनमें भी आधुनिक विद्वानों में से कुछ ने इस दिशा में प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है।[5] इस अवधि में वैदिक भाषा और प्राकृत साहित्य पर जो कार्य सामने आये हैं उनके तुलनात्मक अध्ययन से भी वैदिक भाषा में प्राकृत के तत्त्व खोज निकालने में सुविधा प्राप्त हुई है। इस तरह उपर्युक्त सामग्री के आधार पर वैदिक भाषा और प्राकृत के सम्बन्ध को सोदाहरण स्पष्ट करने का प्रयत्न किया जा सकता है। यद्यपि संकलित सामग्री और अध्ययन की नई दिशाओं के आधार पर यह विषय एक स्वतन्त्र ग्रंथ का विषय है। किन्तु यहाँ रूपरेखा के रूप में कुछ समानताओं पर ही विश्लेषण प्रस्तुत किया जा रहा है।

वैदिक भाषा

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के प्रतिनिधि ग्रन्थ मूलतः चार वेद हैं। यद्यपि इन चारों वेदों की भाषा में विद्वानों ने कुछ स्तर निश्चित किये हैं, किन्तु उसकी संरचना में प्रायः एकरूपता पायी जाती है। वैदिक विद्वान् और आधुनिक भाषाविद् यह स्वीकार करते हैं कि वेदों की भाषा उस समय में प्रचलित कई लोक भाषाओं का मिला जुला रूप है, जिसे छांदस भाषा के नाम से जाना गया है। छांदस भाषा तत्कालीन जनभाषा का परिष्कृत रूप है। यही तत्त्व वर्तमान में उपलब्ध प्राकृत साहित्य की भाषा में थोड़े-बहुत परिवर्तनों के साथ पाये जाते हैं। अतः भाषाविदों का यह निष्कर्ष है कि वैदिक भाषा और प्राकृत-भाषाएँ किसी एक मूल स्रोत से सम्बन्ध रखती हैं। जो उस समय की जनभाषा रही होगी।

प्राचीन भाषा के विकास के मूल में विद्वानों ने तीन देशी विभाषाओं का प्रभाव स्वीकार किया है।

(i) उदीच्य (उत्तरीय विभाषा)।
(ii) मध्यदेशीय विभाषा।
(iii) प्राच्य या पूर्वी विभाषा।

इनमें से उदीच्य विभाषा से छांदस भाषा विकसित हुई, जिसमें वैदिक साहित्य लिखा गया है। और प्राच्य या पूर्वी विभाषा से प्राकृतों का विकास हुआ है। सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से देखें तो यह क्रम ठीक प्रतीत होता है कि वेदों की

संरचना पंजाब, अथवा उदीच्य प्रदेश में हुई मानी जाती है। अतः वैदिक भाषा में उदीच्य विभाषा का अधिक प्रभाव रहा और प्राकृत भाषाओं का साहित्य अथवा प्रयोग पूर्वी प्रदेशों में अधिक रहा इस कारण उसमें प्राच्या विभाषा के तत्त्व विकसित हुए हैं। किन्तु दोनों विभाषाएँ समकालीन होने से एक दूसरे को प्रभावित करती रही हैं, इसी कारण से वैदिक भाषा और प्राकृत में कई समानताएँ प्राप्त होती हैं। वैदिक भाषा में मूर्धन्य ध्वनियों का प्रयोग, न के स्थान पर ण का प्रयोग, विभक्ति रूपों आदि में वैकल्पिक रूपों का प्रयोग, क्रियाओं में सीमित लकारों का प्रयोग आदि विशेषताएँ उसमें प्राकृत तत्त्वोंके मिश्रण को प्रकट करती हैं। इन्हीं प्रवृतियों के कारण वैदिक भाषा के साथ-साथ जनभाषा प्राकृत का अस्तित्व स्वयमेव सिद्ध होता है। बाकरनागल कहते हैं कि प्राकृतों का अस्तित्व निश्चित रूप से वैदिक बोलियों के साथ-साथ वर्तमान था, इन्हीं प्राकृतों से परवर्ती साहित्यिक प्राकृतों का विकास हुआ है।[६] डा० विंटरनित्ज भी यही कहते हैं कि संस्कृत के विकास के साथ ही साथ और समानान्तर बोलचाल की आर्यभाषाओं का अधिक स्वाभाविक विकास भी चल रहा था, जिन्हें हम मध्ययुगी भारतीय भाषाएँ (पाली, प्राकृत, अपभ्रंश) कहते हैं। वे सीधे संस्कृत की उपज नहीं हैं, अपितु प्राचीन लोक भाषाओं (वैदिक भाषा) से अनुबद्ध हैं।[७]

वैदिक भाषा के उपरान्त जब पाणिनी ने अपने समय की प्रायः समस्त भाषाओं को एकरूपता में बाँधने के लिए भाषा का संस्कार कर संस्कृत भाषा का व्याकरण बनाया तो उन्होंने भी अपने पूर्ववर्ती वैदिक भाषा और प्राकृत की समान प्रवृत्तियों का संकेत अपने ग्रन्थ में किया है। वैदिक-प्रक्रिया में प्रायः इसी प्रकार के शब्दों का कथन है। बहुलं छंदसि आदि कहकर पाणिनी वैदिक भाषा के वैकल्पिक प्रयोगों का संकेत करते हैं।[८] जो प्राकृत की एक सामान्य विशेषता है। प्राचीन भारतीय भाषाओं की इन प्रवृत्तियों को संस्कृत में निबद्ध कर देने के उपरान्त भी तत्कालीन साहित्य में जनभाषा के तत्त्व प्रयुक्त होते रहे हैं। यद्यपि उनकी मात्रा वैदिक भाषा की अपेक्षा कुछ कम है। ब्राह्मण, उपनिषद्, रामायण एवं महाभारत के प्रणयन में भी विशुद्ध रूप से संस्कारित भाषा के नियमों का पालन नहीं हुआ है। चूँकि इनका सम्बन्ध लोक जीवन से था। अतः यत्र-तत्र लोकभाषा के तत्त्व भी इन काव्यों में प्रयुक्त हुए हैं।[९] महाकाव्य युग के बाद तो पाली-प्राकृत के प्रयोग लोक और साहित्य दोनों में होने लगते हैं। जिसका उदाहरण त्रिपिटक, आगम एवं प्राकृत का शिलालेखी साहित्य है। अतः वैदिक युग से लेकर महावीर और बुद्ध के युग तक प्राकृत भाषा का विकास और प्राकृत का समकालीन साहित्य तथा संस्कृति से सम्बन्ध आदि विषयों पर गहराई से अध्ययन

किया जाना अपेक्षित है। यहाँ हम वैदिक भाषा में प्राकृत के तत्त्वों के अन्वेषण तक ही अपने को सीमित रखते हैं।

प्राकृत भाषा

भाषाविदों ने प्रकृति अर्थात् स्वभाव से उत्पन्न लोकभाषा को प्राकृत भाषा का नाम दिया है। अतः प्राकृत भाषा का अर्थ हुआ लोगों का स्वाभाविक वचन-व्यापार। इसी स्वाभाविकता के कारण प्राकृत कुछ विशिष्ट वर्ग की भाषा न होकर जन-सामान्य की भाषा बनी रही है। साहित्य की दृष्टि से महावीर के बारह आगम ग्रन्थ आदि जिस भाषा में प्राक् कृत अर्थात् सर्वप्रथम लिखे गये हों, उस भाषा को भी प्राकृत नाम दिया गया है। यह प्राकृत भाषा केवल दर्शन ग्रन्थों तक ही सीमित नहीं है, अपितु लगभग दो हजार वर्षों की अवधि में इसमें भारतीय साहित्य की प्रायः सभी विधाओं में ग्रन्थ लिखे गये हैं। इस विशाल साहित्य को ध्यान में रखकर प्राकृत वैयाकरणों एवं आधुनिक विद्वानों ने प्राकृत भाषा की कई विशेषताएँ रेखांकित की हैं।[१०]

भारोपीय परिवार की भाषाओं के अध्ययन करने को जो विशेष पद्धति भाषा-विदों ने प्रचलित की है, उसे भाषा-विज्ञान के नाम से जाना जाता है। भारोपीय परिवार की भाषाओं का सम्बन्ध, स्वरूप एवं विकास की दृष्टि से इस क्षेत्र में सर्वाधिक प्रचलित सशक्त भाषा संस्कृत के साथ रहा है। अतः संस्कृत के अतिरिक्त अन्य-भाषाओं का अध्ययन वैयाकरणों और आधुनिक भाषाविदों ने संस्कृत भाषा की प्रवृत्तियों को मूल में रखकर किया है। यहाँ तक की अवेस्ता, जर्मन, ग्रीक, लैटिन आदि भाषाओं की प्रवृत्तियों का ज्ञान कराने के लिए भी संस्कृत को मूल में रखा गया है।[११] अध्ययन की दृष्टि से इनके मूल में संस्कृत होते हुए भी जिस प्रकार ये सभी भाषाएँ आज स्वतंत्र भाषाएँ मानी जाती हैं, उसी प्रकार प्राकृत भी एक स्वतंत्र विक-सित भाषा है, भले ही उसकी प्रवृत्तियों का अध्ययन आज तक संस्कृत को माध्यम बनाकर किया गया हो।

यही स्थिति वैदिक भाषा के अध्ययन की रही है। उसकी सभी प्रवृत्तियों को संस्कृत में खोजने का प्रयत्न किया गया है, जबकि उसकी अनेक प्रवृत्तियाँ प्राकृत भाषा से मिलती-जुलती हैं। वैदिक भाषा के पूर्व प्रचलित जनभाषा प्राकृत के स्वरूप को प्रकट करने वाले साहित्य का अभाव होने से यह कह पाना आज कठिन है कि वैदिक भाषा में जो प्राकृत के तत्त्व प्राप्त होते हैं वे मौलिक हैं अथवा वैदिक भाषा से

उनका प्राकृतीकरण हुआ है। वैदिक साहित्य में प्राकृत प्रथमा विभक्ति एक वचन में प्रयुक्त देवो, देव, देव इन शब्दों में से कौन मूल है तथा कौन तद्भव। इसका निर्णय करना विद्वानों के समक्ष विचारणीय प्रश्न है। यद्यपि भाषाविदों ने मुख सौकर्य आदि कारणों द्वारा भाषा के विकास को कठिनता से सरलता की ओर गति करने की बात कही है। किन्तु यह अंतिम निष्कर्ष नहीं है। मुख शब्द से मुँह बना अथवा मुँह से मुख इस प्रकार के परिवर्तनों को नये ढंग से सोचा जाना आवश्यक हो गया है। तभी वैदिक भाषा, संस्कृत और प्राकृत आदि भाषाओं के विकास को ऐतिहासिक क्रम से समझा जा सकेगा।

अतः प्रस्तुत निबंध में फिलहाल प्रचलित प्रवृत्ति का आश्रय लेते हुए संस्कृत को मूल में रखकर वैदिक भाषा में प्राकृत तत्त्व स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। भाषाविदों द्वारा स्वीकृत शब्दावली के अनुसार वैदिक भाषा की निम्न प्रवृत्तियों में प्राकृत के तत्त्व देखे जा सकते हैं। जैसे–(१) स्वर परिवर्तन (२) व्यञ्जनों का सरलीकरण (३) शब्दरूपों में वैकल्पिक प्रयोग (४) विभक्तिलाघव एवं वचनलाघव (५) देशी शब्दों के प्रयोग की अधिकता (६) मूर्धन्य ध्वनियों का प्रयोग (७) क्रियारूपों में लाघव (८) कृदंत प्रत्ययों का सरलीकरण (९) संधि प्रयोगों में प्रकृतिभाव आदि।

ध्वनि परिवर्तन

वैदिक भाषा और प्राकृत भाषा में ध्वनि परिवर्तन के अन्तर्गत स्वर और व्यंजनों के परिवर्तन में कई साम्य देखे जा सकते हैं। वैदिक भाषा में ऐसे कई उदाहरण प्राप्त होते हैं, जिन्हें सुविधा की दृष्टि से स्वर-परिवर्तन और व्यंजन-परिवर्तन के अन्तर्गत प्रस्तुत किया जा सकता है।

स्वर परिवर्तन

स्वर परिवर्तन के अन्तर्गत ह्रस्व स्वर का दीर्घ हो जाना, दीर्घ स्वर का ह्रस्व होना, एक स्वर के स्थान पर दूसरे स्वर का प्रयोग होना, व्यंजन के साथ स्वर का आगम हो जाना तथा स्वरों का लोप हो जाना आदि प्रवृत्तियाँ वैदिक भाषा और प्राकृत में प्रायः समान देखी जाती हैं। भाषा विज्ञान में ह्रस्व मात्रा का नियम बहुत प्रचलित है। प्राकृत में यह प्रवृत्ति अधिक पायी जाती है कि कभी स्वर ह्रस्व से दीर्घ एवं दीर्घ से ह्रस्व हो जाते हैं। वैदिक भाषा में भी यह प्रवृत्ति देखने को मिलती है।

यथा :—

(१) ह्रस्व का दीर्घ

वैदिक	संस्कृत	प्राकृत
पिना[१३] (ऋ, १,१५,५)	अश्व	आसो
अथा (ऋ, १,७६,३)	वर्षः	वासो
मेना[१४] (अथर्व-१,९,३)	प्रकटं	पायडं
हरी (अथर्व १,६,२)	हरि	हरी
दूलह (अथ ४,९,८)	दुर्लभ	दूलह
पूरुष[१५] (यजु-१२-७८-१)	पुरुष, पुष्य	पूसो
वायू (ऋ १-२-४)	वायु	वायू
दूनाश (ऋ ४-९-८)	दुर्नाश, दुकूल	दुअल्लं

(२) दीर्घ का ह्रस्व

वैदिक	संस्कृत	प्राकृत
अमत्र (ऋ २-३६-४)	अमात्र	अमत्त
महि (ऋ १-११९-४)	मही	महि
रोदसिप्रा (ऋ १०-८८-१०)	रौदसीप्रा-गभीरम्	गहिरं

प्राकृत में एक विशेष प्रवृत्ति है कि शब्दों के स्वर दूसरे स्वरों में बदल जाते हैं। जैसे–अ का इ, उ आदि। यही प्रवृत्ति वैदिक भाषा में मिलती है।

(३) स्वरागम

वैदिक	संस्कृत	प्राकृत
महित्व (अथर्व ४-२-४)	महत्व, उत्तम	उत्तिमो
अङ्गिर (यजु १२-८-१)	अंकार, मध्यमः	मज्झिमो
तनुवम् (तै, सं ७-२२-१)	तन्वम्	तणुवं
सुवर्ग (तै० ४-२-३)	सवर्गः	सुवग्गो
त्रियम्बकम् (वै० प्र० ६-४-८६)	त्र्यम्बकम्, व्यजन	विअणं
सुधियो[१६]	सुध्यो, कूर्पास	कुप्पिसो, कुप्पासो
रात्रिया[१७]	रात्र्या, द्रव्य	दविय

(४) स्वरलोप

वैदिक	संस्कृत	प्राकृत
पूष्णे (यजु-३-८-१५)	पूषण, प्रस्तावः	पत्थवो
परुष्परु (अथर्व ४-९-४)	परुषापरु, दावाग्नि	दवग्गी
उत त्मना (यजु १३-५२-१)	उत आत्मना, अलावु	लावू

(५) **इ का ए**

एदं (सा० ६६६)	इदं	एअं
एंद्र (सा० ३९३)	इंद्र, शय्या	सेज्जा
एतो (सा० ३५०)	इतः	एओ

(६) **ऋ के परिवर्तन**

प्राकृत में प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के ऋ वर्ण का अभाव है और उसके स्थान पर अ, इ, उ, ए, रि आदि का प्रयोग होता है। यथा—

कराम (यजु १९-६२-१)	कृ	करइ
पितर (अथर्व ६-१२०-१)	पितृ	पिअर
मातर (अ० ६-१२०-१)	मातृ	माअर
पिता (अ० ६-१२०-२)	पितृ	पिआ-पिदा
रजिष्ठम् (वै० प्र० ६-४-१६२)	ऋजिष्ठम्, ऋद्धि	रिद्धि
बुंद (निरुक्त पृ० ५२२)	वृंद	बुंद
कुठ (ऋ १-४६-४)	कृत, पृथिवी	पुहई
गहे (वै० प्र०)	गृह	गेह
एध[19]	ऋध, वृन्तम्	वेट्टं

(७) **ऐ का ए**[20]

केवत	कैवत, शैला	सेला
वोढवे	वोढवै, ऐरावण	एरावण
मेध्ये	मेध्यै, कैलास	केलास
सेन्यं (अ० का० १८-१-४०)	सैन्यं	सेन्य

(८) **औ का ओ**[21]

ओषधी	औषधी	ओषहि
स्नोपशा	स्वौपशा, कौमुदी	कोमुई

(९) **अय का ए**

त्रेधा (यजु० ५-१५-१)	त्रयधा, सौन्दर्य	सुन्देरं
श्रेणी[22]	श्रयणी, नयति	नेति
अन्तरेति (शत १-२-३-१८)	अन्तरयति, कयली	केली
क्षेणाय[23]	क्षयणाय, कयल	केलं

(१०) अव को ओ

श्रोणी (अथ० १-२-३)	श्रवण, नवमल्लिका	णोमालिया
लोण[२४]	लवण	लोण
ओर्नाति[२५]	अवनयति	ओणइ

(११) विसर्ग का ओ

प्राकृत में विसर्ग का प्रयोग नहीं होता है। प्रायः इसके स्थान पर ए अथवा ओ प्रयुक्त होता है। वैदिक भाषा में यद्यपि विसर्ग का प्रयोग होता है, किन्तु उनके विकल्प रूपों में ए और ओ वाले प्रयोग भी पाये जाते हैं। यथा—

देवा (ऋ १-१-५)	देवः	देवो
वायो (अथ-१-२२-१)	वायः	वायो
सो (ऋ १-१९१-११)	सः	सो

(१२) विसर्ग का लोप

देव (ऋ १-१३-११)	देवः	देव
वाय (ऋ १-२-२)	वायः	वाय
स (ऋ १-१-२ (अ २-१-३)	सः	स

(१३) ए का प्रयोग

ये (ऋ १-१९-३७)	यः	ये, से

(१४) व्यञ्जनपरिवर्तन

प्राकृत शब्दों में व्यञ्जन परिवर्तन की प्रवृत्ति कई प्रकार से देखी जाती है। कई जगह आदि व्यञ्जन का लोप, कई जगह मध्य-व्यञ्जन लोप और कई स्थानों पर अन्त्य व्यञ्जनों का। वैदिक भाषा में ये सभी प्रकार के व्यञ्जन परिवर्तन पाये जाते हैं। कुछेक उदाहरण द्रष्टव्य हैं :—

(१५) क को ग

गुल्फ (अथ० १-२०-२)	कुलफ, एक	एगो
गार्त[२५]	कार्त, काकः	कागो

(१६) ख को ह

मह (ऋ १-२२-११)	मखः, मुख	मुह

(१७) **ट को ड**

हव्यराड् (ऋ १-१२-६)	हव्यराट्, नटः	नडो
जनराड् (यजु ५-२४-१)	जनराट्, भटः	भडो
स्वराड् (यजु ५-२४-१)	स्वराट्, घटः	घडो
सम्राड् (यजु ४-३०-१)	सम्राट्, घटति	घडइ

(१८) **ड को ल**

ईले[२६]	ईडे, दाडिम	दालिम
अहेलमान	अहेडमान, क्रीडति	कीलइ

(१९) **न को ण**

ण (साम-सू० ५७)	न	ण
णो (सा० २५)	नो	णो
णयामि (अ० २-१९-४)	न	णई

(२०) **ध को थ, थ को ध**

समिथ (यजु १७-७९-१)	समिध	—
माघव (शतब्रा-४-१-३-१०)	माधव	—
अध (सा० १४९६)	अथ	अध
नाध[२७]	नाथ यथा	जध

(२१) **द को ड**

दूडम (वा० सं० ३-३६)	दुर्दम, दम्भः	डम्भो
पुरोडास (यजु ३-४४)	पुरोदास, दाहः	डाहो

(२२) **प[२८] को ब**

त्रिष्टुब गायत्री (ऋ १०-१४-१६)	त्रिष्टुप, कुणपं	कुणवं
	क्लापः	क्लावो

(२३) **ब को भ**

त्रिष्टुभ (यजु १३-३४-१)	त्रिष्टुब, बिसनी	भिसिणी

(२४) **भ को ह**

दूलह (ऋ १-६१-१४)	दुर्लभ	दूलह
ककुह (ऋ १-१८१-५)	कुकुभ, ऋषभ	ककुह, रिसह

(२५) य को ज

जुष्ठोहि (ऋ १-४४-२)	युष्ट, यशः	जसो
जज्ञानां (ऋ १-२३-४)	यज्ञानां	जण्णाणं
जामि (ऋ १-६५-४)	यामि	जामि
ज्योतिस् (ऋ ४-३७-१०) अ० २-२८-७)	द्योतिस्, यमः	जोइस, जमो

(२६) व को य

पृथुजवः (नि० पृ० ३८३)	पृथुजयः, लावण्यं	लायण्णं

(२७) र को ल

मधुला (ऋ १-१९१,७०)	मधुर, चरण	चलणो
	करुणः	कलुणो
लोम (अ० ४-१२-४)	रोम	लोम

(२८) ल को र

सरिर[२९]	सलिल, स्थूल	थोर

(२९) ह को भ

गृभीतां (ऋ १-१६२-२)	गृहीत	गंभीअ

(३०) ह को घ

सुदुघां (साम सू० २९५)	सुदुहां, संहार	संघार
सवर्दुघां (सा० सू० २९५)	सर्वदुहां, दाह	दाघ
विदेघ (शत० ब्रा० ४-१-३-१०)	विदेह	विदेघ

(३१) संयुक्त व्यञ्जन क्ष को च्छ

अच्छ (अथ-३-४-३)	अक्ष, वृक्ष	वच्छ
ऋच्छला	ऋक्षला, रूक्ष	रिच्छ
परिच्छ	परिच्छव, सादृक्ष्ये	सारिच्छं
	कुक्षिः	कुच्छी

(३२) व्यञ्जन द्वित्व प्रवृत्ति

वीर्य्येण यजु ५-२०-१)	वीर्येण, पर्यंत	पज्जंत
सूर्य्यरूप (यजु ४-३५-९)	सूर्य	सुज्ज

	पूर्व्यं (यजु ४-३५-१)	पूर्वं	पुव्व
	वीर्य्यं (शत ३-२-२-५)	वीर्यं	विज्ज
(३३)	**आदि व्यञ्जनलोप**		
	युवां (ऋ १-१७-७)	युवाम्, स्तुति	थुइ
(३४)	**मध्य-व्यञ्जनलोप**		
	आता (नि० ४-१४२)	आगतः, स्थविरः	थेरा
	यामि (नि० १००)	याचामि, कुतूहलम्	कोहलं
(३५)	**अन्त्य व्यञ्जन लोप**		
	उच्चा (ऋ १-१२३-२)	उच्चात्	उच्चा
	नीचा (ऋ २,१३,१२)	नीचात्	नीचा
	पश्चा (ऋ १-१२३-५)	पश्चात्	पत्वा
	तस्मा (अथर्व ८-१०-१)	तस्मात्	तम्हा
	यस्मा (ऋ १-२५-५)	यस्मात्	जम्हा
	महा (ऋ १-१६५-२)	महान्	महा-मह
	वैष्णवा (यजु ५-२५-१)	वैष्णवान्	
(३६)	**पद के अंत में रहनेवाले म् का अनुस्वार**		
	अरं (ऋ १-५-३)	अदम्	अदं
	लोकानां (अ० ४-३५-१)	लोकानाम्	लोआणं
	अग्निं (सा० ३)	अग्निम्	अग्गिं
	विष्णुं (सा० ९१)	विष्णुम्	विण्णुं
(३७)	**विपर्यय**		
	निष्टकर्यं (वै० प्र० ३-१-१२३)	निसृकर्त्य	मरहट्ठ
	तर्क (नि० १०१-१३)	कर्तुः, वाराणसी	वाणारसी
(३८)	**अघोष का घोष**		
	गुल्फ (अ० १-२०-२)	कुल्फ, एक	एका
	गार्त (कत्रे प० ६१)	कार्त, अमुकः	अमुगो
	त्रिष्टुभ (ऋ १०,१४,१६)	त्रिष्टुप, आकारः	आगारो
	सम्राड् (यजु ४-३९१)	सम्राट् घटः	घडो
(३९)	**घोष का अघोष**		
	विभीदक (प्राकृत विमर्श)	विभीतक, भवति	होदि-हवदि

(४०) अल्पप्राण का महाप्राण

मह (ऋ १-२२-११)	मख, मुख	मुह

(४१) समीकरण

पक्क (ऋ १-६६-२)	पक्वः	पक्को

(४२) स्वरभक्ति

अंकिर (यजु १२-८-१)	अंकार, उत्तम	उत्तिम
सुवर्ग (तैसं० ४, २-३)	स्वर्गः	सुवग्गो
तनुवं (तै० सं० ७-२२-१)	तन्वम्	तणुमं

(४३) शब्द रूपों में समानता

प्राकृत में कारकों की कमी तथा उनका आपस में प्रयोग प्रायः देखा जाता है। वेदों में भी चतुर्थी विभक्ति के स्थान में षष्ठी, तृतीया के स्थान पर षष्ठी आदि कारकों का परिवर्तन प्राप्त होता है। इसी तरह नाम रूपों में प्रयुक्त कई प्रत्यय भी प्राकृत और वैदिक में समान हैं। सर्वनामों में भी कई प्रयोग समान देखे जाते हैं। इसी तरह वैदिक में प्राकृत की तरह द्विवचन के स्थान पर बहुवचन का प्रयोग पाया जाता है। तथा कुछ शब्द विभक्ति रहित भी प्रयुक्त होते हैं।

यथा—

वैदिक	संस्कृत	प्राकृत
देवो (ऋ १-१-५) प्रथमा एकवचन		
देव (ऋ १-१३-११)	देवः	देवो, देव
देवेभिः तृतीया बहुवचन	देवैः	देवेहि

प्राकृत में प्रयुक्त हरिणो, गिरिणो, राइणो, आदि शब्द रूपों की तरह वैदिक में भी सुरणो (ऋ ३-२९-१४), घर्मणो (ऋ १-१६०-१) कर्मणो (ऋ १-११-९७) आदि कई रूप प्रयुक्त होते हैं।

(४४) सर्वनाम शब्द रूप

वैदिक	संस्कृत	प्राकृत
सो (ऋ० १३,१००,४) स (ऋ १३,८२,४)	सः	सो स से
यो (ऋ १३,८१,६) जो (ऋ ७,३३,१२)	यः	जो, ज, जे
ये (ऋ ५,१९,६)		
य (ऋ ५,१९,४) य (ऋ १३,७४,२)		

ते	ते	ते
अहं, ह (अथ २,२७,३)	अहम्	अहं, हं
मो (अ १,१९,१)	वयम्	मो
मे (ऋ १४,९३,१) चतु० एक०	मह्यम्	मे
णो (ऋ १,१८,३) चतु० बहु	नः	णो
अस्मे (ऋ १२,७२,२) ,,	अस्मभ्यम्	अम्हे
मे (ऋ १,२३,२०) अ (१,३०,२) सप्त०एक०		
मयि (ऋ १,२३,२२)	मयि	मे मयि

नोट—अस्मे चतु० बहु० का रूप सप्तमी बहुवचन के लिए भी प्रयुक्त होता है।[३१]

तुवं प्र० एक०	त्वम्	तुवं
वो (अ ३,२,२) द्वि० बहु०	युस्मान्	वो
ते (ऋ १,८,९) तव (ऋ १,२,३) च० ए० तुभ्यं		ते तव
तुभ्यं (ऋ १,२,३)		तुभ्यं
वो (ऋ १,२०,५) ब० ब०	युष्मभ्यम्	वो
ता (ऋ ५,२१,४)	तस्मात्	ता
(अ ४,१४,८) पंचमी एक०		

(४५) **समान शब्द**

रायो (युजु० १,१०,२)	राज	रायो
छाग (यजु० १९,८९,१)	छाग	छाग
जाया		जाया
पिप्पलं (ऋ १,१६४,२२)		पिप्पलं
ककुहो (ऋ १,१८१,५)	ककुभ	ककुहो
पूतं (पवित्र) (यजु० १२,१०४,१)		पूअ

(४६) **विशेषण**

पक्को (ऋ १,६६,२)	पक्क पक्को
मूढा (अथर्व ६,६१,२)	मूर मूढो

(४७) **तद्धित**

वैदिक भाषा में तद्धित शब्द रूपों का प्राकृत के समान ही प्रयोग देखा जा सकता है। यथा—

मद्रिमा, पुण्यमा (ऋ ३,४३,२)	पीणिमा, पुप्फिमा
सखित्व (ऋ १,१०,६)	सहितं

(४८) **अव्यय**

'उ' और 'ओ' अव्यय का वैदिक और प्राकृत भाषा में प्रचुर प्रयोग-सूचना विस्मय, पश्चाताप आदि के अर्थों में हुआ है।

'ण'–'न' के रूप में 'इव' के अर्थ मे प्रायः प्रयोग हुआ है। मा–इम निषेध अर्थ में प्रयोग हुआ है।

तावत् यावत् के लिए तत यत का प्रयोग वैदिक भाषा में हुआ है, और प्राकृत में त, य का प्रयोग हुआ है।

इसी तरह बहुत से अवयव ऐसे हैं जो प्राकृत और वैदिक भाषा में समान रूप में प्रयुक्त हुए हैं।

(४९) **समान अव्यय**

इह (ऋ १, १३, १०)	इह इध
वा (ऋ १,६,९)	वा
हि (ऋ १,६,७)	हि
वि (ऋ १,७,३)	वि
नहि (अथर्व १,२१,३)	नहि
जहि (अ १,२१,२)	जहि
नमो (अ, शु १)	नमो
कुह (ऋ १,४६,९)	कुह
कदु (ऋ १,१८१,१)	कदु
याव (अ ४,१९,७)	जाव
अथा (यजु १२,८,१)	अध अह
उं (८,९,१)	उं
कया (किस) (साम १६८)	कया
अया (इस) (साम १,२,४)	अया
आ (अ २,१०,७)	आ
क्व (सा २७१)	क्व
आणिं (ऋ १,३६,६)	दाणिं

(५०) वीप्सा

वैदिक भाषा में वीप्सा शब्दों का प्रयोग प्राकृत की तरह ही हुआ है। यथा—

एक्कमेक्कं (ऋ १,२०,७)	एक्कमेक्कं-एक्केक्कं
रूपं रूपं (अ १,२१,३)	एक्कं एक्कं
भूयो भूयो (अ ४,२१,२)	भूयो भूयो

(५१) क्रिया रूप

जिस प्रकार वैदिक भाषा में धातुओं में किसी प्रकार का गण भेद नहीं है, उसी प्रकार प्राकृत भाषा में धातुओं में गण भेद नहीं है। यथा—

वैदिक	संस्कृत	प्राकृत
हनति	हन्ति	हनति हणइ
शयते	शेते	सयते सयए
भेदति	भिनति	भेदति
मरते	म्रियते	मरते मरए

कुछ वैदिक क्रियारूपों के वर्तमानकाल प्रथम पुरुष एकवचन में 'ए' प्रत्यय का प्रयोग हुआ है।

शोभे (ऋ १,१२०,५)	शोभते	सोभए सोभइ (हे० ३|१५८)
दुहे (अ १,११,१२)	दुहते	दुहए
शये (वे० प्र० ७,१,१	शयते	सयए सयइ
ईसे (स० प्र० ४६८)	इष्टे	ईसे ईसए

आज्ञार्थक लोट लकार में भी वैदिक भाषा और प्राकृत भाषा में कुछ समानता देखने को मिलती है। मध्यम पुरुष एकवचन में हि एवं लोप प्रत्यय की प्रवृति है। जैसे—

गच्छहि	गच्छहि
पाहि (ऋ १,२,१)	पाहि
दह (अ १,२८,२)	दह
गच्छ (यजु ४,३४,१)	गच्छ
तिर (यजु ५,३८,१)	तिर
भज (ऋ १,२७,५)	भज
बोधि (वै० प्र०)	बोधि बोहि

वैदिक और प्राकृत भाषा में आत्मनेपद और परस्मैपद का भी भेद नहीं है।

वैदिक और प्राकृत भाषा में वर्तमानकाल तथा भूतकाल की क्रियाओं के प्रयोग निश्चित नहीं हैं। वैदिक क्रियापद में वर्तमान के स्थान में परोक्ष का प्रयोग देखा जाता है। यथा—

म्रियते-(वर्त०) ममार (परोक्ष) वै० प्र० ३ ४-६ जबकि प्राकृत में परोक्ष के स्थान पर वर्तमान का प्रयोग देखा जाता है। यथा—

प्रेच्छाचक्रे (परोक्ष) पेच्छइ (वर्त०)

शृणोति (वर्त०) सोहीअ (परोक्ष) हे० प्रा० ८/४/४४७

भूतकाल के प्रयोग में क्रिया रूप के पहले 'अ' का अभाव भी देखने को मिलता है। (बेचर–१२३)

वैदिक	**संस्कृत**	**प्राकृत**
मथीत्	अमथ्नात्	मथीअ
रुजन्	अरुजन्	रुजीअ
भूत्	अभूत्	भवीअ

(५२) **क्रियारूपों में एकरूपता**

वैदिक	**प्राकृत**
मुञ्च (अथर्व ३-११-१)	मुञ्च
चर (अथर्व ३-१५-६)	चर
वञ्च (अ० ४-१६-२)	वञ्च
जय (अ० ६-९८-१)	जय
किर (यजु० ५-२६-१)	किर
कर (यजु १९-६२-१)	कर
युज्ज (यजु ५-१४-१)	युज्ज

(५३) वैदिक भाषा और प्राकृत के कृदंत रूपों में न्त और माण प्रत्यय की समानता है।

वैदिक	**प्राकृत**
चरंच (ऋ १-६-१)	चरंत
नमंत (अथर्व ३-१६-६)	नमंत
जयंत (अथ० ७-११८-१)	जयंत
राजंत (ऋ ३-२-४)	राजंत

विहंता (ऋ १-१७३-५)	विहंता
इच्छंत (ऋ १-१६१-१४)	इच्छंत
भरमाणः (ऋ १-७२-५)	रक्खमाण
रक्षमाणः (ऋ १-७२-५)	रक्खमाण
इच्छमानो (अथर्व ३-१५-३)	इच्छमाणो
राचमाना (ऋ ३-७-५)	रोयमाण

इसके अतिरिक्त स्त्रीलिंग बनाने के लिए ई प्रत्यय का प्रयोग भी हुआ है। जैसे – भवंती (अ० ३-१४-६), जीवंती (अ० ३-१४-६), आचरन्ती (ऋ १-१६४-४०)

(५४) हेत्वर्थ कृदन्त के प्रत्ययों में प्रायः समानता मिलती है। यथा—

वैदिक	**संस्कृत**	**प्राकृत**
कर्तवे (वै० प्र० ३-४-९)	कर्तुम्	कत्तवे
दातुं (अथर्व ६-१२२-३)	दातुम्	दाउं
ऐसे (वै० प्र० ३-४-९)	ऐतुम्	एसे

वैदिक और प्राकृत दोनों में अनियमित कृदंतों का भी प्रयोग होता है, किन्तु उनके रूपों में भिन्नता है।

(५५) **संधि रूप**

वैदिक	**प्राकृत**
सवर्ण दीर्घ संधि	
इन्द्राग्नी (ऋ १-२१)	आयारांग (आयार अंग)
ऐतेनाग्ने (ऋ १-२१-१८)	विसमायवो (विसम आयवो)
नसत्या (ऋ १-४७-९)	दसीसरो (दहि ईसरो)
अत्राह (ऋ १-४८-४)	साऊअयं (साउ उअयं)
शचीय (ऋ १-५३-३)	जेणाहं (जेण अहं)
पेनातरअ (अथर्व ४-३५-२)	बहूदग (बहु उदग)
अपवाद	
विश्वा अधि (ऋ २-८-५)	अ आणंतेण
पृथिवी इमं (ऋ २-४१-२०)	ण आणामि
मनीषा अग्निः (ऋ १-७०-१)	
पूषा अविष्टुः (ऋ १०-२६-९)	होइ इह

हरी इव (ऋ १-२८-७)

अक्षी इव (ऋ २-३९-५)

(१) प्राकृत में इवर्ण या उवर्ण के आगे विजातीय स्वर रहने पर उनकी परस्पर सन्धि नहीं होती है।

न युवर्णस्यास्वे (१।६)

जैसेः—उ इन्द्रो, दणु इन्द्र, हावलि अरुणो।

(२) ए दातो स्वरे (१/७)

प्राकृत में ए और ओ के पश्चात् यदि कोई स्वर आ जाय तो परस्पर में सन्धि नहीं होती है। जैसे—नहुल्लिहणे आ

(५६) गुण सन्धि

आ मतेन्द्रेण (ऋ १-२०-५)	विलयेसो (विलया ईसो)
इ हेन्द्राणीमुय (ऋ १-२२-१२)	सासोसासा (सास उसासा)
धनेव (ऋ १-३६-१६)	गूढोअरं (गूढउअरं)
इ हेव (ऋ १-३७-३)	राए सि (राअ एसि)
अस्येद् (ऋ १-६१-११)	
येनोधतो (अथर्व ४-२४-६)	
सूक्तो (यजु ८-२५)	

अपवाद

शचीव–इन्द्र (ऋ १-५३-३)

मम इयं (ऋ १-५७-५)

अस्मा इद् (ऋ १-६१-६)

सत्य इन्द्र (ऋ १-६३-३)

मृगा इव (ऋ १-६९-७)

(५७) प्रकृति सन्धि

महया अदितये (ऋ १-२४-२)	पहावलि अरुणो
अवशा इति (अथ० १२-४-४२)	बहु अवऊढो
महां असि (साम-३-२७६)	दणु इन्द सहिर लित्तो
तन्न अतय (सा० ३-२७४)	वि अ
इन्द्रवायु इमे (ऋ १-२-४)	महुइं

घिष्ण्ये इमे (ऋ ७-७२-३)	वन्दामि अज्जवइरं
सोमो गौरी अधिश्रितः (ऋ ९-१२-३)	रुक्खादो आअओ
युस्मै इत् (ऋ ८-१८-१९)	देवीए एत्थ
अस्मै वा वहतम् (ऋ ८-५-१५)	निसा अरो
त्वे इत् (ऋ १-२९-६)	एओ एत्थ
घनसा उ ईमहे (ऋ १०-६-१०)	अहो अच्छरिअं
होता न ई यं (साम ३-७९२)	गन्ध उडिं
इन्द्र इ ह्वयां (साम ३-७३६)	निसिअरो
बहुले उये (यजु ११-३०-१)	रयणी अरो
	मणु अत्तं

सन्दर्भ

१. (क) वैदिक व्याकरण — डा० रामगोपाल

२. (ख) वैदिक व्याकरण — मेक्डोनल, अनु–डा० सत्यव्रत शास्त्री, पैरा० ६

२. (क) प्राकृत भाषाओं का व्याकरण — डा० पिशेल

(ख) प्राकृत मार्गोपदेशिका — पं० बेचरदास दोशी, पृ० ११५

(ग) प्राकृत भाषा — डा० पी० बी० पंडित, पृ० १३, वाराणसी १९५४

(घ) प्राकृत भाषाएँ और भारतीय संस्कृति में उनका अवदान — डा० कत्रे, जयपुर १९७२ पृ० ६१–६२

(ङ) प्राकृत भाषा एवं साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास — डा० नेमिचन्द्र शास्त्री पृ० ४–९

(च) प्राकृत विमर्श — डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल, लखनऊ, १९७४ पृष्ठ ४४–४८

३. (क) आर्यभाषा और हिन्दी — डा० सुनीतिकुमार चटर्जी (प्रथम संस्करण) पृष्ठ ५२, ६२, ७०

(ख) तुलनात्मक पालि-प्राकृत अपभ्रंश व्याकरण — डा० सुकुमार सेन, इलाहाबाद १९६९ भूमिका पृ० १–२

(ग) हिस्टोरिकल ग्रामर आफ द अपभ्रंश — प्रो० तगारे

(घ) पउमचरिउ-भूमिका डा० भायाणी
(ङ) तुलनात्मक भाषाविज्ञान डा० पी० डी० गुणे, पृ० १२० आदि
(च) प्राकृत भाषा और उसका इतिहास डा० हरदेव बाहरी, दिल्ली पृ० १३
४. ज्यून्स ग्लास के फर्लांग लेक्चर्स, १९२८
५. प्राकृतिज्म इन द ऋग्वेद जी० वी० देवस्थली प्रोसीडिंग्स आफ द सेमिनार इन प्राकृत स्टडीज, १९६९ पृ० १९९–२०५
६. एलर्टिडिश्चे ग्रामेटिक बाकरनागल, १८९६–१९०५ पृ० १८ आदि
७. प्राचीन भारतीय साहित्य, भाग–१, डा० विन्तरनित्ज़, (अनु) पृ० ३५
८. वैदिक प्रक्रिया पाणिनि, २–४–६२ इत्यादि
९. विन्तरनित्ज़, वही पृ० ३४–३५
१०. (क) सिद्ध हेमशब्दानुशासन हेमचन्द्र (अनुवादक–प्यारचन्द महाराज)
(ख) प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डा० नेमिचन्द्र शास्त्री वाराणसी
११. डा० गुणे, वही, पृ० १०८ आदि ।
१२. कत्रे, वही, पृ० ६१–६२
१३. ऋग्वेद-गायत्री तपोभूमि, मथुरा १९६०
१४. अथर्ववेद-विश्वेश्वरानंद शोध संस्थान, १९६०
१५. यजुर्वेद–आर्य साहित्य मंडल लि०, अजमेर वि० सं० १९८८
१६. प्राकृत मार्गोपदेशिका पृ० ११७
१७. वही पृ० ११७
१८. सामवेद–आर्य साहित्य मंडल लि०, अजमेर वि० सं० १९८८
१९. कत्रे वही पृ०६१
२०. कत्रे वही पृ० ६१–६२
२१. कत्रे वही पृ० ६१
२२. वही पृ० ६१
२३. वही पृ० ६१
२४. वही पृ० ६१
२५. वही पृ० ६२
२६. बेचरदास, वही पृ० ११५

२७. कत्रे वही पृ० ६२

२८. हे० प्रा० प्यारचन्द्र जी महाराज, व्यावर वि० सं० २०२०

२९. कर्णसिंह–भाषाविज्ञान पृ० ११८

३०. शतपथ ब्राह्मण

३१. वैदिक व्याकरण–पृ० ३३९ दिल्ली–१९७३

जैनविद्या एवं प्राकृत विभाग,
सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर, राजस्थान

प्राकृत तथा अन्य भारतीय भाषाएँ

डॉ० प्रेमसुमन जैन

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा काल में जो भाषाएँ प्रचलित थीं उनके रूप ऋग्वेद की ऋचाओं में उपलब्ध होते हैं। अतः वैदिक भाषा ही प्राचीन भारतीय आर्य भाषा है। वैदिक युग की भाषा में तत्कालीन प्रदेश विशेषों की लोक-भाषा के कुछ रूप भी प्राप्त होते हैं—विशेषकर अथर्ववेद की भाषा में। इससे स्पष्ट है कि वैदिक भाषा के अतिरिक्त उस समय बोलचाल की भी कोई भाषा रही होगी। इसी कथ्य जनभाषा से धीरे-धीरे वैदिक साहित्य की भाषा, जिसे छांदस् कहा गया है, विकसित हुई है। वैदिक भाषा में प्राकृत भाषा के तत्त्वों के समावेश से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

जिन लोकभाषाओं से वैदिक युग समृद्ध था, उन्हें तीन भागों में विभक्त किया गया है—(१) उदीच्य या उत्तरीय विभाषा, (२) मध्यदेशीय विभाषा और (३) प्राच्या या पूर्वीय विभाषा। इनमें से प्राच्या देश्य भाषा उन लोगों द्वारा प्रयुक्त होती थी, जो वैदिक संस्कृति से भिन्न विचार वाले थे। इन्हें व्रात्य कहा गया है। इस प्रकार छांदस् और प्राच्य विभाषा से जो भाषा विकसित हुई उसे भगवान् महावीर के समय में मागधी नाम से जाना गया है। इस प्रकार विकास की दृष्टि से प्राकृत और संस्कृत दोनों सहोदरा हैं। एक ही स्रोत जनभाषा से दोनों उद्भूत हैं। क्रमशः इन भाषाओं का साहित्य धार्मिक एवं विधा की दृष्टि से भिन्न होता गया। अतः इनके स्वरूप में भी स्पष्ट भेद हो गये। संस्कृत नियमबद्ध हो जाने से एक ही नाम से व्यवहृत होती रही। वह देव भाषा हो गयी। प्राकृत में निरन्तर लोकभाषा के शब्दों का समावेश होता रहता था। अतः वह रही तो प्राकृत, किन्तु नाम नये-नये धारण करती रही। पालि, अर्धमागधी, महाराष्ट्री, शौरसेनी, पैशाची, अपभ्रंश आदि से गुजरती हुई प्राकृत भारतीय आधुनिक भाषाओं तक पहुँची है।

भारतीय आधुनिक भाषाओं और प्राकृत के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के पूर्व प्राकृत के अर्थ को जान लेना आवश्यक है। प्राचीन विद्वान् नमिसाधु ने प्राकृत शब्द की व्याख्या को स्पष्ट किया है। उनके अनुसार प्राकृत शब्द का अर्थ है—व्याकरण आदि संस्कारों से रहित लोगों का स्वाभाविक वचन-व्यापार। उससे उत्पन्न अथवा वही वचन-व्यापार प्राकृत है। प्राकृत पद से प्राकृत शब्द बना है, जिसका अर्थ है—पहिले किया गया। जैनधर्म के द्वादशांग ग्रन्थों में ग्यारह अंग ग्रन्थ पहिले किये गये हैं। अतः उनकी भाषा प्राकृत है, जो बालक, महिला आदि सभी को सुबोध है। इसी

प्राकृत के देश भेद एवं संस्कारित होने से अवान्तर विभेद हुए हैं। अतः प्राकृत शब्द की व्युत्पति करते समय 'प्रकृत्या स्वभावेन सिद्धं प्राकृतम्' अथवा 'प्रकृतीनां साधारण-जनानामिदं प्राकृतम्' अर्थ को स्वीकार करना चाहिए। जन सामान्य की स्वाभाविक भाषा प्राकृत है।

विभिन्न प्राकृतें

प्राकृत भाषा के प्रयोग में एकरूपता नहीं है। विभिन्न विभाषाओं के बीज क्रमशः उसमें सम्मिलित होते रहे हैं। प्राकृत भाषा के स्वरूप की दृष्टि से दो भेद किये जा सकते हैं – (१) कथ्य प्राकृत और (२) साहित्य की प्राकृत। प्राकृत जनभाषा के रूप में प्राचीन समय से बोली जाती रही है, किन्तु उसका कोई उदाहरण हमारे समक्ष नहीं है। जो कुछ भी प्राकृत का स्वरूप हमारे सामने आया है, वह साहित्य के माध्यम से। इस साहित्यिक प्राकृत के भाषा के प्रयोग एवं काल की दृष्टि से तीन भेद किये जा सकते हैं–प्रथम युग, मध्ययुग और अपभ्रंश युग।

ई० पू० छठी शताब्दी से ईसा की द्वितीय शताब्दी तक के बीच प्राकृत में रचे गये साहित्य की भाषा प्रथम युगीन प्राकृत कही जा सकती है।

ईसा की द्वितीय शताब्दी से छठी शताब्दी तक जिस प्राकृत भाषा में साहित्य लिखा गया है, उसे मध्ययुगीन प्राकृत कहते हैं। वास्तव में इस युग की प्राकृत साहित्यिक प्राकृत थी, किन्तु जनसामान्य की भाषा प्राकृत से भी उसका सम्बन्ध बना हुआ था। प्रयोग की भिन्नता की दृष्टि से इस समय तक प्राकृत के स्वरूप में क्रमशः परिवर्तन हो गया था। तदनुरूप प्राकृत के वैयाकरणों ने प्राकृत के ये पाँच भेद निरूपित किये हैं–अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री, मागधी एवं पैशाची।

प्राकृत एवं अपभ्रंश

मध्ययुग में ईसा की दूसरी से छठी शताब्दी तक प्राकृत भाषा का साहित्य में कई रूपों में प्रयोग हुआ। वैयाकरणों ने प्राकृत भाषा में भी नियमों के द्वारा एकरूपता लाने का प्रयत्न किया, किन्तु प्राकृत में एकरूपता नहीं आ सकी। यद्यपि साहित्य में कृत्रिम प्राकृत का प्रयोग प्रारम्भ हो गया था। इससे वह लोक से दूर हटने लग गयी थी। लेकिन जिन लोक प्रचलित भाषाओं में साहित्यिक प्राकृतों का विकास हुआ था, वे लोक भाषाएँ अभी भी प्रवाहित हो रही थीं। उन्होंने एक नयी भाषा को जन्म दिया, जिसे अपभ्रंश कहा गया है। यह प्राकृत भाषा के विकास की तीसरी अवस्था है।

प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषाओं का क्षेत्र प्रायः एक जैसा था तथा एक विशेष प्रकार का साहित्य इनमें लिखा गया है। विकास की दृष्टि से भी इनमें घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः कई विद्वानों ने प्राकृत-अपभ्रंश को एक मान लिया है, जबकि ये दोनों स्वतंत्र

भाषाएँ हैं। अपभ्रंश जन सामान्य की भाषा का पूर्णतया प्रतिनिधित्व करती है। इसके अतिरिक्त विभक्ति, प्रत्यय, परसर्गों में भी प्राकृत और अपभ्रंश में स्पष्ट अन्तर है। अपभ्रंश में देशी रूपों की बहुलता है। यह उकार बहुला भाषा है।

अपभ्रंश को आभीरी, भाषा, देशी एवं अवहट्ट आदि नाम भी समय समय पर दिये गये हैं। ये सब नाम अपभ्रंश के विकास को सूचित करते हैं। पश्चिमी भारत की एक बोली-विशेष आभीरी से अपभ्रंश प्रभावित है। जन भाषा की बोली होने से इसे भाषा कहा गया है। कथ्य भाषा होने से यह देशी कही गयी है तथा परवर्ती अपभ्रंश के लिए अवहट्ट कहा गया है, जो अपभ्रंश और हिन्दी भाषा को परस्पर जोड़ने वाली कड़ी है। वह आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की पूर्ववर्ती अवस्था है।

प्राकृत अपभ्रंश का दाय : क्षेत्रीय भाषाएं

जब लोकभाषाएं साहित्य में रूढ़ हो जाती हैं तब जन सामान्य में नयी लोक-भाषा का व्यवहार होने लगता है। इस प्रकार लोकभाषाएं विकसित होती रहती हैं। प्राकृत अपभ्रंश के साथ भी यही हुआ। प्राकृतों में कृत्रिमता आ जाने से तथा साहित्य तक सीमित होने से अपभ्रंश भाषा उदय में आयी थी। जब अपभ्रंश का साहित्य में सर्वाधिक प्रयोग होने लगा तथा वह नियमबद्ध होने लगी तो आगे चलकर लोक में अन्य क्षेत्रीय भाषाएं पनपने लगीं। आधुनिक आर्य भाषाओं ने प्राकृत संस्कृत के गुणों को अपनाकर अपभ्रंश के प्रभाव से अपने को अधिक स्पष्ट और सरल बनाया है। उनमें प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश इन तीनों की विशेषताएं एकत्र हुई हैं। किन्तु लोक-भाषा होने के कारण प्राकृत और अपभ्रंश का दाय उनके विकास में अधिक है। यह संक्रान्ति काल की कुछ रचनाओं के अध्ययन से जाना जा सकता है।

संक्रान्ति काल की कुछ रचनाएं इस बात की सबल प्रमाण हैं कि प्राचीन अप-भ्रंश आदि में नवीन भाषाओं का कैसे संमिश्रण हो रहा था। अब्दुल रहमान के सन्देश-रासक में स्वर संकोच होने लग गया था। संयुक्त व्यंजनों में से प्रायः एक ही सुरक्षित रखा जाता था। जैसे-उच्छ्वास > उस्सास > उसास आदि। इसी तरह प्राकृतपैंगलम् एवं पुरातनप्रबन्धसंग्रह की भाषा क्रमशः अपभ्रंश की स्थिति को छोड़ती हुई लोकभाषाओं की ओर बढ़ रही थी। पश्चिमी हिन्दी, गुजराती और राजस्थानी भाषाओं के बीज इनमें देखे जा सकते हैं।

उक्तिव्यक्तिप्रकरणम् की भाषा में काशी, कौशल प्रदेश की काव्य भाषा के स्वरूप का प्रामाणिक परिचय मिलता है। विशेषकर अवधी भाषा का प्राचीन रूप इनमें देखा जा सकता है। इस ग्रन्थ की भाषा में आधुनिक भारतीय भाषाओं को जन्म देने वाली सामान्य प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं। वर्ण-रत्नाकर मैथिली का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ है। इसकी भाषा में मैथिली के प्राचीनतम रूप तो सुरक्षित हैं ही,

बंगला, मगही और भोजपुरी भाषाओं के प्राचीन रूपों पर भी इससे प्रकाश पड़ता है। कीर्तिलता नामक अवहट्ठ भाषा का ग्रन्थ इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करता है।

चर्यापद की भाषा की कुछ विशेषताएं बंगला के विकास पर प्रकाश डालती हैं। बंगला तथा पूर्वी भारत की अन्य भाषाएं असमिया, उड़िया आदि मागधी-प्राकृत व अपभ्रंश की प्रवृतियों से अधिक प्रभावित हैं। ज्ञानेश्वरी की भाषा में मराठी भाषा का प्राचीन रूप देखने को मिलता है, जो महाराष्ट्री प्राकृत से विकसित माना जाता है।

आधुनिक भाषाओं के पोषक तत्त्व

भारतीय आधुनिक भाषाएं आज भाषा व साहित्य की दृष्टि से पर्याप्त समृद्ध हैं। उनके विकास की लम्बी परम्परा है। किन्तु यह कह पाना कठिन है कि किस प्राकृत व अपभ्रंश विशेष से कौन सी आधुनिक भाषा का जन्म हुआ है। केवल भाषागत समानता के आधार पर कुछ अनुमान ही किया जा सकता है कि इस अपभ्रंश से यह क्षेत्रीय भाषा उत्पन्न हुई होगी। अतः प्राकृत और अपभ्रंश को आधुनिक भाषाओं की जननी मानने के स्थान पर उनको पोषक मानना अधिक ठीक है। इस प्रकार के पोषक तत्त्व इन भाषाओं में खोजे भी जा सकते हैं। वस्तुतः भारतीय आधुनिक भाषाओं का जन्म उन विभिन्न लोकभाषाओं से हुआ है, जो प्राकृत व अपभ्रंश से प्रभावित थीं। उनका उस समय कोई नामकरण नहीं था। अतः वे विभिन्न क्षेत्रों की अपभ्रंश के नाम से जानी गयी हैं।

प्राकृत अपभ्रंश ने आधुनिक भारतीय भाषाओं को कई तरह से प्रभावित किया है। भाषा अभिव्यक्ति का माध्यम है। अतः उसे इतना सरल होना चाहिए कि कहने एवं सुनने वाले के बीच विचारों का सम्प्रेषण बना रहे। एक दूसरे के अन्तरंग को वे समझ सकें। प्राकृत अपभ्रंश ने इसी सरलीकरण को स्वयं अपनाया तथा दाय के रूप में क्षेत्रीय भाषाओं को यह विरासत सौंपी है। भाषा का सरलीकरण उन शब्दों को ग्रहण करने से आता है जो जन सामान्य के बीच अभिव्यक्ति के माध्यम होते हैं। प्राकृत व अपभ्रंश ने ऐसे ही देशी शब्दों को प्राथमिकता दी थी। हेमचन्द्र की देशी-नाममाला इस प्रकार के शब्दों का भण्डार है। आधुनिक आर्य भाषाओं में भी ऐसे अनेक शब्द आज प्रयुक्त होते हैं, जो प्राकृत अपभ्रंश की यात्रा करते हुए यहां तक पहुँचे हैं।

किन्तु लोक शब्दों से ही किसी भाषा का काम नहीं चलता। उसे शिष्टभाषा के शब्द एवं प्रवृतियों को भी अपनाना पड़ता है। यही कारण है कि प्राकृत व अपभ्रंश में तत्सम और तद्भव शब्दों का भी समावेश है। भारतीय भाषाओं के इतिहास से यह

भलीभाँति ज्ञात होता है कि कभी लोकभाषाओं ने देशी शब्दों को साहित्य के सिंहासन पर बैठाया तो कभी परिष्कृत शब्दों को भी लोक मानस के अनुकूल उन्होंने गढ़ा है। ध्वनि विकास के द्वारा ऐसे शब्द किसी भी भाषा में प्रयुक्त होते रहते हैं।

पश्चिमी भाषाएँ

आधुनिक आर्य भाषाओं और बोलियों के वर्गीकरण तथा उनके प्राचीन रूप के अध्ययन अनुसन्धान में डॉ० ग्रियर्सन और डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी के मत उल्लेखनीय माने जाते हैं। अन्य विद्वानों ने भी इस विषय पर कार्य किया है। पश्चिमी भारत की आधुनिक भाषाओं में सिन्धी, पंजाबी, राजस्थानी और गुजराती प्रमुख हैं। सिन्ध के ब्राचड़ प्रदेश में बोली जाने वाली अपभ्रंश से सिन्धी भाषा का विकास माना जाता है। कैकय प्रदेश की अपभ्रंश से पश्चिमी पंजाबी (लंहदी, मुल्तानी) का तथा टक्क अपभ्रंश से पूर्वी पंजाबी भाषा का विकास स्वीकार किया गया है। किन्तु अभी तक सिन्धी एवं पंजाबी भाषाओं का प्राकृत अपभ्रंश के साथ विशेष अध्ययन प्रस्तुत नहीं किया गया है। प्राकृत ग्रन्थों में इन देशों के व्यापारियों का पर्याप्त उल्लेख मिलता है। उद्द्योतनसूरि ने तो कुवलयमालाकहा में सैन्धव और टक्क देश के व्यापारियों की भाषा के शब्दों की बानगी भी प्रस्तुत की है।

राजस्थानी

जिसे आज राजस्थानी कहा जाता है वह भाषा नागर अपभ्रंश से उत्पन्न मानी जाती है, जो मध्यकाल में पश्चिमोत्तर भारत की कथ्यभाषा थी। राजस्थानी भाषा के क्षेत्र और विविधता को ध्यान में रखकर इसकी जनक भाषा को सौराष्ट्र अपभ्रंश तथा गुर्जरी अपभ्रंश भी कहा जाता है। क्योंकि राजस्थानी का सम्बन्ध बहुत समय तक गुजराती भाषा से बना रहा है। राजस्थानी भाषा के अन्तर्गत जो बोलियाँ हैं—हाड़ौती, ढूंढारी, मेवाड़ी और मारवाड़ी आदि उन सब पर प्राकृत एवं अपभ्रंश का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। ध्वनिपरिवर्तन और व्याकरण दोनों की दृष्टि से राजस्थानी मध्ययुगीन भाषाओं से प्रभावित है।

राजस्थानी के संज्ञा रूपों की रचना पर प्राकृत का सीधा प्रभाव है। प्राकृत में प्रथमा विभक्ति के एक वचन के अकार को ओकार होता है। राजस्थानी में भी यही प्रवृत्ति उपलब्ध है। यथा—घोड़ो, छोरो आदि। प्राकृत अपभ्रंश की भाँति राजस्थान में भी विभक्तियों की संख्या कम हो गयी है।

प्राकृत के सर्वनामों की संख्या अपभ्रंश में कम हो गयी थी। अपभ्रंश से बहुत से सर्वनाम राजस्थान में यथावत् अपना लिये गये हैं। प्राकृत और अपभ्रंश का हूं, हउं (मैं) राजस्थानी में खूब प्रचलित है। यथा—

हउँ कोसीसा कंत

हूँ पापी हेकलौ आदि।

इसी तरह अपभ्रंश के कांइ (क्या) का प्रयोग राजस्थानी में अधिक होता है। काइं छै (ढूंढारी) कंइ है (मेवाड़ी), कंइ हुओ (मारवाड़ी) आदि प्रयोग द्रष्टव्य हैं।

राजस्थानी भाषा की अनेक धातुएँ प्राकृत एवं अपभ्रंश से ग्रहीत हैं। उनमें बहुत थोड़ा परिवर्तन हुआ है। तुलनात्मक दृष्टि से कुछ क्रियाएँ द्रष्टव्य हैं यथा-

प्राकृत	राजस्थानी	अर्थ
घडइ	घड़ै	बनाता है
जांचइ	जांचै	मांगता है
खण्डइ	खांडै	तोड़ता है
धारइ	धारै	धारता है
बीहइ	बीहै	डरता है
पूरइ	पूरै	पूरा करता है
किदो	कीधौ	किया
होसइ	होसी	होगा
छोल्लिज्जइ	छोलै	छीलता है

इसी प्रकार राजस्थानी भाषा में ऐसे अनेक शब्द प्रयुक्त होते हैं, जो थोड़े से ध्वनि परिवर्तन के साथ प्राकृत व अपभ्रंश से ग्रहण कर लिये गये हैं।

गुजराती

गुजराती और राजस्थानी में घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। इन पर मध्य देश की शौरसेनी प्राकृत व अपभ्रंश का अधिक प्रभाव है। श्री एल० पी० टेसीटरी ने गुजराती और राजस्थानी के स्वरूप आदि पर विशेष प्रकाश डाला है तथा उन पर प्राकृत के तत्त्वों को स्पष्ट किया है। प्राकृत और गुजराती के कुछ समान शब्द इस प्रकार हैं।

प्राकृत	गुजराती	अर्थ
अंगोहलि	अंघोल	शरीर का स्नान
उत्थलल-पत्थलला	उथल-पाथल	उलट-फेर
ओइल्ल	ओलबु	ओढ़नी
उण्डा	उण्डा	गहरा
कट्टु	काठु	बदनाम, बुरा
गहिल्ल	गहिल	मन्दबुद्धि (घेलु)
कुक्कडी	कूकड़ी	मुर्गी

छोयर	छोकरा	लड़का
डोय	डोयो	लकड़ी की चम्मच
मडय	मड़ु	मृत
डब्ब	डाबु	बांया
लीट	लीटी	रेखा
रन्न	रान	जंगल

गुजराती के बहुत से सर्वनाम भी अपभ्रंश से सीधे आये हैं। हेमचन्द्र के अनुसार अपभ्रंश में कथं, तथा केथा को एम और इम आदेश होते हैं। जैसे—

केम समप्पउ दुट्ठ दिण

गुजराती के केम छे, एम छे आदि प्रयोगों में यही प्रवृत्ति देखी जा सकती है।

पूर्वी भाषाएँ

पूर्वी भारत में इस समय कई भाषाएँ प्रचलित हैं। उनमें भोजपुरी, मगही, मैथिली, उड़िया, बंगाली और असमिया प्रमुख हैं। इनमें कई विधाओं में साहित्य भी लिखा गया है तथा ये बोल-चाल की भी भाषाएँ हैं। इन भाषाओं का विकास जिस क्षेत्र में हुआ है, वहाँ प्राचीन समय से प्राकृत व अपभ्रंश बोली जाती रही हैं, जिसे मागधी व अर्धमागधी कहा जाता था। अतः स्वाभाविक रूप से ये भाषाएँ मागधी प्राकृत व अपभ्रंश से प्रभावित होकर विकसित हुई हैं। इनका प्राकृत व अपभ्रंश से क्या और कितना सम्बन्ध है, इस विषय पर विद्वानों ने विशेष अध्ययन प्रस्तुत किये हैं। तुलनात्मक दृष्टि से कुछ साम्य-वैषम्य यहाँ द्रष्टव्य है—

भोजपुरी

बिहार में बोली जाने वाली भाषाओं में भोजपुरी प्रमुख है। यद्यपि इसके बोलने वाले विभिन्न प्रान्तों में भी निवास करते हैं। भोजपुरी भाषा के व्याकरण एवं भाषा वैज्ञानिक तत्त्वों के अध्ययन के आधार पर इस भाषा का सम्बन्ध अर्धमागधी प्राकृत के साथ अधिक दृढ़ होता है। इस भाषा में प्राकृत तत्त्वों की प्रचुरता है। संक्रान्तिकाल के जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं उनमें भी भोजपुरी के उदाहरण प्राप्त होते हैं। ध्वनितत्त्व की दृष्टि से भोजपुरी में प्राकृत के समान निम्न विशेषताएं पायी जाती हैं—

(१) ह्रस्व स्वरों का दीर्घ और दीर्घों का ह्रस्व हो जाना। यथा—जीहा-जीभ चक्क-चाक, आआस-अकास।

(२) ऋ ध्वनि का विभिन्न स्वरों में परिवर्तन। यथा—किसन-किसुन, मच्चु-मिरतु, माय-मतारी।

(३) अकारण अनुनासिक प्रवृत्ति का पाया जाना। यथा—गाम-गांव, महिषी-भइंस।

(४) विभिन्न वर्णों के स्थान पर दूसरे वर्णों का प्रयोग। यथा—शकुन-सगुन, किस्सा-खिस्सा, केला-केरा।

भोजपुरी भाषा में ध्वनितत्त्व के अतिरिक्त व्याकरण की दृष्टि से भी प्राकृत की प्रवृत्तियां पायी जाती हैं। भोजपुरी के संज्ञारूपों की रचना पर प्राकृत का स्पष्ट प्रभाव है तथा विभक्ति-लोप के साथ परसर्गों का प्रयोग अपभ्रंश के प्रभाव से इसमें आया है। षष्ठी विभक्ति में भोजपुरी में जो परसर्ग जोड़े जाते हैं, वे प्राकृत के हैं। यथा—

उनकरा काम भी करत अइव।
तोहरा काम से हम अलग रहिता।

यहाँ **करा** और **हरा** क्रमशः प्राकृत की कर धातु और अम्हारा आदि शब्दों से आये प्रतीत होते हैं।

भोजपुरी के सर्वनामों का प्राकृत से सीधा सम्बन्ध है। वैकल्पिक रूपों का पाया जाना प्राकृत की ही प्रवृति है। कुछ सर्वनाम दृष्टव्य हैं—

प्रा०—मए तु तुम्ह तुम्हाण अप्पाणं।

भो०—मयं तु तुहें तोहनी अपने।

भोजपुरी भाषा की क्रियाओं में भी प्राकृत के तत्त्व उपलब्ध हैं। अधिकांश धातुओं का मूल प्राकृत धातुएं हैं। यथा—कूटे > कुट्ट, काढ़ > कड्ढ, चुक < चुक्क, डूब > डुब्ब, सीझ > सिज्झ, आदि। भोजपुरी में प्राकृत के समान ही वर्तमान, भूत, भविष्यत्, आज्ञाविधि और संभावना ये पांच काल होते हैं। भोजपुरी की क्रियाएं प्राकृत की भाँति ही सरल हैं।

प्राकृत के अनेक शब्द भोजपुरी में स्वीकार कर लिये गये हैं। कुछ शब्द प्राकृत के प्रत्ययों को जोड़कर बनाये गये हैं तथा कुछ शब्द सीधे ले लिये गये हैं। यथा—

भोजपुरी		**प्राकृत का प्रत्यय**
इनकरा	इन + करा	केर
गमइ	गम + इ	इल्ल
घरेलु	घर + एलु	आल
ईहां		हि हा
मझिला	मज्झिल्ल + आक	इल्लअ

भोजपुरी		प्राकृत का प्रत्यय
कहत	कह + अत	अन्त
डरावन	डर + आवन	आप्पण
करतव	कर + तव	तव्व
बेड़ा		बेडिला
मउगो		माउग्गाम
अंगोला		अंगालिअं

मैथिली

मिथिला के आस-पास के क्षेत्र में बोली जाने वाली भाषा मैथिली के रूप में प्रसिद्ध हुई है। वर्तमान में साहित्य की दृष्टि से भी यह समृद्ध भाषा है। इसका विकास भी मागधी अपभ्रंश से हुआ है। भोजपुरी की भांति मैथिली में भी प्राकृत का स्पष्ट प्रभाव है। यह संस्कृत से भी प्रभावित है। मैथिली के स्वर और व्यंजनों के कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं, जिनमें प्राकृत की विशेषताएं स्पष्ट हैं।

संस्कृत	प्राकृत	मैथिली
कृत्यगृह	कच्चहरिअ	कचहरी
कर्दम	कद्दम	कादों
शृणोति	सुणइ	सून्तव
द्रक्ष्यति	देक्खति	देखव
लोहकार	लोहाल	लोहार
शेवाल	सेवाल	सेमर
लघु	लहु	नहु
श्रृंखला	सिक्खल	सिक्करी
तिलक	टिलक	टिकुली
पीठिका	पिढिआ	पिरहिआ
गोपाल	गोआल	गोआर, ग्वारा

उड़िया

उड़िया प्राचीन उत्कल अथवा वर्तमान उड़ीसा की भाषा है। बंगला से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। विद्वानों का मत है कि लगभग १४वीं शताब्दी में यह बंगला से पृथक् हो गयी होगी। मागधी अपभ्रंश की पूर्वी शाखा से उड़िया व बंगला का विकास हुआ माना जाता है। उड़िया में भी प्राकृत की सामान्य प्रवृत्तियाँ उपलब्ध होती हैं। यथा—

(i) ऋकार का इ में परिवर्तन—
श्रृगाल > सिआल > सिआल
हृदय > हिअअ > हिआ

(ii) ऐ का ए में परिवर्तन—
वैद्य > वेज्ज > वेज
तैल > तेल्लं > तेल

(iii) दीर्घ स्वरों का प्रयोग—
भक्त > भत्त > भात
हैस्त > हत्थ > हाथ

(i) ख, घ, थ, घ, फ, भ, का ह में परिवर्तन—

संस्कृत	**प्राकृत**	**उड़िया**
मुख	मुह	मुह
सखी	सही	सही
लघुक	लहुक	हालु
नाथ	नाह	नाह
वधु	बहु	बहु

(ii) संयुक्त व्यञ्जनों का सरलीकरण—

ग्राम	गाअ	गा
ध्वनि	धणि	धइ
स्थान	ठाण	ठा
स्तन	थण	थन
अग्नि	अग्गि	अगि
सपत्नी	सवत्ति	सावत
युग्म	जुग्ग	जुग
वल्कल	वक्कल	वकल

उड़िया की क्रियाओं में प्राकृत से थोड़ा अन्तर है। किन्तु उनका विकास अपभ्रंश के माध्यम से हुआ है। क्रियाएँ एक वचन व बहुवचन से ही सम्बन्धित है। यथा—

अपभ्रंश	हरइ	हरन्ति
उड़िया	हरइ	हरन्ति

इस प्रकार उड़िया भाषा व्याकरण और ध्वनि तत्त्वों की दृष्टि से प्राकृत व अपभ्रंश के अधिक नजदीक है। बंगला और असमिया आदि भाषाएँ भी मध्ययुगीन

आर्य-भाषाओं से पर्याप्त प्रभावित हैं। किन्तु इस दृष्टि से अभी उनका अध्ययन किया जाना शेष है।

मध्यदेशीय भाषायें

आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाकों के विकासक्रम में मध्यदेश की लोक-भाषाओं का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। शौरसेनी और अर्धमागधी प्राकृतों का मध्यदेश में अधिक प्रसार था। अतः यहाँ विकसित होने वाली बुन्देली, कन्नौजी, ब्रजभाषा, अवधी, बघेली एवं छतीसगढ़ी बोलियों पर इनका प्रभाव अधिक है। ये बोलियाँ पश्चिमी और पूर्वी हिन्दी की उपभाषायें हैं। इनमें रचित साहित्य प्राकृत और अपभ्रंश की प्रवृतियों से अछूता नहीं है। बोल-चाल की भाषाओं में भी मध्ययुगीन आर्य-भाषाओं का प्रभाव नजर आता है। इस दशा में समग्ररूप से अध्ययन किया जाना अभी अपेक्षित है। बुन्देली भाषा के शब्द द्रष्टव्य हैं—

प्राकृत	बुन्देली	अर्थ
गोणी	गौन, गोनी	२ मन वजन की बोरी
चंगेडा	चंगेरी	डलिया
चिल्लरी	चिलरा	जूँ
चुल्लि	चूला-चूलैया	चूल्हा
चोप्पड	चुपड़ा	लगाया हुआ
छेलि	छिरियाँ	बकरी
जोय	जोहना	देखना
जोहार	जुहार	नमस्ते करना
डगलक	डिगला	ढेला
ढोर	ढोर	पशु
तित्त	तीतो	गीला
धुसिय	धुस्सा	मोटा चादर
नाहर	नाहर	सिंह
पट्टउल	पटेल	प्रधान
परइ	परों	परसों
पाडी	पड़िया	भैंस
पूल	पूरा	घास का पुलिन्दा
बड्डा	बड्डा	बड़ा
बाग्गुर	बगुर	समूह
मुलहा	मुरहा	मूल में उत्पन्न पुत्र

प्राकृत	बुन्देली	अर्थ
लाग	लाग	चुंगी
वियाल	व्यारी	विकाल भोजन (रात्रि भोजन)
विहाण	भ्यानें	प्रभात
सुहाली	सुहारी	पुड़ी

मराठी

दक्षिण भारत में महाराष्ट्र में प्राचीन समय से ही संस्कृत और प्राकृत का प्रभाव रहा है। महाराष्ट्री प्राकृत चूँकि लोकभाषा थी अतः उसने आगे आने वाली अपभ्रंश और आधुनिक मराठी को अधिक प्रभावित किया है। प्राकृत और महाराष्ट्री भाषा का तुलनात्मक अध्ययन कई विद्वानों ने प्रस्तुत किया है। यद्यपि महाराष्ट्री प्राकृत ही मराठीभाषा नहीं है। उसमें कई भाषाओं की प्रवृत्तियों का सम्मिश्रण है। फिर भी प्राकृत के तत्त्व मराठी में अधिक हैं। जो शब्द ५-६ठी शताब्दी के प्राकृत ग्रन्थों में प्रयुक्त होते थे वे भी आज की मराठी में सम्मिलित हैं। यह इस बात का प्रमाण है कि प्राकृत और मराठी का सम्बन्ध बहुत पुराना है—भाषा और क्षेत्र दोनों की दृष्टि से। मराठी के वे कुछ शब्द यहाँ प्रस्तुत हैं जो प्राकृत साहित्य में भी प्रयुक्त हुए हैं तथा जिनके दोनों में समान अर्थ हैं।

प्राकृत	मराठी	अर्थ
अणिय	अणिया	अग्रभाग
अंगोहलि	आंघोल	गले तक का स्नान
उन्दर	उन्दीर	चूहा
कच्छोट्ठ	कासोटा	कटिवस्त्र
करवती	करवत	करवा
कोल्लुग	कोल्हा	गीदड़
गार	गार	पत्थर
गुडिया	गुठी तोटण	घोड़ा
चिक्खल्ल	चिखल	कीचड़
छेलि	सेलि	बकरी
छेप्प	शेपूटी	पूँछ
जल्ल	जाल	शरीर का मैल
ढिंकुण	ढेंकूण	खटमल
तुंड	तोंड	मुह
तक्क	ताक	मठा
तूलि	तूली	सूती चादर

प्राकृत	मराठी	अर्थ
णिरूत	निरूते	निश्चय
दद्दर	दादर	सीढ़ी
दोद्धिअ	दूधी	लौकी
नेऊण	नेऊन	ले जाकर
पोट्ट	पोट	पेट
मुक्क	मुकणो	भौंकना
माउच्छिय	माउसी	मौसी
मेला	मेला	मेला
मेहुण	मेदणा	साला
रंगावलि	रांगोली	रंगोली
बाउल्ल	बाहुली	गुड़िया
सुण्ह	सून	बहू

कन्नड़, तमिल, तेलगु

केवल मराठी ही नहीं, अपितु दक्षिण भारत की अन्य भाषाएँ भी प्राकृत के प्रभाव से अछूती नहीं हैं। यद्यपि उनमें संस्कृत के शब्दों की अधिकता है तथापि उन्होंने लोक-भाषाओं से भी शब्दों का संग्रह किया है। दक्षिण की कन्नड़, तमिल, तेलगु मलयालम आदि भाषाओं में प्राकृत के तत्त्व विषय को लेकर स्वतन्त्र अनुसन्धान की आवश्यकता है। कुछ विद्वानों ने इस विषय पर कार्य भी किया है। इन भाषाओं में प्रयुक्त प्राकृत से विकसित कुछ शब्द इस प्रकार हैं—

प्राकृत	कन्नड़	अर्थ
ओलग्ग	ओलग, ओलगिसु	सेवा करना
करडा	करडे	करटा
कण्दल	कद	मारना लड़ाई
कुरर	कुरी,कुरब	भेड़, गड़रिया
कोट्ट्	कोटे	किला
चबेड	चप्पालि	ताली मारना
देसिय	देशिक	पथिक
धगधग	धाधगिसु	तेजी से चलना
पल्लि	पल्ली, हल्ली	गाँव
पुल्लि	पुलि, हुलि	बाघ
पिसुण	पिसुणिअ	कहना

प्राकृत	तमिल	अर्थ
अक्क	अक्का	माँ
कडप्प	कलप्पइ	समूह
कुरर	कोरि	भेड़
कोट्ट	कोट्टइ	किला
पिल्लम	पिल्लइ	पशु का छोटा बच्चा

प्राकृत	तेलगु	अर्थ
कडप्प	कलपे	समूह
कुरूलु	कुरूलु	घुंघराले बाल
चवेड	चप्पट	ताली बजाना
डोम्बि	डोमे	भंगिन
पुल्लि	पिलि	बाघ

राष्ट्रभाषा हिन्दी और प्राकृत

आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं में हिन्दी का प्रमुख स्थान है। देश के अधिकांश लोगों द्वारा यह बोली जाती है। राष्ट्रभाषा होने का गौरव इसे प्राप्त है। देश के विभिन्न भागों और भाषाओं की सम्पर्क भाषा होने के कारण हिन्दी में विभिन्न भाषाओं के शब्द भी सम्मिलित हो गये हैं। संस्कृत के शब्द भी इसमें ग्रहीत किये गये हैं, किन्तु हिन्दी में प्राकृत अपभ्रंश जैसी लोक-भाषाओं के शब्द भी कम नहीं हैं। यदि इन शब्दों की जानकारी हो तो हिन्दी के हरेक शब्द की व्युत्पत्ति के लिए संस्कृत पर निर्भर नहीं रहना पड़ेगा। हेमचन्द्र की देशीनाममाला तथा प्राकृत अपभ्रंश के अन्य ग्रन्थों के वे कुछ शब्द यहाँ उद्धृत हैं जो हिन्दी में सीधे ग्रहण कर लिये गये हैं तथा उनके अर्थ में भी कोई परिवर्तन नहीं आया है।

प्राकृत	हिन्दी	प्राकृत	हिन्दी
अक्खाड	अखाड़ा	चिड़िय	चिड़िया
अरहट्ठ	रहट	चारो	चारा
उक्खल	ओखली	चुल्लि	चूल्हा
उल्लुटं	उलटा	चोक्ख	चोखा
कक्कडी	ककड़ी	छइल्लो	छैला
कहारो	कहार	छल्लि	छाल
कोइला	कोयला	झमाल	झमेला
कुहाड	कुहाड़ा	झाडं	झाड़
खट्टीक	खटीक	झंझडिया	झंझट

प्राकृत	हिन्दी	प्राकृत	हिन्दी
खलहान	खलिहान	डोरो	डोर
खड्ड	खड्डा	तग्गं	तागा
खल्ल	खाल	डाली	डाली
गंठी	गांठ	थिग्गल	थेगला
गड्ड	गड्डा	नाई	नाई
गोव्बर	गोबर	बप्प	बाप
चाउला	चांवल	बइल्ल	बैल
बेट्टिय	बेटी	भल्ल	भला
बड्डा	बड़ा	सलोण	सलौना
पोट्टली	पोटली	साडी	साड़ी

हिन्दी भाषा में प्राकृत शब्द ही नहीं ग्रहण किये गये हैं, अपितु बहुत सी हिन्दी की क्रियाएँ भी प्राकृत की हैं। तुलनात्मक दृष्टि से कुछ क्रियाएँ द्रष्टव्य हैं।

प्राकृत	हिन्दी	प्राकृत	हिन्दी
उड्ड	उड़ना	झिल्लिअ	झेलना
कड्ढ	काढ़ना	देक्ख	देखना
कुद्द	कूदना	बुज्झ	बुझना
कुट्ट	कूटना	पिट्ट	पीटना
खेल्ल	खेलना	भिडइ	भिड़ना
खुद्द	खोदना	बोल्ल	बोलना
चुक्क	चूकना	डंस	डसना
चुण्ण	चुगना	संभलिय	संभलना
चमक्क	चमकना	बइट्ठ	बैठना
छड्ड	छोड़ना	पिंजिय	पींजना
छुट्ट	छूटना	भेट्टिआ	भेंटना
छोल्लिअ	छोलना	निक्काल	निकलना
जाग	जागना	लुक्कइ	लुकना
जोडिया	जोड़ना	पल्लट्ट	पलटना
झुल्लवि	झूलना	हल्लइ	हलना

शब्द और धातुओं के अतिरिक्त प्राकृत की अन्य प्रवृत्तियां भी हिन्दी में परिलक्षित होती हैं। द्विवचन का प्रयोग नहीं होता, संयुक्त व्यंजनों में सरलीकरण है।

विभक्तियों का अदर्शन तथा परसर्गों का प्रयोग प्राकृत अपभ्रंश के प्रभाव से हिन्दी में होने लग गया है। किसी भी जनभाषा के लिए इन प्रवृत्तियों से गुजरना स्वाभाविक है। वही हिन्दी भाषा जन-जन तक पहुंच सकती है, जो सुगम और सुबोध हो।

इस प्रकार प्राकृत विभिन्न कालों और क्षेत्रों की भारतीय भाषाओं को निरन्तर प्रभावित करती रही है। आधुनिक भारतीय भाषाओं की संरचना और शब्द तथा धातुरूपों पर भी प्राकृत का स्पष्ट प्रभाव है। यह उसकी सरलता और जन-भाषा होने का प्रमाण है। न केवल भारतीय भाषाओं के विकास में अपितु इन भाषाओं के साहित्य की विभिन्न विधाओं को भी प्राकृत अपभ्रंश भाषाओं के साहित्य ने पुष्ट किया है। यह इस बात का प्रतीक है कि राष्ट्रीय एकता के निर्माण में भाषा कितना महत्त्वपूर्ण माध्यम होती है। संस्कृति की सुरक्षा भाषा की उदारता पर ही निर्भर है। प्राकृत अपभ्रंश भाषाएं इस क्षेत्र में अग्रणी रही हैं। उन्हीं का प्रभाव आज की भारतीय भाषाओं में है। तभी उनमें अनेक भाषाओं के शब्द संग्रहीत हो पाते हैं। डॉ० कत्रे के शब्दों में कहा जाय तो मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषाओं का भाषावैज्ञानिक दृष्टि से प्राचीन और नवीन भारतीय आर्य-भाषाओं के निर्माण में स्पष्ट योगदान है और यह एक मजबूत कड़ी है, जो कि प्राचीन और नवीन को जोड़ती है।

सन्दर्भ

१. सुकमार सेन, **ए कम्पेरेटिव ग्रामर आफ मिडिल इण्डो आर्यन लेंग्वेजेज।**

२. पिशेल, **प्राकृत भाषाओं का व्याकरण।**

३. देवेन्द्र कुमार शास्त्री, **अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध प्रवृत्तियां।**

४. उदयनारायण तिवारी, **हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास।**

५. रत्ना श्रेयान, **ए क्रिटीकल स्टडी आफ महापुराण आफ पुष्पदन्त।**

६ ए० एन० उपाध्ये, **कन्नड वर्डस इन देशी लेक्जनस्।**

७. नामवर सिंह, **हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग।**

८. जगदीशचन्द्र जैन, प्राकृत एण्ड हिन्दी।

९. नेमिचन्द्र शास्त्री, **भोजपुरी भाषा में प्राकृत तत्त्व।**

१०. वशिष्ठ नारायण झा, **प्राकृत एण्ड मैथिली।**

११. के० बी० त्रिपाठी, **प्राकृत एण्ड उड़िया।**

१२. प्रेमसुमन जैन, **राजस्थानी भाषा में प्राकृत तत्त्व।**

१३. आर० एन० दाण्डेकर, प्रोसीडिंग्स् आफ द सेमिनार इन प्राकृत स्टडीज, १९६९, पूना ।
१४. गिर्यसन, लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इण्डिया, खण्ड १, भाग १ ।
१५. के० एम० मुन्शी, गुजराती एण्ड इटस् लिटरेचर ।
१६. तगारे, हिस्टारिकल ग्रामर आफ अपभ्रंश ।
१७. वीरेन्द्र श्रीवास्तव, अपभ्रंश भाषा का अध्ययन ।
१८. एस० एम० कत्रे, प्राकृत लेंग्वेजेज एण्ड देयर कन्ट्रीब्यूसनस् टू इण्डियन कल्चर ।
१९. एच० सी० भयाणी, अपभ्रंश एण्ड ओल्ड गुजराती स्टडीज ।
२०. सुनीति कुमार चटर्जी, ओरिजन एण्ड डेवलपमेंट आफ बंगाली लेग्वेज ।
२१. टर्नर, नेपाली-शब्दकोश ।

जैनविद्या एवं प्राकृत विभाग,
सुखाड़िया विश्वविद्यालय,
उदयपुर, (राजस्थान)

आधुनिक भारतीय भाषाओं का विकास और प्राकृत तथा अपभ्रंश

डॉ० देवेन्द्र कुमार जैन

प्राकृत, संस्कृत के समानान्तर एक व्यापक भाषा थी, जो एक ओर भारतीय आर्यभाषा की मध्यकालीन अवस्था का प्रतिनिधित्व करती है और दूसरी ओर उसके लोक तत्त्वों को सुरक्षित रखती है। संस्कृत और प्राकृत में कौन प्राचीन है, यह एक विवादभरा प्रश्न है। जिसका उत्तर ढूढ़ने के लिए पूर्व भारतीय आर्यभाषा के विकास की विभिन्न भूमिकाओं का अध्ययन करना होगा। हमारी कठिनाई यह है कि इन भूमिकाओं के लिखित आलेख उपलब्ध नहीं हैं।

प्राकृत की प्राचीनता इस तथ्य से सिद्ध है कि उसमें और ऋग्वेद की भाषा में कुछ ऐसे समान भाषिक तत्त्व मिलते हैं जो संस्कृत में नहीं हैं। प्राकृतों की चर्चा के संदर्भ में आचार्य हेमचन्द्र ने 'अनादि प्राकृत' का उल्लेख किया है, इससे उनका अभिप्राय उस 'प्राकृत' भाषा से है जो ऋग्वेद की भाषा और संस्कृत की पूर्ववर्ती भाषा थी, जिसे हम आदि भारतीय आर्यभाषा कह सकते हैं? लेकिन आज जो प्राकृत-साहित्य उपलब्ध है वह संस्कृत के उत्तरकाल का है? संस्कृत और प्राकृत, उसी पूर्ववर्ती आर्यभाषा रूपी सिक्के के दो पहलू हैं। जब उसे निश्चित नियमों में ढाला जाता है तो वह संस्कृत है और जब वह सहज वचन व्यापार के रूप में प्रयोग में लाई जाती है तो प्राकृत है। अपभ्रंश, इस सहज वचन व्यापार का परवर्ती बढ़ाव है, जो मध्यकालीन और आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के विकास की महत्त्वपूर्ण कड़ी है।

संस्कृत आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के उद्‌गम और विकास के लिए 'भाषोत्री' का कार्य करती है इसमें सन्देह नहीं, परन्तु यह नहीं भुलाया जाना चाहिए कि वह लोक प्रयोग के मैदानी इलाकों में प्रवेश कर परिवर्तन की जिस प्रक्रिया से गुजरती है, उसके तत्त्व प्राकृत और अपभ्रंश में सुरक्षित हैं? उनके अध्ययन के बिना भारतीय आर्यभाषा के बिकास को नहीं समझा जा सकता। प्राकृतों की रचना प्रक्रिया का अध्ययन करते समय यह देखना ज्यादा वैज्ञानिक है कि उनमें क्या समानताएँ हैं, तथा जो भिन्नताएँ हैं उनके मूलभूत समान स्रोत क्या हैं? इस प्रकार

समानताओं और असमानताओं के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा भाषा विकास की सही प्रक्रिया का पता लगाया जा सकता है। किसी भी वर्तमान भारतीय आर्यभाषा रूपी गंगा का वैज्ञानिक अध्ययन तभी सम्भव है जब उसकी उल्टी चढ़ाई की जाए ? इससे न केवल विकास की सही प्रक्रिया स्पष्ट होगी, बल्कि भाषिक प्रयोगों की एकरूपता को हम प्रमाणिक आधार दे सकेंगे। अनेक भाषा-वैज्ञानिक अध्ययनों के होते हुए भी यदि भारत के भाषिक विकास की खोई हुई कड़ियों को अभी तक नहीं जोड़ा जा सका तो इसका एक मात्र कारण यह है कि जहाँ संस्कृत और प्राकृत के विद्वान् आधुनिक भाषाओं की रचना प्रक्रिया से परिचित नहीं है, वहीं आधुनिक भाषाओं के विकास का अध्ययन करने वाले संस्कृत प्राकृत की भाषिक प्रवृत्तियों से परिचित नहीं हैं। आगे कुछ शब्दों की व्युत्पत्तियाँ दी जा रही हैं जो हिन्दी और उसकी बोलियों में ही प्रयुक्त नहीं हैं, बल्कि दूसरी-दूसरी प्रादेशिक भाषाओं में ज्यों के त्यों या थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ प्रयुक्त हैं। कुछ शब्द मध्यकालीन काव्य भाषाओं, ब्रज, अवधी में प्रयुक्त थे, परन्तु हिन्दी में उनका प्रयोग अब नहीं होता।

१ जुहार—कुछ व्युत्पत्ति शास्त्री इसे देशज मानते हैं, कुछ ने संस्कृत जुहराण से इसका विकास माना है। जुहार का मूल संस्कृत 'जयकार' है। स्वयंभू के 'पउमचरिउ' में इसका पूर्ववर्ती रूप सुरक्षित है—'सिरे करयल करेवि जोक्कारिउ' सिर पर करतल कर जयकार किया। जयकार>ज अ कार>ज उ कार>जोक्कार>जोकार>जो आ र>जोहार>जुहार। पंजाबी में 'जुकार' प्रयुक्त है।

२. जौहर—हिन्दी शब्द सागर ने इसकी व्युत्पत्ति जीवहर से मानी है। जौहर मध्ययुग में राजपूत रमणियों के सामूहिक आत्मदाह की प्रथा थी। सती प्रथा और जौहर में अंतर है। जौहर की व्युत्पत्ति है—जतुगृह (लाक्षागृह) ज उहर>जोहर>जौहर 'जतुगृह' ज्वलनशील रासायनिक घर को कहते हैं जिनका वर्णन महाभारत में है। स्वयंभू के 'रिट्ठणेमिचरिउ' में इसका वर्णन इस प्रकार है—

'सण-सज्ज रस वासा-धिय संगहु
लक्खाकय वणकट्ठ-परिग्गहु
बरिस वारि हुयवहु-भायणु" १०।१८

जौहर करना—मुहावरा है, जिसका लाक्षणिक अर्थ है—जतुगृह में प्रवेश कर सामूहिक आत्मदाह कर लेना।

३. दूल्हा—दुर्लभ>दुल्लह>दूल्हा। मध्ययुग में, और अब भी 'वर' दुर्लभ माना गया है। भारत की पितृसत्ताक समाज रचना में ऐसा होना स्वाभाविक है। एक अपभ्रंश दोहे का अवतरण है—

'ढोल्ला सांवल धण चंपअ वण्णी
णाइ सुवण्णरेह कसवइट्ट दिण्णी'

प्रिय श्याम है, और (उसकी गोद में बैठी हुई) धन्या (प्रिया) चंपे के रंग की है, मानो कसौटी पर दी गई स्वर्णरेखा हो।

३. दामाद—इसके मूल में जामाता है, उससे दो रूप बनते हैं—

(१) जामाता > जाआंई > जवांई [जमाई]

दूसरी विकास प्रक्रिया है—जमाता > जामादा > दामादा > दामाद। 'ज' का 'द' से विनिमय पाणिनि के समय में ही होने लगा था। जाया और पति के द्वन्द्व समास में जंपति और दंपति दोनों रूप बनते हैं। यह प्रवृत्ति मध्ययुग के कवियों की रचनाओं में सुरक्षित है जैसे कागज का कागद प्रयोग। दामाद फारसी का शब्द नहीं है। कुछ विद्वान् 'दामन्' से दामाद का विकास मानते हैं, जो शाब्दिक खींच-तान है।

५. बरात - वरयात्रा > वरआत्त > बरात्त > बरात। बरात का 'महत्त्व' भारतीय समाज में है। उसे फारसी शब्द मानना ठीक नहीं। बरात का मूल भारतीय आर्य भाषा का शब्द वरयात्रा है। फारसी वारात से इसका सम्बन्ध नहीं।

६. सहिदानी—यह शब्द अब हिंदी में प्रयुक्त नहीं है। तुलसीदास के मानस में इसका प्रयोग है।

'यह मुद्रिका मातु मैं आनी
दीन्हि राम तुम्ह कह सहिदानी' ५।५।१३

टीकाओं और शब्दकोशों में 'सहिदानी' का अर्थ निशानी या पहचान मिलता है, जब कि यह मुद्रिका का विशेषण है। व्युत्पत्ति है—साभिजानिका > साहिजानिका साहिजानिआ > सहिजानी > सहिदानी। ऊपर कहा जा चुका है कि 'ज' का विनिमय 'द' से होता है। सहिजानी और सहिदानी दोनों रूप संभव हैं, अर्थ होगा—पहिचान वाली, न कि पहिचान। प्राकृत अपभ्रंश स्तर पर अभिज्ञान के दो रूप संभव हैं अहिजाण और अहिण्णाण।

७. जनेत—मूल शब्द है यज्ञयात्रा। भारतीय-संस्कृति में विवाह एक यज्ञ है, अतः यज्ञयात्रा > जण्ण आत्ता > जण्णत्त > जन्नेत्त जनेत। जण्ण आत्ता से पूर्व असावर्ण्य-भाव के नियम से जण्णे आत्त > जण्णेत्त > जनेत रूप भी संभव है। मानस में उल्लेख है 'पहुँची आई जनेत'। स्वयंभू ने इसी अर्थ में 'जण्णत्त' का प्रयोग किया है। 'पा स म' में यज्ञयात्रा का जण्णत्त रूप मिलता है। कुछ विद्वानों ने संस्कृत जन से जनेत का विकास माना है, जो गलत है।

८. **नैहर**—मूल शब्द ज्ञातिगृह से णाइ हर > नौहर > नैहर के रूप में विकसित हुआ। इसी तरह मातृगृह से मैहर का विकास हुआ। मातृ गृह > माइ हर > मैहर।

९. **पानबीड़ा**—संभवतः इसे देशी मान लिया गया है। पर यह पर्ण + वीटक से विकसित शब्द है पर्णवीटक > पण्ण वीउअ > पान बीड़ा। पुष्पदंत ने 'पण्ण वीउअ' का प्रयोग किया है। एक पिता अपनी रूठी हुई कन्या को समझाता हुआ कहता है:— 'पुत्ति पण्णवीडि दंतग्गहिं खंडहि' हे पुत्री तुम पान के बीड़े को दांतों से काटो।

१०. **ननसार**—मूल शब्द है ज्ञातिशाला। उससे ननिहाल और ननसार शब्द बनते हैं। 'नन' दोनों में समान रूप से है जो ज्ञाति से न्नाइ > नानि > ननि > नन के रूप में विकसित हुआ। शाला के दो रूप संभव हैं सार और हाल। इस प्रकार ननसार ननिहाल रूप बनते हैं।

११. **नवेला-अलबेला**—मूल शब्द नवतर से नवअर > नवइर > नवर > नवेल > नवेला विकसित है। नवेला के पूर्व में 'अ' के आगम के कारण अनबेला बनता है। फिर न का ल से विनिमय के कारण अलबेला रूप बनता है। यह उसी प्रक्रिया से बनता है जिससे नोखा (नवक) से अनोखा बनता है।

१२ **लाहोर**—मूल शब्द है शलातुर। पाणिनि इसी गाँव के शलातुरीय थे, शलातुर > हलाउर > लाहउर > लाहोर। हलाउर से लाइउर वर्णव्यत्यय के कारण बना।

१३. **खरोष्ठी**—इसकी व्युत्पत्ति के विषय में भयंकर अटकलबाजी से काम लिया गया है। खर (गधे) के ओठों से इसका कोई संबंध नहीं। खरोष्ठी लिपि की शैली 'देवनागरी' की शैली से उल्टी है। जिसमें लिखने की शैली पीछे से हो, अर्थात् जिसमें बाएँ से दाएँ लिखा जाए व्युत्पत्ति होगी—अक्षर पृष्ठिका > अक्खर + उष्ठिआ अखरोष्ठिआ > खरोष्ठी। नियमानुसार होना चाहिए खरोट्ठी।

१४. **ढोर** इसकी व्युत्पत्ति शब्दकोश में नहीं है, अतः इसे देशी मान लिया गया। वास्तव में इसका मूल शब्द है 'धवल' जिसके दो अर्थ हैं —धौरा बैल और सफेद रंग। धवल > धअल > धउल > धोल = धोर > ढोर। यह बहुत व्यापक शब्द है जिसके अर्थ का विस्तार हो गया।

१५. **रैनबसेरा**—रजनी वसतिगृह = रात में ठहरने का ठिकाना। व्युत्पत्ति है—रअणी वसइहर > रेण वसइ अर > रैन बसेरा।

१६. **सवार**—भारतीय आर्यभाषा मूलक शब्द है। इसे फारसी से विकसित मानना ठीक नहीं है। अश्वारोहक से—असवा रोहउ > असवार अ उ > असवार उ >

सवार। पुष्पदंत महापुराण में लिखते हैं—"छुडु असवार वाहिय तुरंग" शीघ्र अश्वारोहियों ने घोड़े चलाए। आगे चलकर इसके अर्थ का विस्तार हो गया। सवारी करने वाले को सवार कहा जाने लगा।

१७ लुकाठी—

"कबिरा खड़ा बजार में लिए लुकाठी हाथ"

लुकाठी का अर्थ शब्द कोशों में जलती हुई लकड़ी है। मूल शब्द ज्वलितकाष्ठिका है। संस्कृत ज्वल से दो विकास संभव हैं, जल और वल। ज्वलित काष्ठिका > वलिअ-कट्ठिआ > उलकट्ठिआ > लुकट्ठिआ > लुकट्ठि > लुकाठी। कबीर की तरह घर-फूंक तमाशा दिखाने में ज्वलितकाष्ठिका भी पीछे नहीं है।

१८ **भौंहरा**— भूमिगृह का विकास है। भूमिगृह > भुइंहर > भँउहर > भौंहर > भौंहरा।

१९. **भुनसार**—'भानुशाला' से विकसित भुनसार कई भाषाओं और बोलियों में प्रचलित है। भानु के दो अर्थ हैं सूर्य और प्रभा। भानुशाला यानी प्रभा का घर यानी भोर या तड़के। भानुशाला > भानु साल > भानुसार > भिनसार दूसरा रूप भुनसार। भिनसार पूर्वी हिंदी में अधिक प्रचलित है : जैसे 'बिलपत नृपहिं भयेउ भिनुसारा' (मानस २।३७) 'कहत रामगुन भा भिनुसारा' (वही) 'भा भिनसार किरन रवि फूटी (पदमावत)

'भुनसारे सोन चिरैया काय बोली' सबेरे-सबेरे सोन चिड़या क्यों बोली ? बुन्देलखंडी लोकगीत।

२०. **पगड़ी**— संस्कृत प्रावृ धातु से प्रावर बनता है, जिसका अर्थ है आच्छादन। प्राकृत में इसके लिए पंगुर शब्द है जिसका विकास, प्रा + वृ से कल्पित है। पंगुर > पग्गुर > पग्गर > पग्गड़ स्त्रीलिंग में पगड़ी। पगड़ी के कई अर्थ हैं, नजराना या भेंट, पगड़ी बांधना, पगड़ी लेना, पगड़ी देना इत्यादि। पग्गुर से पग्ग > पाग रूप भी संभव हैं। सूरसागर में इसका प्रयोग है। "दधि ओदन भर दोनों देहों अरु आंचल की पाग।" एक और शब्द है 'पगहा' "आगे नाथ न पीछे पगहा"। पगहा यानी लगाम। इसका विकास संस्कृत प्रगह > पग्गह > पगहा के रूप में हुआ। योग है 'जहिं पग्गहि धवलु परिग्गा' जहाँ बैल को रस्सी से पकड़ा गया है।

२१. **अनाड़ी** - अनाड़ी के मूल में अज्ञानी शब्द है, न कि अन्यायकारी, या अनार्य, जैसा कि क्रमशः डा० उदयनारायण तिवारी और डा० देवेन्द्रनाथ शर्मा समझते हैं। अनार्य से खींचतान कर अनाड़ी सिद्ध किया जा सकता है। परन्तु उसका अर्थ होगा निंद्य, आर्येतर पापी या दुष्ट, जबकि अनाड़ी का अर्थ है विवेकहीन

जो अज्ञानी से अण्णाणी > अन्नाड़ी > अनाड़ी विकसित है, हिन्दी में इसी अर्थ में 'अनाड़ी' शब्द प्रयुक्त है। अनाड़ी के हाथ में पड़ी मोती की माला सी कर्पूरमंजरी कीदशा है; (भारतेंदु)। 'ठानत अनीति आनि, नीति लै अनारी (अनाड़ी) की' (रत्नाकर)।

२२. अखाड़ा—अक्षवाट > अक्ख आड > अक्खाड > अखाड़ा। राजभवन का वह स्थान जहाँ पर सार्वजनिक उत्सवों का आयोजन होता था।

डा० देवेन्द्रनाथ शर्मा ने संस्कृत आखात से (आखात > अखाद > अखाड़ा) जो अखाड़े की व्युत्पत्ति मानी है, वह गलत है। त और द को मूर्धन्यभाव होता है, परंतु इसमें 'र' का होना जरूरी है जैसे गर्त मे गड्ढा बनता है। अखाड़े का अभिप्राय रंगभूमि से है। जैसे—

"लंका सिखर उपर अगारा
तहं दसकन्धर देख अखारा"।
"नट नाटक पतुरिनी औ बाजा
आनि अखार सबै तहं साजा"।-पद्मावत

२३. अहूठा—अहूठा का संक्षिप्त रूप हूठा भी है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल इसकी व्युत्पत्ति अध्युष्ट से मानते हैं, परन्तु यह शब्द संस्कृत में इस अर्थ में नहीं है। अहूठा का अर्थ है साढ़े तीन हाथ।

हत्थ अहुट्ठह देवली बालहं नाहि पवेसु।

साढ़े तीन हाथ की देवली है, जिसमें मूर्खों का प्रवेश नहीं है।

"अठहु हाथ तन सरवर हियो कँवल तेहिं मांह"।-पद्मावत

मूल शब्द अर्द्ध + त्रि [आधा और तीन] से [अर्द्धत्रि > अड्ण ट्टि > अढट्टि > अहुट्ठ > अहुठा] विकास हुआ।

२४. असरार—कबीर कोश में असरार को सर सर से, और असरारा को फारसी शरीर (शैतान) से विकसित माना गया है। वस्तुतः असरार के मूल में अजस्रतर शब्द है। अजस्रतर>अअ सर अर > असरार > असराल असरार। स्वयंभू और पुष्पदंत ने इसका प्रयोग किया है। कबीर कहते हैं—

"मन्मथ करम कसै अस रारा
कलपत विंदु कसै तिहि द्वारा"

२५. आरसी—कहावत है हाथ कंगन को आरसी क्या ? आर्दशिका > आअर-सिआ > आरसिआ, > आरसी।

२७. अधेड़—अर्द्धवृद्ध > अद्ध इड्ढ > अद्धेड्ढ > अधेड्ढ > अधेड़। यानी अध-बूढ़ा।

२७. **खड़ी खड़ा**—खड़ा खड्डा आदि शब्द पंजाबी, हरियानी और खड़ी बोली में प्रयुक्त है, जबकि हिंदी बोली समूह और राजस्थानी में क्रमशः ठाढ़ और ऊभा शब्द प्रचलित हैं। ठाढ़ के मूल में स्थान शब्द है। प्राकृत वैयाकरण स्थान से ठाण का विकास मानते हैं। प्राकृत के एक नियम के अनुसार 'ठ' 'ख' में बदलता है। खाण से खड़ा बना। 'खड़ी बोली' का अर्थ है, स्थापित या व्यवहार में आनेवाली बोली। दूसरी बोलियाँ प्रादेशिक आधार पर अपना विकास करती हैं, जब कि खड़ी बोली ऐतिहासिक आधार पर।

२८. **खड़ाऊँ**—काष्ठपादुका > कट्ठ आ उ आ > कठाउआ > कढाउआ > ख डा उ आ > खड़ाऊँ।

२९. **रस्सी/लेजुरी**

संस्कृत में रश्मि और रज्जु शब्द हैं—"किरणों का रज्जु समेट लिया"। [कामायनी]

रश्मि > रस्सिर > रस्सी।

रज्जु > लज्जु > लेज्ज > लेज।

स्वार्थिक प्रत्यय 'ड' के कारण रज्जुड़ी रूप होगा। रज्जुड़ी > लजुड़ी / लेजुरी। लजुड़ी से जेलुड़ी > जेउड़ी > जेवड़ी का विकास होता है।

'राम नाम की जेवड़ी जित खींचे तित जाऊँ।'–कबीर

'लेजुरी भई नाह बिनु तोहीं।'–जायसी

३०. **बड़ा**—बृहत् > बहड्ड > बअड्ड > बाड्ड > बड़ा।

ये व्युत्पत्तियां बानगी के तौर पर दी गई हैं, जो यह बताने के लिए हैं कि लोकव्यवहार भाषा की वह टकसाल है, जो शब्दों को घिसती है, ढालती है, और उनका प्रमाणीकरण करती है। क्योंकि इसके बिना लोक व्यवहार नहीं चल सकता। भारतीय आर्यभाषा मूलतः एक भाषा का प्रवाह है, जो एक से अनेक प्रवाहों में विकसित होता हैं, प्राकृत अपभ्रंश उसके मुहाने हैं, जिनके अध्ययन के बिना न तो आर्यभाषा की बहुमुखी विकास-प्रक्रिया का वैज्ञानिक अध्ययन संभव है, और न उनके योगदान का वास्तविक मूल्यांकन। इसके लिए पहली मूलभूत आवश्यकता है - प्राकृत और अपभ्रंश के शब्दों और रूपों के व्युत्पत्तिमूलक शब्दकोशों की रचना, जो संदर्भों और उदाहरणों से भरपूर हो। उसके अनंतर प्रत्येक प्रादेशिक अथवा बोली के उद्गम और विकास की प्रवृत्तियों का अध्ययन और उनकी, पूर्ववर्ती शब्दों और रूपों से पहचान, इससे आर्यभाषा की क्षेत्रीय और ऐतिहासिक प्रवृत्तियों की प्रामाणिक पहचान हो सकेगी।

●

अपभ्रंश एवं हिन्दी जैन साहित्य में शोध के नये क्षेत्र

डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल

विगत ५० वर्षों में अपभ्रंश का विशाल साहित्य प्रकाश में आया है। इस साहित्य को प्रकाश में लाने की दृष्टि से जिन विद्वानों ने सर्वप्रथम खोज कार्य किया उनमें पं० नाथूराम प्रेमी, डॉ. हीरालाल जैन, महापंडित राहुल सांकृत्यायन, मुनि जिनविजय जी, डॉ. ए० एन० उपाध्ये एवं डॉ परशुराम वैद्य के नाम उल्लेखनीय हैं। सन् १९५० में श्री महावीर जी क्षेत्र के साहित्य शोध विभाग की ओर से प्रकाशित प्रशस्ति संग्रह में सर्वप्रथम ५० अपभ्रंश ग्रन्थों की एक साथ प्रशस्तियों को देखकर हिन्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपनी 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' नामक कृति में जो विचार व्यक्त किये थे वे निम्नप्रकार हैं :--

"सन् १९५० में श्री कस्तूरचन्द कासलीवाल एम० ए०, शास्त्री के सम्पादकत्व में आमेर शास्त्र भण्डार (जयपुर) के ग्रन्थों का एक प्रशस्ति संग्रह प्रकाशित हुआ है जिसमें लगभग ५० अपभ्रंश ग्रन्थों की प्रशस्तियाँ संग्रहीत हैं। इनमें से कुछ का तो विद्वानों को पहिले से भी पता था कुछ नई हैं। इनमें स्वयम्भू, पुष्पदन्त, पद्मकीर्ति, वीर, नयनन्दि, श्रीधर, श्रीचन्द, हरिषेण, अमरकीर्ति, यशकीर्ति, धनपाल, श्रुतकीर्ति और माणिक्कराज, रइधू आदि की कृतियाँ हैं। अधिकांश रचनाएँ १३ वीं शताब्दी के बाद की बताई गई हैं। उसके बाद भी १६ वीं शताब्दी तक अपभ्रंश में रचनाएँ होती रहीं। इस प्रशस्ति संग्रह के रइधू, यशकीर्ति, धनपाल, श्रुतकीर्ति और माणिक्कराज चौदहवीं और उसके बाद की शताब्दियों के कवि हैं।

"ये ग्रन्थ अधिकतर जैन ग्रन्थ भण्डारों से ही प्राप्त हुए हैं और अधिकांश जैन कवियों के लिखे हुए हैं। स्वभावतः ही इनमें जैनधर्म की महिमा गाई है और उस धर्म के स्वीकृत सिद्धान्तों के आधार पर ही जीवन बिताने का उपदेश दिया गया है। परन्तु इस कारण से इन पुस्तकों का महत्त्व कम नहीं हो जाता। परवर्ती हिन्दी साहित्य के काव्य रूप के अध्ययन करने में ये पुस्तकें बहुत सहायक हैं।"

डॉ. द्विवेदी जी की उक्त धारणा के पश्चात् अपभ्रंश साहित्य की ओर विद्वानों का और अधिक ध्यान जाने लगा और सर्व प्रथम इतिहास के रूप में डॉ.

हरिवंश कोछड़ ने "अपभ्रंश साहित्य" शीर्षक से शोध कार्य किया और आमेर शास्त्र भण्डार के प्रशस्ति संग्रह को ही अपनी खोज का मुख्य आधार बनाया। यही नहीं डॉ. रामसिंह तोमर, डॉ. देवेन्द्र कुमार इन्दौर, डॉ. देवेन्द्र कुमार नीमच एवं परमानन्द शास्त्री देहली एवं डॉ. नेमीचन्द शास्त्री, डॉ. राजाराम जैन, डॉ. भायाणी ने अपभ्रंश साहित्य को प्रकाश में लाने का अपने जीवन का मुख्य लक्ष्य बनाया और समय-समय पर अपभ्रंश कृतियों पर लेख लिखकर विश्वविद्यालयों में शोध छात्रों का इस ओर ध्यान आकृष्ट किया। अब तक अपभ्रंश की जिन कृतियों का प्रकाशन हो चुका है उनमें महाकवि पुष्पदन्त के महापुराण, जसहर चरिउ, णायकुमार चरिउ, स्वयंभू का पउमचरिउ, वीर का जंबूसामि चरिउ, धनपाल का भविष्यदत्त कहा, अमरकीर्ति का छक्कम्मोपएस तथा महाकवि रइधू के ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। ये सभी अपभ्रंश भाषा की उच्च स्तरीय रचनायें हैं जिनके अध्ययन एवं मनन से भारतीय संस्कृति एवं विशेषतः जैन संस्कृति का परिज्ञान होता है। अपभ्रंश साहित्य एवं काव्यों की विशाल संख्या को देखते हुए ये सभी प्रकाशन आटे में नमक के बराबर हैं। वास्तव में देखा जावे तो अपभ्रंश भाषा की कृतियों का अभी तो पूरा सर्वेक्षण भी नहीं हो सका है, क्योंकि राजस्थान, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश एवं देहली के शास्त्र भण्डारों के सूचीकरण का अभी पूरा कार्य होना शेष है। फिर भी जितनी संख्या में अपभ्रंश साहित्य सामने आया है वह अपने आप में महत्त्वपूर्ण है। डॉ. देवेन्द्र कुमार शास्त्री ने अपभ्रंश के १५० कवियों की तीन सौ रचनाओं और विभिन्न भण्डारों में संग्रहीत उनकी एक सहस्र प्रतियों का विवरण संकलित किया है। साथ ही इन्होंने अपभ्रंश भाषा से सम्बन्धित और प्रकाशित सामग्री का उल्लेख "अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध प्रवृत्तियाँ" पुस्तक में किया है।

इधर विश्वविद्यालयों में अपभ्रंश साहित्य पर जो शोध कार्य हो रहा है इसकी गति बहुत ही धीमी है। इसलिए अपभ्रंश साहित्य पर शोध कार्य के लिए विशाल क्षेत्र शोधार्थियों के समक्ष पड़ा हुआ है। अभी तो अधिकांश उपलब्ध कृतियों का सामान्य अध्ययन भी नहीं हो सका है क्योंकि जो कुछ अध्ययन सामने आया है वह सब प्रायः ग्रंथ प्रशस्तियों के आधार पर लिखा हुआ है। अपभ्रंश साहित्य चरित प्रधान साहित्य है। उसमें अधिकांश रचनाएं नायक के समग्र जीवन को प्रस्तुत करती हैं इसलिये उसमें प्रबन्ध काव्य अधिक हैं खण्ड काव्य कम हैं। ८वीं शताब्दी से लेकर १५वीं शताब्दी तक अपभ्रंश में साहित्य निर्माण की जो धारा बही और उसमें

महाकवि स्वयंम्भू, पुष्पदन्त, वीर, नयनन्दि, धवल, धनपाल, गणि देवसेन, यशकीर्ति एवं रइधू जैसे महाकवि हुए जिनके काव्यों की तुलना किसी भी अन्य भाषा के काव्यों से की जा सकती है लेकिन अभी तक इन महाकवियों में से २–३ को छोड़कर शेष का पूरा मूल्यांकन भी नहीं हो पाया है।

अभी तो हम प्रशस्ति संग्रहों के आधार पर उनकी कृतियों के नाम मात्र जान सके हैं। इसलिए अपभ्रंश साहित्य में शोधार्थियों के लिए विपुल क्षेत्र पड़ा हुआ है जिनमें कवियों का विस्तृत जीवनवृत्त, इनका काव्य निर्माण की दृष्टि से मूल्यांकन, अन्य कवियों से तुलनात्मक अध्ययन, उनके काव्यों का सांस्कृतिक एवं भाषागत अध्ययन, रस, अलंकार, छन्द की दृष्टि से काव्यों का महत्त्व आदि विविध रूपों में काव्यों का अध्ययन होना शेष हैं। वास्तव में अपभ्रंश साहित्य का जितना गहन अध्ययन होगा भारतीय साहित्य में जैन साहित्य को उतना ही अधिक स्थान प्राप्त होगा।

यहाँ मैं एक बात की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ कि अभी तक राजस्थान, मध्य प्रदेश, देहली एवं उत्तर प्रदेश के कुछ ग्रन्थागारों का भी पूरा सूचीकरण का कार्य नहीं हो सका है। राजस्थान का प्रसिद्ध ग्रन्थागार नागौर का भट्टारकीय शास्त्र भण्डार, कुचामन तथा अन्य कुछ नगरों के शास्त्र भण्डारों की खोज होना आवश्यक हैं इन भंडारों में सम्भवतः अपभ्रंश की कुछ और भी कृतियां संग्रहीत हों। जिनकी प्राप्ति के पश्चात् शोध के और भी नये क्षेत्र खुल सकते हैं।

अपभ्रंश साहित्य के प्रकाशन एवं उस पर शोध कार्य की अत्यधिक आवश्यकता है। एक एक ग्रन्थ के सम्पादन को लेकर एक एक शोध प्रबन्ध लिखा जा सकता है। क्योंकि अपभ्रंश हिन्दी की पूर्ववर्ती जननी मानी जाती है इसलिये विश्वविद्यालयों के प्राकृत, संस्कृत एवं हिन्दी विभागों में अपभ्रंश भाषा साहित्य पर शोध कार्य हो सकता है। अब मैं आपके समक्ष कुछ ऐसे विषयों का नामोल्लेख करता हूँ जिन पर शोध कार्य हो सकता है।

शोध के लिए कतिपय विषय

१. महाकवि स्वयम्भू–व्यक्तित्व एवं कृतित्व
२. रिट्ठणेमिचरिउ का सांस्कृतिक अध्ययन
३. पउमचरिउ का सांस्कृतिक अध्ययन

४. अपभ्रंश का प्रथम और अन्तिम महाकाव्य
५. अपभ्रंश के प्रमुख महाकवि
६. अपभ्रंश के प्रतिनिधि कवि और उनके काव्य
७. महाकवि पदमकीर्ति—व्यक्तित्व एवं कृतित्व
८. हरिषेण की धम्मपरिक्खा का आलोचनात्मक अध्ययन
९. वीर एवं शृङ्गार रस प्रधान जंबूसामि चरिउ का सांस्कृतिक अध्ययन
१०. महाकवि यशःकीर्ति—व्यक्तित्व एवं कृतित्व
११. महाकवि धवल के हरिवंशपुराण का सांस्कृतिक अध्ययन
१२. अपभ्रंश का ऐतिहासिक काव्य : अमरसेनचरिउ—एक अध्ययन
१३. महाकवि श्रुतकीर्ति की अपभ्रंश साहित्य को देन
१४. अपभ्रंश के प्रबन्ध काव्य
१५. अपभ्रंश के खण्ड काव्य
१६. महाकवि नयनन्दि—व्यक्तित्व एव कृतित्व
१७. गणि देवसेन के सुलोचना चरित का सांस्कृतिक अध्ययन
१८. हिन्दी भाषा के विकास में अपभ्रंश की देन
१९ महाकवि धनपाल एवं उनका अपभ्रंश साहित्य
२०. महाकवि रइधू के काव्यों का सांस्कृतिक अध्ययन
२१. महाकवि जयमित्रहल—व्यक्तित्व एवं कृतित्व
२२. छक्कम्मोपएस का सांस्कृतिक अध्ययन
२३. अपभ्रंश काव्यों में प्रयुक्त छन्दों का तुलनात्मक अध्ययन
२४. १४वीं शताब्दि के प्रतिनिधि अपभ्रंश काव्य

अपभ्रंश की तरह हिन्दी में भी जैन विद्वानों ने उस समय लिखना प्रारम्भ किया जब उसमें कलम चलाना पांडित्य से परे समझा जाता था तथा वे भाषा के पंडित कहलाते थे। यह भेदभाव तो महाकवि तुलसीदास एवं बनारसीदास के बाद तक चलता रहा। हिन्दी में सर्व प्रथम रास संज्ञक रचनाओं में काव्य निर्माण प्रारम्भ हुआ। जब अपभ्रंश भाषा का देश में प्रचार था तब भी जैन कवियों ने अपनी दूर-दर्शिता के कारण हिन्दी में भी लेखनी चलाई और साहित्य की सभी विधाओं को पल्लवित करते रहे। जिनदत्तचरित (सं० १३५४) एवं प्रद्युम्नचरित (सं० १४११) जैसी कृतियाँ अपने युग की प्रथम पुस्तकें हैं। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने प्रद्युम्न

चरित को ब्रज भाषा का प्रथम महाकाव्य बतलाया है। जैन कवियों ने हिन्दी की सबसे अधिक एवं सबसे लम्बे समय तक सेवा की और उसमें अबाध गति से साहित्य निर्माण करते रहे। लेकिन हिन्दी के विद्वानों की जैन ग्रन्थागारों तक पहुँच नहीं होने के कारण वे उसका मूल्यांकन नहीं कर सके और जब हिन्दी साहित्य का क्रमबद्ध इतिहास लिखा जाने लगा तो जैन ग्रन्थागारों में संग्रहीत विशाल हिन्दी साहित्य को यह लिखकर साहित्य की परिधि से बाहर निकाल दिया कि वह केवल धार्मिक साहित्य है और उसमें साहित्यिक तत्त्व विद्यमान नहीं है। रामचन्द्र शुक्ल की इस एक पंक्ति से जैन विद्वानों द्वारा निर्मित हिन्दी साहित्य को राष्ट्रीय धारा में समाहित होने के दरवाजे बन्द हो गये और उसे आज तक भी राष्ट्रीय साहित्य में सम्मिलित नहीं किया जा सका है।

समय ने पल्टा खाया। जैन ग्रन्थागारों के ताले खुलने लगे। शनैः शनैः विद्वानों का जैन विद्वानों द्वारा रचित जैन कृतियों की ओर ध्यान जाने लगा। मिश्रबन्धु विनोद में कुछ जैन रचनाओं का परिचय दिया गया लेकिन स्वयं जैन विद्वान् भी अपने विशाल साहित्य से अपरिचित रहे। सर्व प्रथम स्व० पं० नाथूरामजी प्रेमी ने हिन्दी जैन साहित्य की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया। सन् १९४७ में कामता प्रसादजी का हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास और सन् १९५६ में डॉ. नेमीचन्द्र शास्त्री का हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन (दो भागों में) प्रकाशित हुए। इसी बीच महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने स्वयम्भू के पउमचरिउ को हिन्दी का प्रथम महाकाव्य घोषित करके जैन हिन्दी साहित्य के महत्त्व को स्वीकार किया और हिन्दी जगत को उसे स्वीकार करने का आग्रह किया। लेकिन इतना होने पर भी अनेकान्त, जैन सिद्धान्त भास्कर, वीरवाणी, सम्मेलन पत्रिका, परिषद पत्रिका आदि में विभिन्न लेखों के प्रकाशन के अतिरिक्त जैन विद्वानों द्वारा रचित काव्य कृतियां सुसम्पादित होकर हिन्दी जगत के समक्ष प्रस्तुत नहीं की जा सकीं। इस दृष्टि से साहित्य शोध विभाग ने सर्व प्रथम सन् १९६० में प्रद्युम्नचरित एवं सन् १९६६ में जिनदत्तचरित का प्रकाशन कराकर इस क्षेत्र में पहल की। प्रद्युम्न चरित के प्रकाशन में हिन्दी जगत ने उसके महत्त्व को स्वीकार किया और सूरपूर्व ब्रज भाषा का उसे प्रथम काव्य स्वीकार किया गया तथा डॉ. वासुदेवसिंह ने अपने शोध प्रबन्ध में उस पर विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया। इधर सुप्रसिद्ध साहित्य सेवी श्री अगरचन्द जी नाहटा ने जैन

हिन्दी साहित्य पर अपने पचासों लेखों में विस्तृत प्रकाश डाला और उससे भी हिन्दी जैन साहित्य के प्रति विद्वानों का ध्यान आकर्षित करने में सफलता मिली। श्री महावीर क्षेत्र की ओर से ही राजस्थान के जैन सन्त एवं महाकवि दौलतराम कासलीवाल व्यक्तित्व एवं कृतित्व इन दो पुस्तकों के प्रकाशन से हिन्दी जैन साहित्य की विशालता को देखने का विद्वानों को अवसर प्राप्त हुआ और विश्वविद्यालयों में जैन हिन्दी साहित्य एवं कवियों पर पी–एच० डी० की उपाधि के लिए विषय स्वीकृत होने लगे। अब तक महाकवि बनारसीदास, भूधरदास, बुधजन, भगवतीदास, ब्रह्म जिनदास जैसे कुछ कवियों पर शोध प्रबन्ध विश्वविद्यालयों द्वारा स्वीकृत हो चुके हैं। लेकिन हिन्दी जैन साहित्य की विशालता को देखते हुए हमारे ये प्रयास भी आटे में नमक बराबर हैं।

सन् १९७७ में जयपुर में सम्पूर्ण हिन्दी जैन साहित्य को २० भागों में प्रकाशित करने के लिए श्री महावीर ग्रन्थ अकादमी की स्थापना हिन्दी जैन साहित्य के प्रकाशन के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण कदम है जिसकी सफलता के लिए सभी विद्वानों का सहयोग अपेक्षित है। अकादमी की ओर से करीब ५०० जैन हिन्दी कवियों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डाला जावेगा तथा ५० प्रमुख कवियों का विस्तृत अध्ययन एवं उनकी कृतियों का प्रकाशन किया जावेगा। अकादमी की ओर से अब तक प्रकाशित तीन भाग—महाकवि ब्रह्म रायमल्ल एवं त्रिभुवनकीर्ति, कविवर बूचराज एवं उनके समकालीन कवि तथा महाकवि ब्रह्म जिनदास—व्यक्तित्व एवं कृतित्व—प्रकाशित हो चुके हैं जिनका सभी ओर से स्वागत हुआ है। अकादमी के चतुर्थ भाग भट्टारक रत्नकीर्ति एवं कुमुदचन्द्र में ७० अन्य जैन कवियों का भी परिचय है।

मेरे उक्त इतिहास प्रस्तुत करने का अर्थ स्वयं के कार्य पर प्रकाश डालने का नहीं हैं लेकिन विद्वानों को हिन्दी जैन साहित्य की विशालता के दर्शन कराने का है।

हिन्दी जैन साहित्य की विशालता में किसी को सन्देह नहीं हो सकता लेकिन प्रश्न उठता है उसके मूल्यांकन एवं प्रकाशन का। इसके अतिरिक्त यह साहित्य किसी एक विधा पर लिखा हुआ नहीं है, किन्तु वह साहित्य के विविध रूपों में निबद्ध है जो अनुसंधान के महत्त्वपूर्ण विषय हो सकते हैं। यह साहित्य स्तोत्र, पाठ संग्रह, कथा, रासो, रास, पूजा, मंगल, जयमाल, प्रश्नोत्तरी, मंत्र, अष्टक, सार, समुच्चय, वर्णन, सुभाषित, चौपई, निसानी, जकडी, व्याहलो, बधावा, विनती, पत्री,

आरती, बोल, चरचा, विचार, बात, गीत, लीला, चरित्र, छंद, छप्पय, भावना, विनोद, काव्य, नाटक, प्रशस्ति, धमाल, चौढालिया, चौमासिया, बारामासा, बटोई, बेलि, हिंडोलणा, चूनडी, सज्झाय, बाराखडी, भक्ति, बन्दना, पच्चीसी, बत्तीसी, पचासा, बावनी, सतसई, सामायिक, सहस्रनाम, नामावली, गुरुवावली, स्तवन, संबोधन, मोडलो आदि विभिन्न रूपों में मिलता है। इन विविध साहित्य रूपों में किसका कब आरम्भ हुआ और किस प्रकार विकास और विस्तार हुआ ये शोध के लिये रोचक विषय हो सकते हैं और इन सबकी सामग्री जैन ग्रन्थागारों में मिल सकती है।

विभिन्न विषयों के अतिरिक्त अभी तो सैकड़ों ऐसे कवि जो विद्वानों के लिए अज्ञात बने हुए हैं। ऐसे कवि १४वीं शताब्दी से लेकर १९वीं शताब्दी तक इतनी अधिक संख्या में हैं कि यहाँ पर उनके नाम मात्र उल्लेख करना भी संभव नहीं हैं। सबसे अधिक कवि १७वीं १८वीं एवं १९वीं शताब्दी में हुए। इसके अतिरिक्त जितने भी लोकप्रिय एवं प्रसिद्ध कवि हुए वे भी १७वीं एवं १८वीं शताब्दी से ही अधिक संबंधित हैं। इनमें से एक-एक जैन कवि को शोध का विषय बनाया जा सकता है। यही नहीं ब्रह्म जिनदास, यशोधर, ब्रह्म रायमल्ल, बूचराज, छीहल, ठक्कुरसी, बनारसीदास, रूपचन्द, भगौतीदास, भूधरदास, दौलतराम कासलीवाल, द्यानतराय जैसे पचासों कवि तो ऐसे हैं जिनका विविध दृष्टियों से अध्ययन किया जा सकता है। जब सूर, तुलसी, मीरा, जायसी एवं कबीर पर एक नहीं किन्तु पचासों शोध निबन्ध लिखे जा सकते हैं तो इन जैन कवियों पर भी पचासों नहीं तो एक से अधिक शोध निबन्ध तो लिखे ही जा सकते हैं। जैसे जैसे ये कवि विश्वविद्यालयों में पहुँचेंगे विद्वानों का ध्यान उनकी रचनाओं पर जावेगा। अब मैं पचास ऐसे शोध के विषयों की ओर आपका ध्यान आर्कषित करना चाहता हूँ जिन पर विश्वविद्यालयों में शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किये जा सकते हैं :—

१. हिन्दी के आदिकाल के जैन रास काव्य
२. कविवर राजसिंह—व्यक्तित्व एवं कृतित्व
३. ब्रजभाषा का प्रथम कवि सधारु एवं उनका प्रद्युम्नचरित
४. महाकवि ब्रह्म जिनदास के काव्यों का भाषागत अध्ययन
५. ब्रह्म जिनदास का रामसीता रास—एक अध्ययन
६. रास काव्य शिरोमणि ब्रह्म जिनदास

७. १६वीं शताब्दी के हिन्दी जैन कवि
८. हिन्दी के जैन रूपक काव्यों का आलोचनात्मक अध्ययन
९. कविवर बूचराज—व्यक्तित्व एवं कृतित्व
१०. हिन्दी के जैन कवियों की बावनियों का उद्भव एवं विकास
११. कविवर ठक्कुरसी—व्यक्तित्व एवं कृतित्व
१२. ब्रह्म रायमल्ल की रचनाओं का सांस्कृतिक अध्ययन
१३. भट्टारक रतनकीर्ति--व्यक्तित्व एवं कृतित्व
१४. जैन संत कुमुदचन्द्र--व्यक्तित्व एवं कृतित्व
१५. नेमि राजुल साहित्य—एक अध्ययन
१६. भट्टारक यशोधर--व्यक्तित्व एवं कृतित्व
१७. महाकवि बनारसीदास--व्यक्तित्व एवं कृतित्व
१८. समयसार नाटक का आत्म दर्शन
१९. कविवर रूपचन्द--व्यक्तित्व एवं कृतित्व
२०. हिन्दी गद्य लेखक--पाण्डे राजमल्ल
२१. १७वीं शताब्दी के हिन्दी गद्य निर्माता
२२. बनारसीदास एवं उनके समकालीन कवि
२३. भैया भगवतीदास--व्यक्तित्व एवं कृतित्व
२४. पंडित भगौतीदास--व्यक्तित्व एवं कृतित्व
२५. कविवर आनन्दघन—व्यक्तित्व एवं कृतित्व
२६. महाकवि समयसुन्दर के काव्यों का अध्ययन
२७. पार्श्वपुराण का सांस्कृतिक एवं तात्विक अध्ययन
२८. महाकवि भूधरदास के पदों का सांस्कृतिक विवेचन
२९. कविवर द्यानतराय—व्यक्तित्व एवं कृतित्व
३०. बारह खड़ी साहित्य
३१. गद्य पद्य निर्माता--महाकवि दौलतराम कासलीवाल
३२. दौलतराम कासलीवाल के काव्यों का सांस्कृतिक अध्ययन
३३. हिन्दी गद्य साहित्य के विकास में महाकवि दौलतराम का योगदान
३४. किशनसिह—व्यक्तित्व एवं कृतित्व
३५. कविवर खुशालचन्द काला व्यक्तित्व एवं कृतित्व
३६. जैन हिन्दी पुराण साहित्य--सांस्कृतिक अध्ययन

३७. कविवर नेमिचन्द--व्यक्तित्व एवं कृतित्व
३८. जोधराज गोदिका--व्यक्तित्व एवं कृतित्व
३९. जैन कवियों के पदों का सांस्कृतिक अध्ययन
४०. छप्पय छन्द के विकास में जैन कवियों का योगदान
४१. चूनडी साहित्य के विकास में जैन कवियों का योगदान
४२. पंडित जयचन्द छाबड़ा--व्यक्तित्व एवं कृतित्व
४३. पंडित सदासुख कासलीवाल--व्यक्तित्व एवं कृतित्व
४४ पारसदास निगोत्या--व्यक्तित्व एवं कृतित्व
४५. बख्तराम साह के काव्यों का अध्ययन
४६. भक्ति एवं दर्शन प्रधान जैन पूजा साहित्य
४७. पं० दौलतराम--व्यक्तित्व एवं कृतित्व
४८. महाकवि टोडरमल एवं उनके समकालीन कवि
४९. कविवर बख्तावर लाल एवं उनका हिन्दी साहित्य
५०. पाण्डे जिनदास--व्यक्तित्व एवं कृतित्व

उक्त शीर्षकों के अतिरिक्त अभो इतने ही शोध के लिए और विषय गिनाये जा सकते हैं।

●

अपभ्रंश और हिन्दी में जैन-विद्या विषयक अनुसंधान की संभावनाएँ

डॉ० योगेन्द्रनाथ शर्मा 'अरुण'

अद्यावधि संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं हिन्दी भाषाओं में प्राप्य जैनविद्या की विपुल संपदा जिज्ञासुओं द्वारा प्रकाश में लाई जा चुकी है, तथापि अभी भी अनेक क्षेत्र ऐसे हैं, जो सर्वथा अछूते हैं या जिनमें अत्यल्प मात्रा में ही अनुसंधान हो सका है। अपभ्रंश को गुलेरी जी ने 'पुरानी हिन्दी' कहा और महापण्डित राहुल जी ने अपभ्रंश के महाकवि स्वयंभूदेव को 'हिन्दी' का आदि महाकवि कहना चाहा, जिसके मूल में अपभ्रंश भाषा एवं साहित्य के प्रति 'लगाव' पैदा कराने की भावना रही होगी; यही मैं मानता हूँ। अस्तु।

जैन-साहित्य के अनुसंधित्सुओं ने इस साहित्य की गहरी परख के बाद पाया कि तत्वतः सम्पूर्ण जैन-साहित्य में लोक-भावना का सम्मान सर्वोपरि हुआ, फलतः इसे व्यापक समर्थन भी मिला। डॉ. हीरालाल जैन का कथन द्रष्टव्य है—'जैन तीर्थंकर भगवान् महावीर ने लोकोपकार की भावना से सुबोध वाणी अर्धमागधी का उपयोग किया तथा उनके गणधरों ने उसी भाषा में उनके उपदेशों का संकलन किया। उस भाषा और साहित्य की ओर जैनियों का सदैव आदर भाव रहा तथापि उनकी यह भावना लोक-भाषाओं के साथ न्याय करने में बाधक नहीं हुई।'[1]

जैन-कवियों में जैनेतर लोक मान्यताओं का सम्मान करने की जो प्रवृत्ति रही, उसने एक ओर तो जैन साहित्य को समृद्ध बनाने की संभावनाओं के द्वार खोल दिए और दूसरी ओर जैनेतर विद्वानों को आकृष्ट करने की शक्ति अर्जित की। जैन-साहित्य की यह उदारता अवसरवाद से प्रेरित न होकर जैन-धर्म के आधारभूत दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक मतों से संपुष्ट है। राम-लक्ष्मण एवं कृष्ण-बलराम के प्रति हिन्दुओं की श्रद्धा देखकर इन्हें 'त्रिषष्टि शलाकापुरुषों' में स्थान देकर पुराण-साहित्य

---

१. डा० हीरालाल जैन : भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ० ३–४।

में रखना इसी 'उदारता' का पुष्ट प्रमाण है। जैन-मत के दिगम्बर एवं श्वेताम्बर-- दोनों ही सम्प्रदायों में विपुल साहित्य रचा गया। दिगम्बर-मत के आचार्यों ने शौरसेनी में तथा श्वेताम्बर मत वालों ने महाराष्ट्री में रचना की है।[१]

अपभ्रंश में उपलब्ध जैन-साहित्य को अध्ययन की सुविधा हेतु निम्न रूप से वर्गीकृत किया जा सकता है :

(१) आगम साहित्य —(i) मूल आगम-साहित्य
(ii) आगम-टीका-साहित्य

(२) आगमेतर साहित्य—(i) जैन-धर्म के सिद्धान्तों से संबद्ध धार्मिक साहित्य
(ii) लौकिक साहित्य
(iii) व्याकरण, छन्द-शास्त्र आदि से संबद्ध साहित्य

(१) आगम साहित्य

जैन-आगम साहित्य में प्राचीन जैन-परम्पराएँ, अनुश्रुतियाँ, लोककथाएँ, रीति-रिवाज, धर्मोपदेश आदि समाहित हैं, जिनके शोधपरक गम्भीर अध्ययन से अनेक बिखरी कड़ियों को जोड़ा जा सकता है। आगम-साहित्य में छिपा जैन-वास्तुशास्त्र, संगीत, नाट्य, प्राणिविज्ञान तथा वनस्पतिविज्ञान आदि हम शोध की कसौटी पर यदि कस सकें, तो ज्ञान के नए क्षितिज खुलेंगे "छेदसूत्र" तो आगम-साहित्य का प्राचीनतम महाशास्त्र ही है, जिसमें श्रमण-संस्कृति एवं श्रमणाचार का तात्त्विक रूप निहित है।[२]

मूल आगम-साहित्य के शोध की मुख्य सम्भावित दिशाएँ मेरे मतानुसार निम्न हो सकती हैं—

(१) भाषाशास्त्रीय शोध -भाषाशास्त्रीय शोध से जैनागमों की मूलभूत प्रवृत्ति जानी जा सकती है और विभिन्न पाठान्तरों की समस्या का समाधान किया जा सकता है। भाषा की समरूपता, शब्द-प्रयोग, ध्वनि-परिवर्तन एवं अर्थ-विज्ञान की दृष्टि से आगम-साहित्य का शोधपरक मूल्यांकन हमारे युग की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि हो सकती है।

---

१. डा० रामसिंह तोमर : प्राकृत एवं अपभ्रंश साहित्य, पृ० ५।

२. डा० जगदीशचन्द्र जैन : प्राकृत-साहित्य का इतिहास, पृ० ४३।

(२) **काल-निर्णय सम्बन्धी शोध**—आगम-साहित्य की प्राचीनता पर निरन्तर प्रश्न-चिह्न लगते रहे हैं, अतः यह शोध की एक नई दिशा है। किस 'वाचना' में कितने आगम संग्रहीत हुए, इसका निर्णय आगमों के तुलनात्मक भाषा-वैज्ञानिक शोध द्वारा करना होगा और साथ ही, आगमों के प्रामाणिक, पूर्ण एवं आलोचनात्मक-संस्करण तैयार कराना भी जरूरी है।

(३) **लोकतात्त्विक शोध**—आगम-साहित्य के शोध की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दिशा 'लोकतात्त्विक अनुशीलन' ही मेरी दृष्टि से है। आगम-साहित्य 'लोक-कथाओं का अजस्र स्रोत' है और लोकतत्त्व के कारण ही यह लोकग्राही बना होगा, मेरी यह दृढ़ मान्यता है। प्रत्येक आगम ग्रन्थ का "लोक-तत्त्व" की दृष्टि से मूल्यांकन विशिष्ट शोध-दिशा होगी, यद्यपि यह व्यय एवं श्रमसाध्य कार्य होगा। "जैन-आगमों की लोक कथाएँ" तथा "आगमों में अभिव्यक्त लोक-धर्म एवं लोक-संस्कृति" आदि अनेक विषय इस दृष्टि से शोधार्थियों की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

(ii) **आगम-टीका-साहित्य**—सम्पूर्ण टीका-साहित्य को भी उपर्युक्त आधारों पर भाषाशास्त्रीय, काल-निर्णय सम्बन्धी, वस्तुवर्णन विषयक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टियों से शोध की कसौटी पर कसा जाना चाहिए। जैनागमों पर उपलब्ध विपुल व्याख्यात्मक साहित्य, जिसमें निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णी एवं टीका साहित्य है,[१] स्वतन्त्र महत्त्व का है, जिसका अर्थ-वैज्ञानिक, शैली-वैज्ञानिक एवं लोकतात्त्विक शोधपरक अनुशीलन जैन-विद्याओं एवं जैन-दर्शन के विकास में नए कीर्तिमान स्थापित करेगा, यह मेरा निश्चित अभिमत है।

आगमेतर-जैन-साहित्य—जैन-सिद्धान्तों एवं दार्शनिक तत्त्वज्ञान को निरूपित करने के लिए जैन-चिन्तकों एवं कवियों ने विपुल और विविधमुखी साहित्य रचा है, जो आज भी जैन-भण्डारों में भरा पड़ा है। वस्तुतः आगमेतर-जैन-साहित्य की विपुल संपदा को उजागर करने का महत्तर दायित्व जैनविद्याओं के अनुसंधाताओं को पूर्ण करना है। इस संपूर्ण साहित्य को मैं निम्न रूपों में रखकर शोध-संभावनाएं देखूंगा—

(१) जैन-तत्त्व-चिन्तन से संबद्ध धार्मिक साहित्य
(२) लौकिक साहित्य

---

१. डा० जगदीशचन्द्र जैन : प्राकृत-साहित्य का इतिहास पृ० १९४/१९५।

(३) लोक-कथा-साहित्य

(४) व्याकरण, छन्द-शास्त्र एवं कला विषयक साहित्य

उपर्युक्त आगमेतर-साहित्य का विविधमुखी वैभव शोधार्थियों के लिए अनन्त संभावनाओं से परिपूर्ण है, जो लगभग १५०० वर्षों की सुदीर्घ परम्परा को समेटे हुए है।

(i) **जैन-तत्त्व-चिन्तन मूलक साहित्य** इस प्रकार का साहित्य अपभ्रंश और हिन्दी में उपलब्ध है, जिसमें तत्त्वज्ञान, जैनाचार, क्रिया-काण्ड, तीर्थ एवं ऐतिहासिक प्रबन्धों का विवेचन अत्यन्त व्यवस्थित रूप में श्वेताम्बरों तथा दिगम्बरों द्वारा निबद्ध किया गया है। दर्शन एवं तत्त्व निरूपण की दृष्टि से दिगम्बर-परम्परा श्वेताम्बर परम्परा से भिन्न हो गई है।[1] इस साहित्य में (१) सामान्य-ग्रंथ, (२) दर्शन-खण्डन-मण्डन-ग्रन्थ, (३) सिद्धान्त-ग्रन्थ, (४) कर्म-सिद्धान्त-ग्रन्थ, (५) श्रावकाचार विषयक ग्रन्थ, (६) प्रकरण ग्रन्थ, (७) समाचारी ग्रन्थ एवं (८ विधि-विधान विषयक ग्रन्थ मुख्यतः आते हैं। इस जैन-तत्त्वमूलक साहित्य में धर्म, दर्शन, आचार, कर्मकाण्ड आदि के प्रकाशन से सम्बद्ध शोध की अनन्त सम्भावनाएँ निहित हैं। जैनाचार एवं श्रावकाचार आदि के तात्त्विक विश्लेषण के लिए शोध महत्त्वपूर्ण होगा।

(ii) **लौकिक साहित्य**—अपभ्रंश तथा हिन्दी में रचा गया आगमेतर जैन-लौकिक साहित्य सर्वाधिक मूल्यवान् निधि है, जिसने आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य को अनेक रूपों में प्रभावित भी किया है। ईसा की प्रथम शती से सत्रहवीं शती तक इस प्राणभूत साहित्य की अविच्छिन्न धारा प्रवाहित हुई। जैन कवियों का लौकिक साहित्य इतना है कि कई शताब्दियों तक शोधकर्ता इसका मूल्यांकन अनवरत कर सकते हैं। इस क्षेत्र में एक-एक साहित्य-विधा का विविध दिशाओं में शोधपरक अनुशीलन किया जा सकता है। मैं कतिपय प्रमुख विधाओं को ले रहा हूँ—

(१) कथा-साहित्य　　　(२) पुराण-साहित्य या चरित-साहित्य

(३) प्रबन्ध काव्य—(i) प्रेमाख्यानक काव्य, (ii) खण्ड काव्य

(४) नाटक साहित्य　　　(५) मुक्तक साहित्य

(६) रूपक-काव्य　　　(७) स्फुट रचनाएँ

उपर्युक्त लौकिक साहित्य में जीवन धड़कता है और सांस्कृतिक चेतना मुखर है।

---

१. डा० हीरालाल जैन : भारतीय संस्कृति में जैन-धर्म का योगदान, पृ० ८४

(क) **कथा-साहित्य**—संस्कृत एवं प्राकृत भाषा से चलकर कथा-काव्यों की परम्परा अपभ्रंश एवं हिन्दी तक अविरल चलती है। अपभ्रंश का कथा-साहित्य लोक जीवन तथा धार्मिक जीवन से विशिष्ट संयोजित है।[1] अपभ्रंश एवं हिन्दी के जैन-कथा-साहित्य का काव्यात्मक मूल्यांकन वर्तमान शोध की सर्वथा अछूती धारा है। जैन-साहित्य के विद्वान् डॉ. जगदीशचन्द्र जैन का अभिमत है कि जैन-कथा-साहित्य का भाषा-वैज्ञानिक शोध महत्त्वपूर्ण है, जिससे प्राकृत-अपभ्रंश शब्दों के रूपों, व्युत्पत्ति-शास्त्र की टूटी परम्पराओं तथा अर्थ-विज्ञान की गुत्थियों को सुलझाया जा सकता है।[2] कथा-साहित्य का समाजपरक अध्ययन विशेष उपादेय है, क्योंकि सामाजिक यथार्थ-बोध, धार्मिक-परिवेश, जातीय-परम्परा एवं लोक-विश्वासों की विलक्षण अभिव्यंजना जैन-कथा-साहित्य में हुई है, जिसके उद्घाटन से मध्यकालीन आर्यभाषा-समाज की लुप्त प्रवृत्तियों का भी उद्घाटन होगा। मध्यकालीन भारतीय-संस्कृति के नवीन तत्त्वों के प्रकाशन हेतु कथा-साहित्य के सांस्कृतिक शोध की दिशा सर्वाधिक मूल्यवान् सिद्ध होगी।

जैन-कथा-ग्रंथों का सम्पादन स्वयं में विशिष्ट संभावना से परिपूर्ण है। शैलीगत सौन्दर्य विवेचन के लिए शोध भी नई दिशा देगा। जैन-कथाओं में ऐहिकता के साथ-साथ धर्मोपदेश की विशिष्ट परम्परा का मूल्यांकन मनोवैज्ञानिक और शैली वैज्ञानिक शोध की अपेक्षा रखता है। जैन-कथा-साहित्य का प्रभाव हिन्दी, गुजराती, राजस्थानी की कथाओं पर भी पड़ा है, अतः तुलनात्मक अनुसंधान की संभावनाएँ भी कम नहीं हैं। इस संदर्भ में जान हर्टल का अभिमत उल्लेख्य है—जैन-कथा-साहित्य केवल संस्कृत तथा अन्य भारतीय भाषाओं के अध्ययन के लिए ही उपयोगी नहीं, बल्कि भारतीय सभ्यता के इतिहास पर इससे महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है।[3]

(ख) **पुराण-साहित्य या चरित साहित्य**—महाकवि स्वयंभूदेव, पुष्पदन्त, रइधू, हेमचन्द्र आदि द्वारा सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, दार्शनिक आदि परिस्थितियों को

---

१. डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री : अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध-प्रवृत्तियाँ, पृ० ३।

२. डा० जगदीशचन्द्र जैन : प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० ३७२।
देशी भाषा के अनेक महत्त्वपूर्ण शब्द इस साहित्य में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं, जिनका भाषाविज्ञान की दृष्टि से अध्ययन अत्यन्त उपयोगी है।

३. जान हर्टल : आन द लिटरेचर आफ द श्वेताम्बर जैन्स (प्रा० सा० इ०) पृ० ३७६।

आधार बनाकर रचा गया चरित-साहित्य शोध की अनेकानेक संभावनाओं से परिपूर्ण है। अन्तः एवं बाह्य परिवेशों के आधार पर तुलनात्मक शोध की दिशा महत्त्वपूर्ण है। स्वयंभूदेव एवं पुष्पदन्त के जीवन-दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन, पुष्पदन्त एवं रइधू के काव्य-सिद्धान्तों की तुलना जैसे अन्तः तुलनात्मक शोधविषयों के साथ-साथ स्वयंभू प्रणीत रिट्ठणेमिचरिउ एवं सूरसागर की तुलना, पुष्पदन्त एवं तुलसी के काव्यादर्शों की तुलना, अपभ्रंश राम-कृष्ण काव्य एवं हिन्दी-रामकृष्ण काव्य की मूल चेतना की तुलना जैसे अनेक शोध विषय अछूते पड़े हैं। वस्तुतः अपभ्रंश की चरित्रकाव्य-परम्परा का विशद् प्रभाव आदिकाल, भक्तिकाल और रीतिकाल के हिन्दी-काव्यों पर गहरा है, अतः यहाँ अनन्त संभावनाएँ भरी पड़ी हैं। सर्वाधिक अछूती दिशा है काव्य शास्त्रीय शोध की, चूँकि संस्कृत की टूटी काव्यशास्त्रीय परम्परा को इन ग्रंथों में ही ढूंढ़ कर हिन्दी-काव्यशास्त्र का आधार खोजा जा सकता है।

अपभ्रंश के चरित-काव्यों का ध्वनि-सिद्धान्त, अलंकार-सिद्धान्त, वक्रोक्ति-सिद्धान्त एवं रस-सिद्धान्त के आधार पर विशिष्ट अनुशीलन भी शोध की सर्वथा नवीन दिशा हो सकती है। इन चरित-काव्यों में लोकतत्त्व प्रचुर परिमाण में है, अतः लोक-संकृति, लोक-विश्वास, लोक-धर्म आदि शोध-बिन्दुओं पर भी सफलतापूर्वक अनुसंधाता चल सकता है। चरित्र-चित्रण शिल्प एवं मनोविज्ञान के आधार पर भी इनका स्वतंत्र एवं तुलनात्मक शोध संभावित है।

(ग) जैन-प्रबंध काव्यधारा—प्रबन्ध-शैली जैन कवियों की विशिष्ट शैली रही है, जिसके अन्तर्गत अपभ्रंश के प्रेमाख्यानक काव्य एवं खण्डकाव्य आते हैं। अपभ्रंश की प्रेमाख्यान-परम्परा हिन्दी के मध्यकाल तक चली है और लौकिकता के समावेश से यह लोकप्रिय भी हुई। इस परम्परा में विलास और शृंगार की प्रधानता निश्चय ही जैन धर्म में व्याप्त निषेधों की प्रतिक्रिया का मनोवैज्ञानिक प्रतिफलन रहा होगा। मेरे मतानुसार यह सर्वथा अनूठा शोध विषय रहेगा कि धर्म, आचार एवं विधि-निषेधों के कठोरतम प्रतिबन्धों में शृंगार कैसे फूट पड़ा और अक्षुण्ण बना रहा।

प्रेमाख्यान-परम्परा में नायक-नायिका के निर्द्वन्द्व प्रेम-चित्रण में परम्परित काव्य-व्यापारों एवं कवि-समयों का प्रयोग विवेच्य है। अब तक भी जैन प्रेमाख्यानक काव्यों का शोधपरक मूल्यांकन शेष ही है, जहाँ मनोवैज्ञानिक अनुशीलन के साथ-साथ काव्य-रूढ़ियों के स्वरूप एवं प्रयोग जैसे शास्त्रीय विषयों पर भी उच्चस्तरीय

शोध संभव है। खण्ड-काव्य-परम्परा में संदेश रासक जैसे अनेक काव्य ग्रंथों का सम्पादन एवं विवेचनात्मक अनुशीलन प्रतीक्षित है। तुलनात्मक शोध भी यहाँ संभव है।

(घ) नाटक साहित्य—अपभ्रंश के नाटकों पर अद्यावधि दृष्टि ही नहीं गई है। जैन रचनाकारों ने नाट्य-विद्या का प्रयोग न किया हो, यह संभव नहीं। प्राकृत की विशिष्ट सट्टक परम्परा अपभ्रंश में कहाँ चली गई? हिन्दी के रंगमंच को अपभ्रंश से क्या मिला? अभिनय, वेशभूषा एवं मंच आदि की परम्परा को नियोजित किया जाना इसी शोध से संभव होगा। डॉ. हीरालाल जैन ने स्वीकार किया है कि जैन-साहित्य में नाटकों की कमी का कारण वस्तुतः जैन-मुनियों के विनोद आदि कार्यों में भाग लेने का निषेध ही है।[1] इस तथ्य के सन्दर्भ में नाटक-साहित्य का मूल्यांकन बहुत महत्त्वपूर्ण होगा।

(च) मुक्तक रचनाएँ—अपभ्रंश एवं हिन्दी के जैन-मुक्तक साहित्य में हमें जिस 'रहस्यवादी भावधारा' के दर्शन होते हैं, उसने भक्तिकाल एवं आधुनिक छायावादी काव्य को प्रभावित किया है। इस साहित्य में जैन-धर्म का तत्त्वचिन्तन भी समाहित है। कबीर, जायसी, प्रसाद, पन्त, निराला आदि की रहस्यवादी चेतना का जैन-मुक्तककारों से तुलनात्मक शोध बहुत उपादेय होगा। जोइन्दु, कनकामर, मुनि रामसिंह एवं सुप्रभाचार्य प्रभृति कवि-चिन्तकों की मुक्तक रचनाओं का 'दर्शन, नीति, समाज-चेतना' आदि के संदर्भ में अनुशीलन आवश्यक है। जैन मुक्तककारों की मूलभूत विशेषता यह है कि वे जैन-धर्म से सम्बद्ध होकर भी साधना में व्यापक एवं उदार दृष्टि रखते हैं।[2] मुक्तक-काव्य को एक दूसरी धारा उपदेशात्मक है, जिसमें दोहा छन्द में गृहस्थों के लिए उपदेश हैं। इस धारा का समाजपरक एवं धर्मपरक शोधात्मक अनुशीलन विशेष उपयोगी रहेगा। दार्शनिक आधार पर भी इस काव्य की परख जरूरी है।

(छ) स्फुट रचनाएँ—अपभ्रंश के साहित्य भण्डारों में स्फुट रचनाओं की भरमार है। स्तुति, स्तोत्र, पूजा-काव्य से लेकर भावना, कुलक, फागु, रास, छप्पय और विवाहलु आदि के रूप में और चर्यागीत, चर्यापद आदि रूपों में यह साहित्य

---

१. डा० हीरालाल जैनः भारतीय संस्कृति के विकास में जैन-धर्म का योगदान, पृ० १७९।

२. डा० रामसिंह तोमर : प्राकृत एवं अपभ्रंश साहित्य, पृ० ७०।

उपलब्ध है। इस संपूर्ण साहित्य का काव्यशास्त्रीय, विशेषतः 'छन्द-शास्त्र एवं अलंकार विधान' की दृष्टि से और भाषा-शास्त्रीय, विशेषतः शैली-विज्ञान विषयक अनुशीलन महत्त्वपूर्ण होगा। महाकवि तुलसी की 'पार्वती मंगल एवं जानकी-मंगल जैसी रचनाओं का जैन रचनाकारों की 'विवाहलु' रचनाओं से क्या सम्बन्ध है? आदिकालीन 'रासो काव्य परम्परा' का विकास खोजा जाना इसी आधार पर संभव है। इन रचनाओं के शोधपरक अनुशीलन से लोक-शैली की परम्परा ज्ञात हो सकेगी। इन रचनाओं में प्रयुक्त लोक 'शब्दावली का भाषाशास्त्रीय अनुसंधान' सर्वथा अछूती दिशा सिद्ध होगी।

(ज) व्याकरण एवं छन्दशास्त्र से सम्बद्ध साहित्य—व्याकरणशास्त्र के विकास की छिन्न-भिन्न शृंखलाओं को जोड़ने के लिए 'जैन-व्याकरणशास्त्र' का अनुसंधान भले ही कष्टसाध्य, समयसाध्य एवं धनसाध्य है, लेकिन है अनिवार्य ही। जैन-साहित्य मूलतः जनभाषा में रचा गया और जब बहुत सा साहित्य निर्मित ही हो गया होगा, तो स्वभावतः नाना प्रयोगों तथा शब्दरूपों को अनुशासित करने के लिए व्याकरण-शास्त्र की आवश्यकता हुई होगी।[1] अपभ्रंश-वैयाकरणों की व्याकरण-कृतियों का 'कालक्रमानुसार शोध' आज की आवश्यकता है। हेमचन्द्राचार्य के 'शब्दानुशासन' में भाषा के तत्त्वों का विवेचन जैन-व्याकरण की सुपुष्ट परम्परा का द्योतक है। जैन-विचारकों का ध्यान छन्दशास्त्र एवं कोशविज्ञान पर भी गया है, फलतः छन्दशास्त्र की सुदीर्घ परम्परा अपभ्रंश में उपलब्ध है, जिसने आदिकाल, भक्तिकाल एवं रीतिकाल को प्रभावित किया था। स्वयंभू कृत 'स्वयंभू छन्द' जैसे अनेक ग्रन्थ सम्पादन एवं विवेचन की अपेक्षा रखते हैं। कोश-विज्ञान को अत्याधुनिक दिशा मानने वालों को अपभ्रंश की 'कोश-परम्परा' का ज्ञान कराना अनुसंधाताओं का दायित्व है।

जैन-विद्या से संबद्ध अपभ्रंश एवं हिन्दी के जैन-साहित्य में शोध की व्यापक संभावनाएँ प्रत्येक क्षेत्र में परिव्याप्त हैं और विश्व की शोधप्रज्ञा के लिए यह खुला आमंत्रण बनकर प्रस्तुत है। इस साहित्य के शोध से जैन-धर्म, दर्शन, संस्कृति, कला, समाज, राजनीति एवं अन्यान्य क्षेत्रों में नवीन तथ्यों के उद्घाटन की संभावना से किसे इन्कार हो सकता है।

●

---

१. डॉ० हीरालाल जैन : भारतीय संस्कृति के विकास म जैन-धर्म का योगदान, पृ० १८१।

परिशिष्ट १

प्राकृत एवं जैनागम विभाग

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्राकृत एवं जैनागम विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के श्रमणविद्या संकाय में एक स्वतंत्र विभाग है। १९५८ में इस विश्वविद्यालय की स्थापना के समय से ही विश्वविद्यालय ने प्राकृत का शिक्षण एवं परीक्षा प्रारम्भ की। प्राकृत के स्वतन्त्र अध्यापक के अभाव में जैनदर्शन के साथ इसका सहयोजन किया गया। उत्तर प्रदेश विश्वविद्यालय अधिनियमों के अनुसार २६, दिसम्बर, १९७८ से प्रवृत्त परिनियमावली के अनुरूप विश्वविद्यालय के विभागों का संकायों के रूप में जब पुनर्गठन हुआ तो उसके अन्तर्गत प्राकृत एवं जैनागम विभाग को स्वतन्त्र विभाग का रूप प्रदान किया गया। २१ जुलाई १९७९ को डॉ. गोकुलचन्द्र जैन, आचार्य, एम. ए., पी-एच. डी. द्वारा कार्यभार ग्रहण करने के साथ १९७९-८० शिक्षा सत्र से—'प्राकृत एवं जैनागम विभाग' का विधिवत् शुभारम्भ हुआ।

विभागीय समितियाँ

परिनियमावली के अनुसार विभाग की तीन समितियाँ हैं—१. विभागीय समिति, २. अध्ययन बोर्ड, ३. अनुसन्धानोपाधि समिति। उक्त समितियों के अतिरिक्त विभागाध्यक्ष, संकायबोर्ड, विद्यापरिषद्, कार्यपरिषद् तथा सभा का पदेन और वरीयताक्रम में सदस्य होता है।

पाठ्यक्रम और परीक्षाएँ

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय द्वारा प्राकृत का पूर्व स्नातक से स्नातकोत्तर परीक्षा तक का निम्नाङ्कित पाठ्यक्रम संचालित है—

पाठ्यक्रम	परीक्षा	अवधि
१. पूर्वस्नातक	मध्यमा	चार वर्षीय
२. स्नातक	शास्त्री	द्विवर्षीय

३. स्नातकोत्तर	आचार्य	त्रिवर्षीय
४. डिप्लोमा	प्रमाणपत्रीय	एकवर्षीय

प्राकृत के उक्त पाठ्यक्रमों में से शास्त्री, आचार्य और स्नातकोत्तर प्रमाणपत्रीय शिक्षण की व्यवस्था विश्वविद्यायीय विभाग में है। मध्यमा स्तर का शिक्षण सम्बद्ध विद्यालयों-महाविद्यालयों में होता है। आचार्य स्तर पर प्राकृत की विभिन्न शाखाओं के चार वर्ग बनाये गये हैं—

१. अर्धमागधी प्राकृतागम, २. शौरसेनी प्राकृतागम, ३. महाराष्ट्री प्राकृत तथा अपभ्रंश साहित्य। ४. प्राकृतागम एवं पाली त्रिपिटक।

अनुसन्धानोपाधियाँ

विश्वविद्यालय में प्राकृत एवं जैनविद्या में अनुसन्धानोपाधि की निम्नप्रकार व्यवस्था है—

१. पीएच. डी. स्तरीय	विद्यावारिधि
२. डी. लिट् स्तरीय	वाचस्पति
३. एम. फिल स्तरीय	विशिष्टाचार्य (पाठ्यक्रम विचाराधीन है)

उक्त अनुसन्धानोपाधि के लिए विश्वविद्यालय के सम्बद्ध अध्यादेशों के अनुसार पंजीकरण और निर्देशन की व्यवस्था है। नियमानुसार निःशुल्क छात्रावास, पुस्तकालय तथा शोध छात्रवृत्तियाँ भी प्रदेय हैं।

विभागीय पुस्तकालय

विभाग के प्रारम्भ होते ही विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के सहयोग से विभागीय पुस्तकालय आरम्भ किया गया है। पुस्तकालय में अभी लगभग २५ हजार रुपये मूल्य के ग्रन्थ क्रय किये गये हैं।

प्राकृत-जैनविद्या ग्रन्थमाला

विश्वविद्यालय में प्राच्य ग्रन्थों के प्रकाशन के लिए विभिन्न ग्रन्थमालायें हैं। प्राकृत एवं जैनागम विभाग के प्रस्ताव पर विश्वविद्यालय ने "प्राकृत-जैनविद्या-ग्रन्थमाला" नाम से एक ग्रन्थमाला प्रारम्भ कर दी है। इस ग्रन्थमाला में 'परमागमसारो' नामक प्राकृत ग्रन्थ के प्रकाशन के साथ इस ग्रन्थमाला का श्रीगणेश हुआ। श्रुतमुनि-विरचित यह ग्रन्थ इसके पूर्व सर्वथा अप्रकाशित था। इसी ग्रन्थमाला में दूसरा प्राकृत

ग्रन्थ "तच्चवियारो" प्रकाशित हुआ है। प्राचीन पाण्डुलिपियों के आधार पर दोनों ग्रन्थों का सम्पादन डॉ. गोकुलचन्द्र जैन ने किया है।

विकास योजनाएँ

विभाग में विकास की निम्नलिखित योजनायें परिकल्पित हैं—

१. प्राकृत और जैनविद्या के प्राचीन ग्रन्थ भण्डारों का सर्वेक्षण और दुर्लभ ग्रन्थों की माइक्रोफिल्म का संग्रह।

२. प्राकृत के प्राचीन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का योजनाबद्ध समालोचनात्मक सम्पादन एवं प्रकाशन।

३. अन्तरशास्त्रीय अनुसन्धान की अल्पकालिक तथा दीर्घकालिक योजनायें।

४. प्राकृत के शिक्षक तैयार करने के लिए समरस्कूल, वर्कशाप, अल्पकालीन उच्च अध्ययनसत्र आदि का आयोजन।

५. सम्बद्ध महाविद्यालयों में प्राकृत एवं जैनविद्या के शिक्षण की व्यवस्था के लिए शैक्षणिक यात्राएँ तथा अन्य कार्यक्रम।



परिशिष्ट २

जैनविद्या एवं प्राकृत : राष्ट्रीय संगोष्ठी १९८१

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के आर्थिक सहयोग से सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के प्राकृत एवं जैनागम विभाग द्वारा मार्च १९८४ में दिनांक १४ से १६ तक राष्ट्रीय स्तर पर त्रिदिवसीय संगोष्ठी का आयोजन किया गया। इसमें देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों तथा उच्च शिक्षासंस्थानों के ६४ विद्वान् सम्मिलित हुए। २१ विद्वान् श्रोता के रूप में उपस्थित रहे। गोष्ठी में जैनविद्या और प्राकृत के अवदान को अभिव्यक्त करने वाले ५६ निबन्ध प्रस्तुत हुए।

निबन्धों को पांच वर्गों में विभाजित किया गया था -१. भारतीय संस्कृति एवं श्रमणपरम्परा। २. जैनकला, इतिहास, संस्कृति और पुरातत्व। ३. प्राकृत, भारतीय भाषाएँ और साहित्य। ४. धार्मिक एवं दार्शनिक चिन्तन। ५. जैनविद्या : अन्तरशास्त्रीय अध्ययन।

गोष्ठी सात सत्रों में सम्पन्न हुई। छह सत्रों में निबन्ध पाठ तथा एक सत्र में 'भारतीय विश्वविद्यालयों में प्राकृत एवं जैनविद्या का अध्ययन' विषय पर परिचर्चा (सिम्पोजियम) का आयोजन किया गया।

शुभारम्भ—

विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलपति आचार्य बदरीनाथ शुक्ल ने १४ मार्च १९८१ को प्रातः १० बजे संगोष्ठी का शुभारम्भ किया। छान्दस, पाली, तिब्बती, प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश मंगलाचरण के उपरान्त गोष्ठी के संयोजक-निदेशक, प्राकृत एवं जैनागम विभागाध्यक्ष डॉ. गोकुलचन्द्र जैन ने अपने प्रारम्भिक वक्तव्य में गोष्ठी की पृष्ठभूमि को बताते हुए समागत विद्वानों का स्वागत किया। कुलपति महोदय ने अपने शुभारम्भ भाषण में भारतीय संस्कृति की मूल प्रेरणा भाव, भाषा और क्रिया में सामंजस्य को बताया और कहा कि हमें सामयिक समस्याओं के परिवेश का ध्यान रखते हुए मानव मात्र के कल्याण का मार्ग खोजना चाहिए।

इस सत्र में भारतीय संस्कृति के विकाश में जैन श्रमणपरम्परा और प्राकृत के अवदान को विश्लेषित करते हुए पं० फूलचन्द्र शास्त्री, वाराणसी ने पारम्परिक शास्त्रीय दृष्टि, डा० विलास ए० संगवे, कोल्हापुर ने समाजवैज्ञानिक दृष्टि तथा प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय, वाराणसी ने सांस्कृतिक दृष्टि से अपने विचार प्रस्तुत किये।

द्वितीय सत्र की अध्यक्षता पटना विश्वविद्यालय में इतिहास विभाग के अध्यक्ष डा. सुरेन्द्र गोपाल ने की। इसमें जैन कला, इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विषयक निबन्ध प्रस्तुत हुए। १५ मार्च के प्रातःकालीन सत्र की अध्यक्षता कलकत्ता विश्व-विद्यालय के डॉ० सत्यरंजन बनर्जी ने की। इस गोष्ठी में प्राकृत, भारतीय भाषाएँ एवं साहित्य से सम्बद्ध निबन्ध प्रस्तुत हुए। अपराह्ण में चतुर्थ सत्र प्रारम्भ हुआ। इस गोष्ठी के पूवार्ध की अध्यक्षता जोधपुर विश्वविद्यालय में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष डॉ. दयानन्द भार्गव ने तथा उत्तरार्ध की राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर में जैन स्टडी सेन्टर के निदेशक, संस्कृत विभाग के अध्यक्ष डॉ. रामचन्द्र द्विवेदी ने की। इस गोष्ठी में धार्मिक एवं दार्शनिक चिन्तन से सम्बद्ध निबन्ध प्रस्तुत किये गये।

परिचर्चा (सिम्पोजियम)

रात्रि में ८ बजे से "भारतीय विश्वविद्यालयों में प्राकृत एवं जैनविद्या का अध्ययन" विषय पर परिचर्चा (सिम्पोजियम) का आयोजन किया गया। विषय का प्रवर्तन करते हुए डॉ. गोकुलचन्द्र जैन तथा प्रो. जगन्नाथ उपाध्याय ने परिचर्चा के आधार सूत्र प्रस्तुत किये। परिचर्चा में निम्नांकित विद्वानों ने विशेष रूप से अपने विचार व्यक्त किये —

डॉ. प्रेम सुमन जैन, अध्यक्ष, जैनविद्या एवं प्राकृत विभाग, उदयपुर विश्व-विद्यालय, उदयपुर, डॉ. नथमल टाटिया, निदेशक, जैन विश्व भारती, लाडनूँ, डॉ. नगेन्द्र प्रसाद, निदेशक, प्राकृत विद्यापीठ, वैशाली, ड़ॉ. एम डी. बसन्तराज, अध्यक्ष, जैनविद्या एवं प्राकृत विभाग, मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर, डॉ. एन. एच. साम्ताणी, हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, डॉ. विलास ए० संगवे, आनरेरी प्रोफेसर आव सोशि-योलाजी, शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर. डॉ. योगेन्द्रनाथ शर्मा, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, बी. एस. एम. पोस्ट ग्रेजुएट कालेज, रुड़की, मेरठ विश्वविद्यालय, डॉ. रामचन्द्र द्विवेदी, निदेशक, सेन्टर आव जैन स्टडीज, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, डॉ. सत्यरंजन बनर्जी, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता, डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल, निदेशक, महावीर शोध संस्थान, जयपुर। विद्वानों ने इस बात पर विशेष बल दिया

कि प्राकृत एवं जैनविद्या के शिक्षण और अनुसन्धान कार्य को सुनियोजित करने के लिए ऐसे पाठ्यक्रम तैयार किये जायें जो सम्पूर्ण भारत में लागू हो सकें, मात्र शिक्षण के माध्यम का अन्तर हो। इसी प्रकार अनुसन्धान कार्यों के लिए प्राथमिकता (प्रायोरिटि) के आधार पर विषयों की तालिकाएँ प्रकाशित की जायें। यह भी विचार व्यक्त किया गया कि उक्त कार्यों के लिए दो स्वतन्त्र वर्कशाप आयोजित किये जायें।

१६ मार्च को प्रातःकालीन सत्र के पूर्वार्द्ध की अध्यक्षता एल. डी. इन्स्टीट्यूट अहमदाबाद के पं. दलसुख मालवणिया ने तथा उत्तरार्ध की डूँगर कालेज, बीकानेर के प्राचार्य डॉ. महावीरराज गेलड़ा ने की। गोष्ठी के पूर्वार्ध में पूर्व सत्र के शेष निबन्ध तथा उत्तरार्ध में प्राकृत एवं जैनविद्या के अन्तरशास्त्रीय अध्ययन से सम्बद्ध निबन्ध प्रस्तुत हुए। अपराह्ण सत्र के पूर्वार्द्ध की अध्यक्षता दिल्ली विश्वविद्यालय में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष तथा कला संकाय के प्रमुख डॉ. सत्यव्रत शास्त्री ने की। इसमें विविध विषयक शेष निबन्ध प्रस्तुत किये गये।

समारोप

तीर्थंकर 'मासिक' के सम्पादक डॉ. नेमीचन्द्र जैन इन्दौर की अध्यक्षता में समापन सत्र सम्पन्न हुआ। डॉ. राधेश्यामधर द्विवेदी ने गोष्ठी का संक्षिप्त विवरण, प्रस्तुत किया। प्रो. रामशंकर त्रिपाठी, प्रो. जगन्नाथ उपाध्याय तथा डा. गोकुलचन्द्र जैन ने आयोजकीय प्रतिक्रिया व्यक्त की। डा० प्रेमसुमन जैन, डा. विलास संगवे, डा. एस. आर. बनर्जी तथा श्री अगरचन्द्र नाहटा ने संगोष्ठी में समागत प्रतिनिधियों की ओर से प्रतिक्रियाएँ व्यक्त की। निम्नांकित बिन्दुओं को रेखांकित किया गया—

१. यह संगोष्ठी वास्तविक अर्थों में अखिल भारतीय संगोष्ठी थी, जिसमें स्थानीय संस्थानों के साथ भारत के अनेक प्रान्तों, कर्णाटक, महाराष्ट्र, उड़ीसा, बिहार, बंगाल, राजस्थान, गुजरात, मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश तथा दिल्ली से समागत विद्वानों ने भाग लिया।

२. प्राकृत एवं जैनविद्या के क्षेत्र में यह एक **ऐतिहासिक गोष्ठी** मानी गयी जिसमें इस विषय पर पिछले बीस वर्षों में आयोजित गोष्ठियों की तुलना में सर्वाधिक विद्वान् सम्मिलित हुए।

३. विद्वानों का ध्यान इस ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुआ कि यह सर्वप्रथम अवसर था, जब परम्परागत शास्त्रीय पद्धति के विद्वान् तथा आधुनिक पद्धति के

विद्वानों की तीन पीढ़ियों के अध्येता एक साथ एक मंच पर सम्मिलित हुए। इससे प्राकृत एवं जैनविद्या के अध्ययन-अनुसन्धान की बहुआयामी सम्भावनाएँ मुखरित हुईं। इस दृष्टि से यह गोष्ठी प्राकृत एवं जैनविद्या के अध्ययन के क्षेत्र में '**मील का पत्थर**' का कार्य करेगी।

४. यह संगोष्ठी सही अर्थों में एक '**अन्तरशास्त्रीय संगोष्ठी**' मानी गयी, क्योंकि इसमें परम्परागत शास्त्रीय पद्धति, इतिहास, कला, संस्कृति, पुरातत्व, धर्म-दर्शन, भाषा और साहित्य, भाषाविज्ञान, समाजविज्ञान, मनोविज्ञान, आधुनिकविज्ञान आदि ज्ञान-विज्ञान की विविध शाखाओं के विद्वान् सम्मिलित हुए।

५. इस संगोष्ठी ने श्रमण परम्परा, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आधुनिक भारतीय भाषाएँ आदि के अध्ययन-अनुसन्धान के क्षेत्र में व्याप्त जाति धर्म और सम्प्रदायगत संकोच, भ्रम और सीमाओं के '**बेरियर**' को तोड़ा और इन विषयों के उदारतापूर्वक अध्ययन-अनुसन्धान की सम्भावनाओं को मुखरित किया।

विद्वानों की दृष्टि में भारत के प्राचीन सांस्कृतिक नगर काशी के परम्परागत ऐतिहासिक विद्याकेन्द्र संस्कृत विश्वविद्यालय में प्राकृत एवं जैनविद्या पर इस प्रकार की राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन प्राच्य विद्याओं तथा भारत की सांस्कृतिक सम्पदा का आधुनिक विद्याओं और नये सन्दर्भों में अध्ययन-अनुसन्धान के क्षेत्र में एक अद्वितीय ऐतिहासिक घटना है, जिससे भारतीय मनीषा को नयी दृष्टि और प्रेरणा प्राप्त होगी।

आयोजकों तथा समागत प्रतिनिधियों ने परिसंवाद गोष्ठी के सफलतापूर्वक आयोजन के लिए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के कुलपति, विभिन्न विभागों, अध्यापकों, छात्रों एवं कर्मचारियों, स्थानीय संस्थाओं के प्रति आभार व्यक्त करते हुए गोष्ठी में निष्कर्ष रूप में सर्वसम्मति से निम्नांकित संस्तुतियाँ प्रस्तुत स्वीकृत की ---

संस्तुतियाँ

प्राकृत एवं जैनागम विभाग, श्रमणविद्यासंकाय, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी द्वारा दिनांक १४ से १६ मार्च, १९८१ तक आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में सम्मिलित सभी विद्वान् प्रतिनिधि विश्वविद्यालय अनुदान आयोग दिल्ली एवं इस विश्वविद्यालय के अधिकारियों का आभार मानते हैं, जिनके सक्रिय सहयोग से यह गोष्ठी सफलता पूर्वक सम्पन्न हुई। संगोष्ठी में समागत प्रतिनिधि संगोष्ठी की

निष्पत्ति के रूप में निम्नांकित संस्तुतियाँ प्रस्तुत करते हैं, जिनको क्रियान्वित किया जाना चाहिए।

१. भारत के जिन विश्वविद्यालयों में प्राकृत एवं जैनविद्या के अध्ययन के विभाग हैं, उन विभागों को विश्वविद्यालय अनुदान आयोग प्राध्यापकों एवं अनुसन्धान सुविधाओं के लिए आवश्यक अनुदान देकर समृद्ध करे, जिससे प्राकृत एवं जैनविद्या के स्वतन्त्र अध्ययन को विकसित किया जा सके।

२. किसी एक विश्वविद्यालय में, जहाँ पारम्परिक पद्धति से प्राकृत एवं जैन-शास्त्र के शिक्षण आदि की व्यवस्था हो, वहाँ प्राकृत के अध्ययन-अनुसन्धान को गति प्रदान करने के लिए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग 'इन्स्टीट्यूट आफ प्राकृत स्टडीज' की स्थापना करे, जिसमें दर्शन, धर्म, तर्कशास्त्र, जैन मनोविज्ञान, प्राकृत-अपभ्रंश भाषा आदि विषयों के लिए स्वतन्त्र विभाग हों।

३. प्राकृत शिक्षण के लिए सभी स्तरों के पाठ्यक्रम में एकरूपता लाने हेतु विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के सहयोग से 'प्राकृत प्रशिक्षण वर्कशाप' आयोजित किया जाये।

४. संगोष्ठी में समागत प्रतिनिधि विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के इस निर्णय के लिए भी धन्यवाद ज्ञापन करते हैं कि आयोग ने 'प्राकृत स्टडीज' के लिए एक उपसमिति गठित की है एवं आवश्यक अनुदान राशि भी स्वीकृत की है। आवश्यकतानुसार इस उपसमिति के गठन, साधन एवं कार्यक्षेत्र में यथासमय सम्बर्द्धन किया जाये।

५. प्राकृत, पाली, अपभ्रंश एवं आधुनिक भाषाओं के साथ उनके सम्बन्ध स्पष्ट कर जनसामान्य को इन भाषाओं की जानकारी देने एवं इनके साहित्य और संस्कृति के तुलनात्मक अध्ययन के लिए देश की राजधानी में 'राष्ट्रीय प्राकृत अकादमी' की स्थापना केन्द्र सरकार की ओर से की जाये।

परिशिष्ट ३

संगोष्ठी एवं परिचर्चा में सम्मिलित विद्वान्

श्री अगरचन्द नाहटा
नाहटों की गवाड़
बीकानेर, राजस्थान (स्व०)

डा० उदयचन्द्र जैन
जैनविद्या एवं प्राकृत विभाग
सुखाड़िया विश्वविद्यालय,
उदयपुर, राजस्थान

डा० उमानाथ श्रीवास्तव
इतिहास विभाग
पटना विश्वविद्यालय, पटना, बिहार

डा० कमलेशकुमार जैन
जैन-बौद्धदर्शन विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी, उत्तर प्रदेश

डा० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल
श्री महावीर ग्रन्थ अकादमी
८६७ अमृत कलश, बरकत नगर
जयपुर, राजस्थान

प्रो० कृष्णदत्त बाजपेयी
४-.५, पद्माकर नगर, सागर, मध्य प्रदेश

प्रो० कृष्णनाथ
अर्थशास्त्र विभाग
काशी विद्यापीठ, वाराणसी, उत्तर प्रदेश

डा० के० सी० आचार्य
संस्कृत विभाग
उत्कल विश्वविद्यालय, भुवनेश्वर, उड़ीसा

डा० कोमलचन्द्र जैन
पाली एवं बौद्ध अध्ययन विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी, उत्तर प्रदेश

डा० गोकुलचन्द्र जैन
अध्यक्ष, प्राकृत एवं जैनागम विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी, उत्तर प्रदेश

डा० ज्योतिप्रसाद जैन
ज्योति निकुञ्ज, चारबाग, लखनऊ, उ० प्र०

प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय
अध्यक्ष, श्रमणविद्या संकाय
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी, उत्तर प्रदेश

डॉ० जयनारायण पाण्डेय
प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं
पुरातत्व विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश

डॉ० दयानन्द भार्गव
संस्कृत विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय
जोधपुर, राजस्थान

टिप्पणी—यथाशक्य नवीनतम पता दिया गया है।

पं० दलसुख मालवणिया
एल० डी० इन्स्टीटयूट आव इण्डोलाजी
अहमदाबाद, गुजरात

डॉ० दामोदर शास्त्री
लालबहादुर शास्त्री संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली

डॉ० दीनबन्धु पाण्डेय
प्राचार्य, डिग्री कालेज, बलिया, उत्तर प्रदेश

डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन
हिन्दी विभाग, इन्दौर विश्वविद्यालय
इन्दौर, मध्य प्रदेश

डॉ० दे० स० त्रिवेद
प्राकृत विद्यापीठ, वैशाली, बिहार

डॉ० देवी प्रसाद मिश्र
२० डी, बेली रोड, इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश

डा० नन्दलाल जैन
शासकीय महाविद्यालय, रीवाँ, मध्य प्रदेश

डा० नथमल टाटिया
जैन विश्वभारती, लाडनूँ, राजस्थान

डा० एन० एच० साम्तानी
बुद्ध कुटीर, सारनाथ, वाराणसी

डा० नरेन्द्रकुमार जैन
संस्कृत विभाग, शासकीय महाविद्यालय
जखनी, उत्तर प्रदेश

डा० नागेन्द्र प्रसाद
प्राकृत विद्यापीठ, वैशाली, बिहार

डा० नेमीचन्द्र जैन
६५, पत्रकार कालोनी, कनाड़िया मार्ग,
इन्दौर, मध्य प्रदेश

डा० पुरुषोतम पाठक
अध्यक्ष, भारतीय संस्कृति एवं संस्कृत प्रमाण-पत्रीय विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्व-विद्यालय, वाराणसी, उत्तर प्रदेश

डा० प्रेमसुमन जैन
अध्यक्ष, जैनविद्या एवं प्राकृत विभाग
सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर, राजस्थान

डा० फूलचन्द्र जैन 'प्रेमी'
अध्यक्ष, जैनदर्शन विभाग, सम्पूर्णानन्द
संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, उ० प्र०

पं० फूलचन्द्र शास्त्री
श्री गणेश वर्णी शोध संस्थान, सन्मति
जैन निकेतन, वाराणसी, उत्तर प्रदेश

आचार्य बदरीनाथ शुक्ल
कुलपति, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी, उत्तर प्रदेश (स्व०)

डा० बुद्धिबल्लभ पाठक
अध्यक्ष, भारतीय संस्कृति एवं संस्कृत प्र० प०
विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी, उत्तर प्रदेश (अव० प्राप्त)

डा० ब्रह्मदेव नारायण शर्मा
पाली एवं थेरवाद विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत
विश्वविद्यालय, वाराणसी, उत्तर प्रदेश

डा० बी० के० खडबडी
जैनविद्या विभाग, करनाटक विश्वविद्यालय
धारवाड़, करनाटक (अव० प्राप्त)

डा० भागचन्द्र जैन
अध्यक्ष, पाली एवं प्राकृत विभाग, नागपुर
विश्वविद्यालय, नागपुर, महाराष्ट्र

डा० एम० डी० बसन्तराज
अध्यक्ष, जैनविद्या एवं प्राकृत विभाग
मैसूर विश्वविद्यालय,
मैसूर, करनाटक (अव० प्राप्त)

डा० महाप्रभुलाल गोस्वामी
अध्यक्ष, तुलनात्मक धर्म-दर्शन विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी, उ० प्र० (अव० प्राप्त)

डा० महावीरराज गेलड़ा
निदेशक, कालेज एजुकेशन, जयपुर, राजस्थान

डा० महावीर सिंह मुड़िया
सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर, राजस्थान

डा० महेश तिवारी
बौद्ध अध्ययन विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

डा० मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी
कला–इतिहास विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी, उत्तर प्रदेश

डा० मंगला
दर्शन विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी, उत्तर प्रदेश

डा० योगेन्द्रनाथ शर्मा
प्राचार्य, डी० एस० एन० कालेज,
उन्नाव, उत्तर प्रदेश

श्री आर० वी० नारायण
पुरातत्त्व विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी, उत्तर प्रदेश (अव० प्राप्त)

प्रो० रमेश तिवारी
समाजशास्त्र विभाग, काशी विद्यापीठ,
वाराणसी, उत्तर प्रदेश

प्रो० रघुनाथ गिरि
अध्यक्ष, दर्शन विभाग, काशी विद्यापीठ,
वाराणसी, उत्तर प्रदेश

डा० राजीवरंजन सिंह
प्राध्यापक, साहित्य विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी, उत्तर प्रदेश

डा० राधेश्यामधर द्विवेदी
अध्यक्ष, तुलनात्मक धर्म-दर्शन विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी, उत्तर प्रदेश

डा० रामचन्द्र द्विवेदी
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, राजस्थान

प्रो० रामशंकर त्रिपाठी
अध्यक्ष, बौद्ध दर्शन विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी, उत्तर प्रदेश

डा० रामजी सिंह
अध्यक्ष, गान्धी अध्ययन विभाग
भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर, बिहार

प्रो० लक्ष्मीचन्द्र जैन
प्राचार्य, शासकीय महाविद्यालय
सीहोर, मध्य प्रदेश (अव० प्राप्त)

प्रो० विद्यानिवास मिश्र
कुलपति, काशी विद्यापीठ, वाराणसी, उ०प्र०

डा० विद्याधर जोहरापुरकर
महाकौशल महाविद्यालय, जबलपुर, म० प्र०

प्रो० विलास ए० संघवे
अध्यक्ष, समाज शास्त्र विभाग
शिवाजी विश्वविद्यालय
कोल्हापुर, महाराष्ट्र (अव० प्राप्त)

डा० वीरेन्द्रकुमार जैन
महाराजा कालेज, छतरपुर, मध्य प्रदेश

डा० शशिकान्त जैन
ज्योति निकुञ्ज, चारबाग, लखनऊ, उ० प्र०

डा० शारदा चतुर्वेदी
भाषा विज्ञान विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी, उत्तर प्रदेश

डा० शुभचन्द्र
जैनविद्या एवं प्राकृत विभाग
मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर, करनाटक

डा० शीतलचन्द्र जैन
प्राचार्य, आचार्य संस्कृत कालेज,
जयपुर, राजस्थान

डा० सनतकुमार जैन
प्राध्यापक, आचार्य संस्कृत कालेज,
जयपुर, राजस्थान

डा० सत्यस्वरूप मिश्र
अध्यक्ष, भाषा विज्ञान विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी, उत्तर प्रदेश

प्रो० समदोन् रिम्पोछे
केन्द्रीय तिब्बती उच्च शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी

डा० एस० आर० बनर्जी
प्राकृत विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय
कलकत्ता, पश्चिम बंगाल

डा० एस० एम० शाह
संस्कृत उच्चानुशीलन केन्द्र
पूना विश्वविद्यालय, पूना, महाराष्ट्र

डा० (श्रीमती) सुनीता जैन
जैन बाला विश्राम, आरा, बिहार

डा० सुरेन्द्र गोपाल
अध्यक्ष, इतिहास विभाग
पटना विश्वविद्यालय, पटना, बिहार

डा० (श्रीमती) हरिप्रिया मिश्रा
भाषा विज्ञान विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी, उत्तर प्रदेश

डा० हरिहर सिंह
काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी, उ०प्र०

●

SAMPURNANAND SANSKRIT VISHVAVIDYALAYA

A NEW PUBLICATION SERIES

PARISAṂVĀDA

Parisaṃvāda forms a series of Research Journals published with the particular aim for bringing to light the important research papers presented and delibratians made in Seminars, Symposia, Conferences etc. organised at the University and attended by eminent scholars and experts of different branches of ancient learning for exploring and analysing the main theme in relevance to recent researches in Humanities and Social Sciences. The contributions include—Sanskrit, Prakrit, Pali, Prakrit, Hindi and English papers. The Journal is edited by the Director of the Seminar or one of the Faculty members under a Board of Editors.

Vol. 1. बौद्ध एवं अन्य भारतीय योग-साधना

Bauddha evaṃ anya Bhāratīya Yoga-Sādhanā,

The volume consists of research papers read at a U. G. C. Seminar. They deal with the *Yoga* traditions of India in general and Buddhist *Yoga* in particular. Beginning from the *Sādhanā* of Gautama the Buddha, the papers cover a wide area of *Mahāyāna*, *Vajrayāna* and other schools of Buddhist *Yoga* developed in India and abroad, and also various *Yoga* systems of Indian traditions including Psychology and Physical Sciences. Edited by Ramshankar Tripathi, First edition 1981, Royal size pp. 376.

Price Rs. 32.00

Vol. 2-3 भारतीय चिन्तन की परम्परा में नवीन सम्भावनाएँ

Bhāratīya Cintana kī Paramparā meṃ Navīna Saṃbhāvanāen.

Parisaṃvāda 2 and 3 entitled as above are devided into two volumes Vol. 2 consists of research papers presented at a U. G. C. Seminar on 'Individual, Society and their relations' and also papers of a loeal Seminar on 'Social equality in Indian Thoughts'.

Vol. 3 consists of papers presented at and delibrations of three local Seminars viz. 1) Philosophy of Gandhi, 2) New divisions of Indian Philosophies, and 3) Possibilities of new Philosophies in Indian Thoughts. Edited by Radheshyamdhar Dvivedi.

Vol. 2, First edition 1981, pp. 360. Price Rs. 23.00

Vol. 3, First edition 1983, pp. 339 Price Rs. 46.00

Available at

SALES DEPARTMENT

SAMPURNANAND SANSKRIT VISHVAVIDYALAYA

VARANASI 221002